Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुदत्त

ब्रह्मसूत्र

(वेदान्त दर्शन)

सरल सुबोध भाषा भाष्य

1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

167948
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मसूत्र

खण्ड एक

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317273, 8869821468
Web.: aarshsahitya.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गुरुदत्त की वेद, श्रीमद्भगवद्गीता, दर्शन शास्त्रों व उपनिषदों पर रचनाएं

वेद मन्त्रों के देवता
वेद और वैदिक काल
वेदों में सोम
वेदों में इन्द्र
विश्वेदेवा
सायंस और वेद
अद्वैत मीमांसा
विज्ञान और विज्ञान
सृष्टि रचना
वेद प्रवेशिका
यजुर्वेद और गृहस्थ धर्म
हमारी सांस्कृतिक धरोहर
ईश केन् कठ उपनिषद्
तैत्तिरीय उपनिषद्
प्रश्न ऐत्तरेय उपनिषद्
मुण्डक माण्डूक्य उपनिषद्
श्रीमद्भगवद्गीता (भाष्य)
श्रीमद्भगवद्गीता (अध्ययन)
सांख्य दर्शन
न्याय दर्शन
ब्रह्मसूत्र -1 (वेदान्त दर्शन)
ब्रह्मसूत्र -2 (वेदान्त दर्शन)

चिकित्सा, ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, धर्म, दर्शन, संगीत, कम्प्यूटर, ओशो
बाल साहित्य तथा हिन्दी साहित्य
www.hindisahityasadan.com
हिन्दी साहित्य सदन
2 बी डी चैम्बर्स,10/54 डी बी गुप्ता रोड,करोल बाग पुलीस स्टेशन के पास,नई दिल्ली-05
E-mail: indiabooks@rediffmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मसूत्र

(वेदान्त दर्शन)

सरल सुबोध भाषा भाष्य

Central Library
167948
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

खण्ड-1

प्रथम तथा द्वितीय अध्याय

081
167948

गुरुदत्त

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821468
Web.: aarshsahitya.com

हिन्दी साहित्य सदन
www.hindisahityasadan.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
089.9143
GUR-B

© ईशान दत्त

पुस्तक मूल्य 350-

प्रकाशक **हिन्दी साहित्य सदन**

2 बी. डी. चैम्बर्स , 10/54 देश बन्धु गुप्ता रोड,

करोल बाग पुलिस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-110005

ई–मेल indiabooks@rediffmail.com

hindisahityasadan@gmail.com

Website **www.hindisahityasadan.com**

दूरभाष 9213527666

संस्करण 2018

मुद्रक संजीव आफसैट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक द्वारा आभार

वर्तमान भाष्य की आवश्यकता सबसे प्रथम मुझे स्वयं ही अनुभव हुई थी। प्रायः सब भाष्य, जो हस्तगत हुए, वे अति क्लिष्ट भाषा में थे। विचार आया कि सरल, सुबोध भाषा में भाष्य लिखा जाये। इस विचार को पूर्ण करने का ही यह एक प्रयास है।

इस भाष्य के संशोधन और संस्कृत पाठों के अनुवाद में सहायता करने में श्री अशोकवर्धन (सम्पादक, शाश्वत वाणी), श्री चिरंजीव शास्त्री, श्री राजपाल शास्त्री एवं पण्डित दीनानाथ सिद्धान्तालंकार की बहुत सहायता प्राप्त होती रही है। मैं इन विद्वानों का आभारी हूँ।

सबसे अधिक आभार उन ऋषि-महर्षियों के प्रति है जिन्होंने वेद-उपनिषदादि ग्रन्थ रचे और जिनके ज्ञान के बिना इस भाष्य के विषय में कुछ भी लिखा नहीं जा सकता था।

अन्त में मैं महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित किये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने वेदों की महिमा प्रकाशित करने का एक विपुल प्रयास किया था। मुख्यतः उनके प्रतिपादित सिद्धान्तों से प्रेरित होकर ही इस भाष्य को करने में मैं योग्य हुआ हूँ।

लेखक का विशेष निवेदन

इस भाष्य में कुछ एक भाष्यकारों का ही उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम अन्य भाष्यकारों को आदरणीय नहीं समझते। वास्तविक बात यह है कि हमने अपने भाष्य में अन्य किसी भाष्यकार के भाष्य को पथ-प्रदर्शक नहीं माना। इस भाष्य में हमने अपने दृष्टिकोण से ही सबकुछ लिखा है। जिन भाष्यों का उल्लेख किया है वह केवल अपने पक्ष को सिद्ध करने की दृष्टि से ही है। जहाँ उनसे सहमति है अथवा जहाँ सहमति नहीं है, उसका उल्लेख इसी प्रयोजन से है जिससे अपने भाष्य के युक्तियुक्त होने को सिद्ध किया जा सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायः सब वैदिक दर्शन शास्त्र मीमांसा (logic) के ग्रन्थ हैं। दर्शन शास्त्र और उपनिषदादि ग्रन्थों में अन्तर यह है कि जहाँ दर्शन शास्त्र वेदों को प्रमाण न मानने वालों के लिए कहे गये हैं, वहाँ उपनिषदादि ग्रन्थ वेदों पर श्रद्धा रखने वालों के लिए लिखे गये हैं। उपनिषदों में जहाँ वाद-विवाद है, वहाँ भी वक्तव्य मात्र ही हैं। युक्ति नहीं की गयी है।

अतः दर्शन शास्त्रों पर भाष्य केवल युक्ति के आधार पर ही होना चाहिए। वेद-शास्त्रादि का प्रमाण उस युक्ति को सिद्ध अथवा स्पष्ट करने के लिए नहीं, प्रत्युत युक्ति से सिद्ध बात को वेदादि शास्त्रों में दिखाकर, उनकी महिमा को बढ़ाने के लिए है।

इस भाष्य में यही यत्न किया गया है कि युक्ति के आधार पर ही लिखा जाये।

स्वामी शंकराचार्य के शारीरिक भाष्य को बहुत स्थलों पर त्रुटिपूर्ण पाने के कारण हमने उनपर विशेष टिप्पणियाँ लिखी हैं। यह उनके प्रति किसी प्रकार के अनादर के भाव से नहीं है, प्रत्युत सत्य को प्रकट करने के लिए है। हम मानते हैं कि स्वामी शंकराचार्य ने अपने काल में हिन्दू समाज की भारी सेवा की थी, परन्तु वह सेवा अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा नहीं हुई थी। वह उनको 'पंचायतन पूजा-पद्धति' थी, जिसने उस समय अमरनाथ की गुफा से लेकर कन्याकुमारी तक फैले हुए हिन्दू समाज को एक सूत्र में पिरो दिया था। उनके इस कार्य के लिए हिन्दू (वैदिक) समाज उनका सदा आभारी रहेगी।

उनके अद्वैतवाद से हमारा मतभेद है और हमारा मत है कि व्यासकृत ब्रह्मसूत्र भी त्रैतवाद का ही मण्डन करता है।

अद्वैतवाद और इसके साथ प्रचार किये जाने वाले अन्य उपसिद्धान्तों से हिन्दू समाज का अकल्याण ही हुआ है। इस विषय में हम अपना मत ग्रन्थ के उपसंहार में देंगे। यहाँ तो स्वामीजी के अन्य कार्यों की प्रशंसा में उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना ही लक्ष्य है।

—गुरुदत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
१. प्रस्तावना		**९-२७**
पूर्व-कथन	...	९-११
प्रथम अध्याय का सारांश	...	१२-१४
प्रथम अध्याय प्रथम पाद का सारांश	...	१४-१७
प्रथम अध्याय द्वितीय पाद का सारांश	...	१७-१९
प्रथम अध्याय तृतीय पाद का सारांश	...	१९-२१
प्रथम अध्याय चतुर्थ पाद का सारांश	...	२१-२२
२. प्रथम अध्याय		**२९-२४२**
प्रथम पाद : परमात्मा के गुण, कार्य और धर्म	...	२९-११२
द्वितीय पाद : जीवात्मा और परमात्मा में भेद; दोनों के कार्य, कार्यक्षेत्र, गुण और धर्म	...	१२३-१६३
तृतीय पाद : परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति में भेद	...	१६४-२११
चतुर्थ पाद : प्रकृति का सामान्य विवरण और उससे परमात्मा तथा जीवात्मा की विलक्षणता	...	२१२-२४२
३. द्वितीय अध्याय		**२४३-३९१**
द्वितीय अध्याय में वर्णित विषय	...	२४३-२५२
प्रथम पाद : प्रकृति का विशेष वर्णन तथा इसका जगत् से सम्बन्ध	...	२५३-२९५
द्वितीय पाद : जगत्-रचना का वर्णन	...	२९६-३३०
तृतीय पाद : आकाशादि पंच महाभूतों का वर्णन और प्राणी की सृष्टि	...	३३१-३७२
चतुर्थ पाद : प्राण और शरीर में उसका कार्य	...	३७३-३९१
४. सूत्राणामनुक्रमणिका		**३९३-४०४**
५. प्रमाणानामनुक्रमणिका		**४०५-४१२**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ संकेत

नाम ग्रन्थ	संकेत
अथर्व वेद	अथर्व०
ईशावास्योपनिषद्	ईशा०
ऐतरेय उपनिषद्	ऐतरे०
ऋग्वेद	ऋक्०
कठोपनिषद्	कठो०
छान्दोग्य उपनिषद्	छा०
तैतिरीय उपनिषद्	तैति०
न्याय दर्शन	न्याय०
पूर्व मीमांसा	पू० मी०
प्रश्नोपनिषद्	प्रश्न०
बृहदारण्यक उपनिषद्	बृहदा०
ब्रह्मसूत्र	ब्र० सू०
भगवद्गीता	भ० गी०
माण्डूक्योपनिषद्	माण्डू०
मुण्डकोपनिषद्	मुण्डक०
यजुर्वेद	यजु०
योग दर्शन	यो० द०
वैशेषिक दर्शन	वै० द०
श्वेताश्वतर उपनिषद्	श्वेता०
सांख्य दर्शन	सां०
साम वेद	साम०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तावना

कुछ एक आचार्यों का मत है कि भारतीय दर्शन-शास्त्रों में परस्पर विरोध है। वे यह मानते हैं कि ब्रह्म-सूत्र जिसे वेदान्त दर्शन के नाम से स्मरण किया जाता है, केवल परमात्मा को ही स्वीकार करता है। इसी प्रकार की एक किंवदन्ति यह है कि सांख्य-दर्शन परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता तथा मीमांसा दर्शन कर्म-काण्ड का दर्शन है।

कुछ एक आचार्य वेदान्त-दर्शन की उत्पत्ति उपनिषदों से मानते हैं। ये लोग समझते हैं कि उपनिषदों में वैदिक विचारधारा विकास के शिखर पर पहुँच गई है और वेदान्त सूत्र उस विचारधारा को सूत्रवत् कहने के लिए लिखे गये हैं।

इस प्रकार के अनेक भ्रमोत्पादक विचार भारतीय दर्शन-शास्त्रों के विषय में बन गये हैं। इन भ्रमोत्पादक विचारों की विवेचना करना ही हमारा उद्देश्य है। सभी भ्रमोत्पादक बातों का निराकरण तो इस स्थान पर किया नहीं जा सकता। यहाँ मुख्यत: वेदान्त-दर्शन के विषय में ही लिखा जा रहा है। हाँ, जहाँ कहीं प्रसंगवशात् अन्य दर्शनों का उल्लेख आया है वहाँ उनके विषय में भी लिख दिया गया है।

हम मानते हैं कि दर्शन-शास्त्र सत्य का दर्शन कराने वाले शास्त्र हैं। भारतीय दर्शन-शास्त्रों की मुख्य रूप में दो शाखाएँ हैं—वैदिक तथा अवैदिक।

वैदिक दर्शन-शास्त्रों की गणना में सांख्य, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त), योग और न्याय आते हैं और अवैदिक दर्शन-शास्त्रों में चार्वाक्, जैन तथा बौद्ध हैं।

वैदिक-अवैदिक दर्शन-शास्त्रों में भेद यह है कि वैदिक दर्शन-शास्त्र उन सत्य सिद्धान्तों का दर्शन कराते हैं, जो वेदानुकूल हैं और अवैदिक दर्शन-शास्त्र उन मुख्य सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का दर्शन कराने के लिए हैं जिनका मूल वेद नहीं है और जो चार्वाक, महात्मा बुद्ध तथा महात्मा महावीर के नाम से चले सम्प्रदायों में वर्णित हैं।

यहाँ दो शब्द चार्वाक के विषय में भी लिख देना उपयुक्त है। चार्वाक जड़वाद का दूसरा नाम है। यह भी एक सिद्धान्त है कि जड़ प्रकृति ही चराचर जगत् का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल कारण है और इस कारण के अतिरिक्त जगत् का कोई अन्य क नहीं है।

चार्वाकीय जिस वस्तु को जैसा देखते हैं, उसे वैसा ही मान लेते है कहा जाये कि ये उस बालक की भाँति हैं, जिसकी विचारशक्ति अभी है, तो अधिक उपयुक्त होगा।

इनका कोई शास्त्र नहीं है। कम-से-कम भारतवर्ष में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें इनके विचारों की मीमांसा प्राप्त हो।

इस पर भी इनकी विचार-मीमांसा इस प्रकार कही जा सकती है—प्रत्येक मनुष्य का बाल्यकाल होता है, जिसमें बुद्धि का विकास नहीं होता। इसी प्रकार कुछ लोग बड़े तथा प्रसिद्ध हो जाने पर भी बाल-बुद्धि देखे जाते हैं। वे जगत् को जैसा इन्द्रियों से अनुभव करते हैं, उसको वैसा ही मान लेते हैं। वे उस अनुभव की गहराई में जाने की सामर्थ्य नहीं रखते; इस कारण गहराई में जाना वे मूर्खता मानते हैं।

अन्य देशों की भाँति भारत में भी जड़वादी उत्पन्न होते रहे हैं और अपने विचार से संसार के संचालन का वर्णन करने का यत्न करते रहे हैं। तदपि ये लोग भारत में न तो ख्याति प्राप्त कर सके हैं और न ही इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को विद्वानों ने मान्यता दी है।

हमारा यह सुविचारित मत है कि चार्वाक दर्शन-शास्त्र मात्र बालकों का ही शास्त्र है। जैसे किसी बच्चे को उसके छोटे भाई के जन्म के अवसर पर उसकी दादी बता देती है कि उसका भाई दाई दे गई है और वह मान जाता है; वह यह विचार नहीं कर सकता कि दाई उसे कहाँ से लायी थी; वैसी ही बात चार्वाकीय मत वालों की है।

जहाँ तक वैदिक दर्शन-शास्त्रों का सम्बन्ध है, हमारा मत है कि वे वेद में वर्णित जगत्-सम्बन्धी जटिल समस्याओं के निरूपण के लिए लिखे गये हैं। उदाहरण के रूप में सांख्य-दर्शन में मूल-प्रकृति और उससे जगत् के बनने के विषय में लिखा है।

मीमांसा का अर्थ है विवेचना। अर्थात् जगत् के दृश्य स्वरूप में मनुष्य के व्यवहार का वृत्तान्त। पूर्व-मीमांसा को कई आचार्य कर्म-काण्ड का शास्त्र भी मानते हैं। वैसे पूर्व-मीमांसा को कर्म-काण्ड का शास्त्र कहना उचित नहीं। हम इसे इस प्रकार मानते हैं कि मनुष्य जो कुछ अपने आस-पास देखता है, उसमें अपने व्यवहार के विषय में विचार करता है। मनुष्य का ज्ञान-प्राप्ति की खोज में यह प्रथम पग है। इसी कारण इसे पूर्व-मीमांसा कहा है।

वेदान्त-दर्शन अर्थात् ब्रह्मसूत्र इस जगत् के मूल कारण की विवेचना है। वेदान्त-दर्शन जगत् के तीन मूल कारण मानता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन मूल पदार्थों से आरम्भ होकर कार्य जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन वैशेषिक-दर्शन करता है।

योग-दर्शन मुख्यतः मोक्ष प्राप्त करने की अथवा जगत् का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करने का ढंग बताता है।

न्याय-दर्शन मुख्य रूप में युक्ति करने के आधारों का वर्णन करता है।

प्रस्तुत विवेचना में हम केवल वेदान्त-दर्शन के विषय में ही लिख रहे हैं। वेदान्त-दर्शन के मूल लेखक हैं व्यास मुनि। व्यास मुनि का दूसरा नाम बादरायण भी है। यह नाम इस कारण है क्योंकि व्यास मुनि बादरी ऋषि के पुत्र थे।

यह क्या वही व्यास थे जो महाभारत ग्रन्थ के रचयिता थे अथवा कोई अन्य ? इस विषय में निश्चय से नहीं कहा जा सकता। महाभारत में एक संकेत है जिससे इस समस्या पर प्रकाश पड़ता है।

महाभारत का प्रवचन सुनते समय महाराज जनमेजय ने पूछा—पुरुष बहुत हैं अथवा एक ? इस जगत् में कौन पुरुष श्रेष्ठ है ? कौन सबका उत्पत्ति स्थान है ?

वैशम्पायन महर्षि व्यास के शिष्य थे। उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए वह कहते हैं—

> **बहवः पुरुषा लोके सांख्ययोगविचारणे।**
> **नैतदिच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह ।।**
> **बहूनां पुरुषाणां च यथैका योनिरुच्यते।**
> **तथा तं पुरुषं विश्वंव्याख्यास्यामि गुणाधिकम् ।।**
> **नमस्कृत्वा च गुरवे व्यासाय विदितात्मने।**
> **तपोयुक्ताय दान्ताय वन्द्याय परमर्षये ।।**

(महाभा० शा० ३५०—२, ३, ४)

इसका अभिप्राय है—

हे कुरुकुलोद्वह ! सांख्य और योग की विचारधारा के अनुसार इस जगत् में पुरुष अनेक हैं। ये एक पुरुष को स्वीकार नहीं करते।

बहुत से पुरुषों की एक ही से उत्पत्ति के विषय में वैशम्पायनजी ने क्या कहा है ? उन्होंने यह समझाने के लिए अपने गुरु व्यास, जो तपस्वी हैं, आत्मज्ञानी हैं, जितेन्द्रिय एवं वन्दनीय हैं को नमस्कार कर इस विश्व में विख्यात् गुणों में सर्वश्रेष्ठ पुरुष की व्याख्या की है।

इससे एक बात तो स्पष्ट ही है कि वैशम्पायन के गुरु पराशर-नन्दन व्यास थे, बादरायण व्यास नहीं। अन्यथा शिष्य उनको नमस्कार करते समय जहाँ उनके अन्य गुणों का बखान करता वहाँ वह उन्हें वेदान्त-सूत्रों के प्रणेता के रूप में भी स्मरण करता। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मसूत्र (वेदान्त-दर्शन) के प्रथम अध्याय का सारांश

वेदान्त का अर्थ है वेद (ज्ञान) के विकास की पराकाष्ठा अर्थात् 'वेदस्य (ज्ञानस्य) अन्तः इति वेदान्तः'।

परन्तु हम यह नहीं मानते कि उपनिषद् ग्रन्थ वेद (ज्ञान) की पराकाष्ठा हैं। इसके विपरीत हमारा यह मत है कि उपनिषद् ग्रन्थ मनुष्य-कृत होने के कारण उतने स्पष्ट नहीं जितने कि वेद स्वयं हैं। अतः वेदान्त का अर्थ है कि ज्ञान की पराकाष्ठा और यह मूल रूप में वेदों में ही है।

दर्शन का अर्थ है सत्य का दर्शन कराने वाला ग्रन्थ। अतः वैदिक-दर्शन, जिनमें व्यास कृत वेदान्त-दर्शन एक प्रमुख ग्रन्थ है, वेदों के कुछ एक सिद्धान्तों का दर्शन कराता है।

छहों दर्शन-शास्त्र सूत्रवत् लिखे गये हैं। सूत्र का अर्थ है कि बहुत कम शब्दों में विस्तृत अर्थ वाला पद। जैसे एक छोटे से सूत्र गुच्छ में परिमाण में बहुत लम्बा सूत्र लिपटा होता है, उसी प्रकार एक सूत्र में लम्बा-चौड़ा भाव समाहित होता है।

अतः सूत्र के अर्थों का विस्तार करने वाला विद्वान् यदि उस विषय का भली प्रकार से ज्ञाता हो तो सूत्रार्थ भली-भाँति समझे और समझाये जा सकते हैं। विषय का ज्ञाता होने के साथ-साथ सूत्रार्थ करने में युक्ति बहुत सहायक होती है।

युक्ति बुद्धि का विषय है। अतः निर्मल एवं तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा ही सूत्रार्थ समझे जा सकते हैं। ज्ञान और युक्ति दोनों साथ-साथ चलते हैं। तभी सूत्रों के अर्थ स्पष्ट होते हैं।

कुछ आचार्यों का मत है कि ब्रह्मसूत्र उपनिषद् वाक्यों के भाव को संक्षेप में वर्णन करने के लिए लिखे गये हैं। प्रयोजन यह था कि उपनिषद्-ज्ञान को स्मरण किया जा सके।

हमारा मत इससे भिन्न है। हम समझते हैं कि उपनिषद् के भाव को नहीं वरन् वैदिक-सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन करने तथा उनको युक्ति से सिद्ध करने के लिए ब्रह्मसूत्रों की रचना हुई और ये संक्षेप में इस कारण हैं जिससे कि भिन्न-भिन्न आचार्य इनकी व्याख्या करते समय, जिज्ञासु की योग्यता अनुसार, अपनी-अपनी भाषा में व्याख्या कर सकें।

इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि सूत्र के भाव में भी हेर-फेर किया जाये अथवा किया जा सकता है। सूत्रवत् बात कहने का अभिप्राय यह होता है कि उस संक्षेप में कही बात को भाष्यकार जिज्ञासु की योग्यता को देखकर, सूत्र का न्यूनाधिक विस्तार से वर्णन कर सकें।

जिन आचार्यों ने ऐसा समझा है कि ब्रह्मसूत्र उपनिषद् वाक्यों के भावों को प्रकट करने के लिए लिखे गये हैं, वे प्रत्येक सूत्र की व्याख्या में उपनिषदों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। इन भाष्यकारों के लिए प्रत्येक सूत्र से सम्बन्धित कोई-न-कोई उपनिषद् वाक्य ढूंढ़ना आवश्यक हो जाता है। भाष्यकार जब देखते हैं कि सूत्रार्थ की उपनिषद् से चयन किये गए वाक्य से संगति नहीं बैठती, तब वे सूत्रार्थ को तोड़-मरोड़ कर उपनिषद् के वाक्य के अनुकूल करने का यत्न करते हैं। इससे अनेक सूत्रों के अर्थ विकृत हो गये हैं।

उपनिषद् वाक्यों और सूत्रार्थों में समानता ढूंढ़ने वालों में स्वामी शंकराचार्य प्रमुख हैं। शंकराचार्य के परवर्ती प्रायः सब भाष्यकार स्वामी शंकराचार्य की परिपाटी का ही अनुकरण करते हैं। स्वामीजी से पहले के किसी भाष्यकार का भाष्य उपलब्ध नहीं है, इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्व काल में सूत्रार्थ स्वतन्त्रता से करने की परिपाटी थी अथवा नहीं, परन्तु शंकराचार्य जी के उपरान्त तो सब भाष्यकारों ने लगभग यही प्रथा निभायी है कि प्रत्येक सूत्र का किसी उपनिषद् वाक्य से समन्वय करने का यत्न किया जाय।

हम समझते हैं कि सूत्रार्थ करने की यह प्रथा ठीक नहीं। ब्रह्मसूत्रों को दर्शन-शास्त्र कहा गया है। दर्शन-शास्त्र का प्रयोजन किसी एक अथवा कई एक ग्रन्थों का दर्शन कराना नहीं, वरन् कुछ-एक सत्य सिद्धान्तों का युक्ति से प्रतिपादन करना है।

जो लोग किसी ग्रन्थ को स्वतःप्रमाण नहीं मानते उनके लिए भी कुछ साधन होने चाहिएँ, जिनसे उनको सत्य का दर्शन कराया जा सके। उनको इतना कह देने से कि अमुक सिद्धान्त का वेदों में अथवा उपनिषदों में वर्णन किया गया है, कुछ भी अर्थ नहीं रखता। दर्शन-शास्त्र ऐसे नास्तिकों को सत्य का दर्शन कराने के लिए लिखे गये हैं, जो न तो परमात्मा को स्वीकार करते हैं और न ही परमात्मा द्वारा प्रतिपादित ज्ञान (वेद) को। उन्हें यदि यह कहा जाय कि वेद में लिखा है कि 'ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, सर्वस्रष्टा, भर्ता और प्रलय-कर्ता है' तो वे हँस देंगे। ऐसे लोगों को यह समझाने के लिए कि 'सत्य ही कोई जगत्-कर्ता है', युक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई साधन सार्थक नहीं हो सकता।

यदि वैदिक साहित्य में दर्शन-शास्त्रों को केवलमात्र उपनिषदों का संक्षेप मान लिया जाए तो फिर उसमें कोई ऐसा ग्रन्थ रह ही नहीं जाता जिससे कि वेदादि शास्त्रों पर विश्वास न रखने वाले लोगों को सत्य का साक्षात्कार कराया जा सके।

वेदान्त-सूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि उन सूत्रों में किसी भी उपनिषद् वाक्य का उल्लेख नहीं है। उपनिषद् वाक्य तो भाष्यकारों ने अपनी सुविधा के लिए ढूंढ़ निकाले हैं। उपनिषदों के उद्धरण सूत्रार्थ के साथ संगति रखते हैं अथवा नहीं, यह उपनिषद् वाक्य के चयन करने वाले भाष्यकार के ज्ञान और उसकी योग्यता का परिचायक है। इस पर भी उन भाष्यकारों ने अनेक स्थानों पर ऐसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषद् वाक्य उद्धृत किये हैं, जिनकी संगति सूत्रार्थ के साथ बैठती ही नहीं।

हमारा मत यह है कि सूत्र स्वतन्त्र रूप से युक्ति द्वारा सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और यह संकेत भी कर देते हैं कि यही सिद्धान्त वेद-शास्त्रों में भी प्रतिपादित हैं। कहीं-कहीं अन्य ऋषियों का नाम लेकर उनके विषय में लिखा है कि वे भी वैसा ही कहते हैं, जैसा कि सूत्रकार ने लिखा है।

वेदान्त-दर्शन का यह भाष्य हमने इस दृष्टि से किया है। जिन विशेष आधारों को स्वीकार कर यह भाष्य किया गया है, वे आधार हैं—

१. दर्शन-शास्त्र सिद्धान्तों को युक्ति द्वारा सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं।

२. ब्रह्म शब्द प्रकृति, आत्मा, परमात्मा तीनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। जब सम्पूर्ण जगत्, जिसमें प्रकृति (कारण तथा कार्य-जगत्), जीवात्मा-समूह और परमात्मा सबका उल्लेख आता है, तो उसे परब्रह्म के शब्द से सम्बोधित किया जाता है।

३. सत् का अर्थ उस तत्त्व से है जो अनादि और अक्षर है।

४. वेदान्त-दर्शन में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों का वर्णन है। तीनों को अनादि, अक्षर और अव्यक्त माना है।

५. कार्य-जगत् नाम तथा रूप से क्षर माना है। मूल (प्रकृति) अक्षर है।

६. सत् तथा असत् का साथ-साथ उल्लेख आने पर उसका अभिप्राय मूल प्रकृति और कार्य-जगत् माना जाता है। सत्-असत् का अर्थ स्वरूपवान्-अस्वरूपवान् भी लिया जाता है। यही अर्थ ऋग्वेद (१०-११६-१) में भी लिया गया है। गीता (१३-११) में प्रकृति के दो रूपों को भी सत्-असत् कहा है (वैसे सत् परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों का गुण है।)।

७. चित् अर्थात् चैतन्य तत्त्व दो हैं, परमात्मा तथा जीवात्मा।

८. आनन्द केवल परमात्मा ही है। जब आत्मा परमात्मा से जुष्ट हो जाता है, तब वह भी उस आनन्द को अनुभव करता है, जो परमात्मा का गुण है।

यदि इस अध्याय में प्रतिपादित विषय को हम सरल भाषा के एक वाक्य में कहें तो वह होगा—

'वेदान्त-दर्शन' ब्रह्म का ज्ञान कराने वाला ग्रन्थ है।

प्रथम अध्याय प्रथम पाद का सारांश

यह जगत् बनता, चलता और विनष्ट होता है। संसार में किसी भी वस्तु के बनने, चलने अथवा टूटने में तीन कारण होते हैं। वे यह कि उस वस्तु का बनाने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला कोई सामर्थ्यवान्, ज्ञानवान् और महान् होना चाहिए। इसे 'निमित्त कारण' कहते हैं। बनाने वाले के साथ वह पदार्थ भी होना चाहिए जिससे कि यह जगत् बना है। अभाव से भाव नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ होना चाहिए, जिससे जगत् बना है। वह 'उपादान कारण' कहलाता है। इसी प्रकार प्रत्येक बनने वाली वस्तु के बनने का कुछ उद्देश्य होना चाहिए।

जगत् का रचयिता परमात्मा है। जिस पदार्थ से जगत् बना है, उसे प्रकृति अथवा प्रधान कहते हैं और यह जगत् जीवात्मा-समूह के लाभ के लिए बना है।

जगत् में मनुष्य प्राणी ही मन और बुद्धियुक्त है, जो ज्ञान प्राप्त कर सकता है। किन्तु मन और बुद्धि प्रकृति का अंग होने से जड़ हैं, अतः ये स्वतः ज्ञानयुक्त नहीं हो सकते। ज्ञान प्राप्त करने वाला कोई अन्य है। ज्ञान देने वाला कोई अन्य स्वयं ज्ञानवान् होना चाहिए, तभी वह ज्ञान दे सकता है। अतः सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को ज्ञान देने वाला परमात्मा ही हो सकता है।

जब सृष्टि बन गयी तो इसको स्थिर रखने वाला भी कोई अति महान् सामर्थ्यवान् होना चाहिए। अन्यथा पृथ्वी, सूर्य, नक्षत्र और ग्रह, जो निरन्तर जगत् में घूमते हैं, जड़ होने के कारण चल न सकते। इससे स्पष्ट हुआ कि संसार का समन्वय करने वाला भी परमात्मा है।

परब्रह्म में प्रकृति, आत्मा और परमात्मा तीनों की गणना होती है। तीनों तत्त्व अनादि हैं, अक्षर हैं। इन तीनों तत्त्वों में दो चेतन हैं। एक सामर्थ्यवान् चेतन है, वह परगात्मा कहलाता है। दोनों का गुण ईक्षण करना है।

ईक्षण के अर्थ हैं कर्म के आरम्भ और अन्त करने का काल, कर्म की दिशा, कर्म के काल और स्थान का निश्चय करना। ब्रह्माण्ड तो अनन्त है। इसे आकाश की संज्ञा दी गई है। इस ब्रह्माण्ड में जगत्-रचना का स्थान, काल और दिशा निश्चय करने वाला चेतन ज्ञानवान् कहलाता है जो कि परमात्मा है।

जगत् में परमात्मा के अतिरिक्त दो गौण तत्त्व हैं—जीवात्मा और प्रकृति। परमात्मा गौण तत्त्व नहीं हो सकता। अभिप्राय यह कि जगत् का बनाने वाला गौण तत्त्व नहीं अपितु मुख्य ही होगा।

जीवात्मा का सामर्थ्य सीमित है और प्रकृति तो जड़ होने से किसी भी निर्मित वस्तु का निमित्त कारण नहीं हो सकती।

ऊपर यह उल्लेख किया गया है कि जीवात्मा परमात्मा से जुष्ट होकर मोक्ष पाता है।

परमात्मा-तत्त्व हीन नहीं है। यह महान् है और हीन तत्त्वों (जीवात्मा और प्रकृति) पर शासन करता है।

यह परमात्मा अपने-आप गमन करता है अर्थात् यह अपने कर्म अपने आप ही करता है, किसी दूसरे का आश्रय नहीं लेता।

जगत् के सब पदार्थों के व्यवहार में समानता है। नक्षत्र और ग्रहों की गति में और पृथ्वी पर पदार्थों के समन्वय तथा प्राणियों के जीवन में एक-समान व्यवहार देखा जाता है। इस कारण इन सबका रचयिता एक ही है। यदि एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अधिक होते तो पदार्थों के व्यवहार में भी भिन्नता होती।

इस प्रकार परब्रह्म में चेतन-तत्त्व परमात्मा के कुछ गुणों का वर्णन किया गया है। यह जगत् का रचने वाला, पालन करने वाला और प्रलय करने वाला है। यह मनुष्यों के ज्ञान का स्रोत है। यह संसार में संयोग-वियोग करने की सामर्थ्य वाला है। यह ईक्षण करने वाला है।

ब्रह्म में अन्य दो तत्त्व हीन गुण वाले हैं। परमात्मा वैसा नहीं। यह किसी के आश्रय नहीं। स्वयं कार्य करता है और यह आनन्दमय है।

परमात्मा की उपासना अर्थात् उसके समीप बैठने से जीवात्मा भी आनन्दमय हो जाता है।

इसका शास्त्रों (वैदिक शास्त्रों) में भी वर्णन है। ब्रह्म में वर्णित दूसरे तत्त्व अर्थात् जीवात्मा और प्रकृति आनन्दमय नहीं। प्रकृति तो जड़ है। उसके आनन्दमय होने की कोई सम्भावना नहीं। साथ ही जीवात्मा भी स्वयं आनन्दमय नहीं है। वैदिक शास्त्रों में लिखा है और अनुभव से भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा स्वयं आनन्दमय नहीं है। वह जब परमात्मा से जुष्ट होता है तब ही आनन्दमय होता है।

इसके अनन्तर परमात्मा के भीतरी गुणों का वर्णन किया गया है। ये गुण जीवात्मा में नहीं हैं। इस कारण परमात्मा और जीवात्मा में भेद है।

परमात्मा का एक लक्षण आकाश है और उसका गुण है सर्वव्यापक होना। अर्थात् जितना भी स्थान विश्व में है, उस सबमें परमात्मा व्यापक है। विश्व के स्थान को अवकाश (space) भी कहा है।

परमात्मा का दूसरा लक्षण है गति। इसे प्राण कहते हैं। परमात्मा का गुण है सामर्थ्य। इसी गुण के कारण इसे सर्व-शक्तिमान् कहा है। उस शक्ति का प्रदर्शन होता है गति में।

प्रकाश परमात्मा का तीसरा लक्षण है। ज्योति के अर्थ में प्रकाश और चेतना दोनों लिए जाते हैं। परमात्मा ने सृष्टि की रचना खण्डशः की है। सर्वप्रथम देवता और पृथ्वी बनी। देवताओं में से नक्षत्र बने और पृथ्वी में से ग्रह बने।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति से यह जगत् एक क्षण में नहीं बना। मूल प्रकृति से वर्तमान कार्य-जगत् पग-पग कर बनता चला गया। इस प्रक्रिया को इस प्रकार वर्णित किया गया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

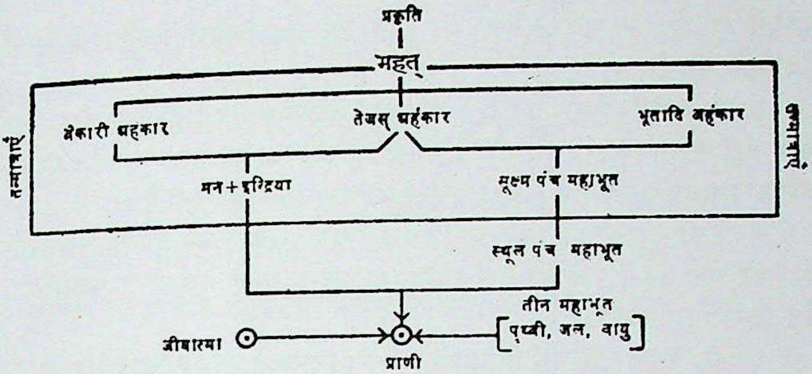

यह है प्रक्रिया मूल प्रकृति से पग-पग कर प्राणी बनने की।

यह जो कुछ ऊपर वर्णन किया गया है, वह वेदादि शास्त्रों में भी लिखा है। कहने के ढंग में अन्तर हो सकता है, भाव में अन्तर नहीं।

चर और अचर जगत् में अन्तर यह है कि ईश्वर का लक्षण प्राण एक में तो विद्यमान है किन्तु दूसरे में नहीं। प्राणवान् को प्राणी कहते हैं।

प्राण अर्थात् गति ईश्वर की है। यह कहने का प्रयोजन किसी प्रकार की आत्मश्लाघा नहीं, वरन् यह वस्तुस्थिति है। अध्यात्म-शास्त्रों में इस बात का उल्लेख भी है। वामदेवादि ऋषियों ने भी ऐसा ही कहा है।

प्राणी में भी ईश्वर के ही कारण गति है, जीवात्मा के कारण नहीं। इसके विषय में व्याख्या से आगे चलकर वर्णन किया जाएगा।

प्रथम अध्याय द्वितीय पाद का सारांश

उक्त विषय प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में वर्णित है। अब द्वितीय पाद का विषय लिखते हैं।

इस पाद में सर्वत्र प्रसिद्ध का वर्णन है। प्रसिद्ध वस्तु है यह जगत्, यह बना है।

जगत् में गुणों के होने से इसका विश्लेषण किया जा सकता है। इसमें परमात्मा है, जीवात्मा है और कार्य-जगत् है।

शरीरी के शरीर में कुछ-एक गुण नहीं होते। इससे जगत् में एक श्रेष्ठ गुणों वाले परमात्मा की सिद्धि होती है।

शब्द प्रमाण (वेदादि शास्त्र) से भी परमात्मा और शरीरी तथा शरीर का ज्ञान होता है। स्मृतियों में भी यही बात लिखी मिलती है।

यद्यपि परमात्मा आत्मा के साथ हृदय की गुहा में रहता है, तदपि दोनों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणों में भेद है। उस छोटे से स्थान पर रहते हुए भी परमात्मा आत्मा से भिन्न है। इसके गुण भिन्न हैं।

आत्मा जगत् का भोग करता है, परन्तु परमात्मा समीप होता हुआ भी उसका भोग नहीं करता। तदपि चर और अचर जगत् की आयु को वह खाता है। अर्थात् चर और अचर जगत् क्षय होते जाते हैं। यह परमात्मा कर रहा है।

हृदय की गुहा में जीवात्मा का निवास है और सर्वव्यापक होने से परमात्मा वहाँ भी उपस्थित है। आत्मा वहाँ ठहरा हुआ परमात्मा के दर्शन कर सकता है। वैसे दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

इनकी भिन्नता को इन विशेषणों से प्रकट किया जा सकता है कि परमात्मा सत्, चित् और आनन्द है। जीवात्मा केवल सत् और चित् गुण वाला है, वह आनन्दमय नहीं।

युक्ति से जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणतया जीवात्मा भविष्य के विषय में नहीं जानता। परमात्मा परम आनन्दमय है और जीवात्मा आनन्दमय नहीं। दोनों का व्यवहार देखकर परमात्मा और आत्मा में भेद किया जाता है।

जीवात्मा शरीर के सब अंगों में विद्यमान् नहीं और परमात्मा न केवल प्राणी के सब अंगों में विद्यमान् है, वरन् यह पूर्ण ब्रह्माण्ड में भी विद्यमान् है और पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण करता है।

परमात्मा प्राणी के शरीर का भीतर से नियन्त्रण करता है, इस कारण इसे अन्तर्यामी कहा है।

प्राणी के शरीर का नियन्त्रण करने वाला न तो मस्तिष्क (स्मृति यन्त्र) है और न आत्मा ही। यह परमात्मा की शक्ति है।

जीवात्मा और परमात्मा में समानता भी है। दोनों अदृश्य (अव्यक्त) अर्थात् इन्द्रियों से न जाने जा सकने वाले हैं। ये अवयव नहीं हैं।

यह समानता होने पर भी परमात्मा अन्य विशेषणों से जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न है।

परमात्मा रूप से भी जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न है। रूप का ज्ञान विशेषणों से होता है।

परमात्मा का एक स्वरूप है वैश्वानर-अग्नि। वैश्वानर-अग्नि उस शक्ति को कहते हैं जिससे कि हिरण्यगर्भ से जगत् बनता है।

वैश्वानर जो परमात्मा का स्वरूप है, वह देवता अग्नि नहीं, न ही वह भूताग्नि है। वैश्वानराग्नि हिरण्यगर्भ में सृष्टि का निर्माण करने वाली अग्नि है। दिव्य अग्नि वह है जो सूर्यादि नक्षत्रों में होती है और भूताग्नि वह है जो पृथ्वी पर हम नित्य प्रयोग में लाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैमिनी मुनि भूताग्नि और दिव्याग्नि को भी परमात्मा की अग्नि ही मानते हैं। उनके विचार से वैश्वानर ही सब अग्नियाँ हैं। बादरि ऋषि भी ऐसा ही मानते हैं। योगी लोग भी समाधि-अवस्था में ऐसा ही देखते हैं कि पूर्ण जगत् में व्याप्त अग्नि परमात्मा की ही है।

परमात्मा ही सब जगत् को अपनी शक्ति से चलाता है। परन्तु जीवात्मा ऐसा नहीं कर सकता। वह तो अपने शरीर का संचालन भी नहीं कर सकता।

प्रथम अध्याय तृतीय पाद का सारांश

द्युलोक और भूलोक का आश्रय स्थान परमात्मा है। अभिप्राय यह है कि पृथ्वी और अन्तरिक्ष परमात्मा में स्थित हैं। मुक्त जीव भी उसी परमात्मा में स्थित होते हैं।

सब कुछ परमात्मा में ही स्थित है, यह केवल अनुमान का विषय ही नहीं, वरन् प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध होता है।

जहाँ पृथ्वी, द्युलोक और मुक्त जीव परमात्मा में स्थित हैं, वहाँ प्राणी भी उसी के आश्रय हैं।

भू, द्यु और प्राणी परमात्मा के आश्रय हैं, परमात्मा इनके आश्रय नहीं। इनका वर्णन आगे आएगा। प्रकरण से देख लेना चाहिए कि कहाँ किससे अभिप्राय है। कौन किसमें स्थित है और कौन किसकी भोग-सामग्री है। कार्य-जगत् भोग-सामग्री है। जीवात्मा भोक्ता है, परमात्मा साक्षी है, स्वयं भोग नहीं करता। परमात्मा में अन्य सब-कुछ स्थित है।

परमात्मा को सबका आश्रय स्थान होने से भूमा कहा है। भूमि की भाँति यह सबका आश्रय स्थान है।

परमात्मा अक्षर है और वह आकाश के अन्त तक सबको धारण करने वाला है। वह सब पर शासन भी करता है। यदि शासन न करता होता तो सब कुछ एक-दूसरे के साथ टकरा कर टूट-फूट जाता।

अन्य अक्षर तत्त्वों का व्यवहार पृथक् है। अभिप्राय यह कि ब्रह्म में तीन अक्षर पदार्थ हैं। किन्तु परमात्मा में ही उक्त गुण रहते हैं। एक तो वह आकाश के अन्त तक सबको धारण करता है, दूसरे वह सब पर शासन करता है। अन्य दो में ये गुण नहीं रहते।

इस अम्बरान्त अक्षर का एक गुण ईक्षण करना भी है। ईक्षण का अर्थ हम बता चुके हैं कि जगत् में होने वाले कार्यों का काल, स्थान और दिशा नियत करना ईक्षण करना कहलाता है। परमात्मा ईक्षण करने वाला है।

यही अक्षर जो अम्बरान्त सब-कुछ धारण करने वाला है और शासन करने वाला है तथा जो ईक्षण करने की सामर्थ्य रखता है, वह ही 'दहर' कहलाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् प्राणी के हृदय की गुहा में रहता है। दहर का अर्थ है सूक्ष्म। हृदय की गुहा एक सूक्ष्म स्थान है। यहाँ पर भी विद्यमान् होने से परमात्मा दहर कहलाता है।

दहर की शक्ति से ही प्राणी के शरीर के अंग-प्रत्यंग हिलते-डोलते हैं। इसी दहर का प्राणी के शरीर में महान् कार्य है शरीर को जन्म देना, पालन करना और फिर इसका विनाश करना। यह प्रसिद्ध भी है। अर्थात् देखने से सिद्ध होता है।

दहर (परमात्मा) शरीर का धारण और पालन-पोषण करता है। इस पर भी यह निश्चय है कि यह जीवात्मा के परामर्श से कार्य करता है। शक्ति परमात्मा की है, परन्तु शरीर में वह शक्ति जीवात्मा के परामर्श से कार्य करती है। जीवात्मा का परामर्श भी ईश्वर की शक्ति को सिद्ध करता है।

परमात्मा दहर स्थान में बैठा शरीर को शक्ति प्रदान करता है, परन्तु छोटे स्थान में होने से यह स्वयं छोटा नहीं। यह वही है जो अम्बरान्त धारण करने की शक्ति रखता है। यहाँ उसका केवल प्राणी के शरीर के साथ सम्बन्ध रहता है।

जीवात्मा भी 'दहर' में रहता है। जीवात्मा परमात्मा का अनुकरण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है। परमात्मा का स्मरण करने से भी मोक्ष प्राप्त होता है। स्मरण करने से अभिप्राय है कि परमात्मा के गुणों का स्मरण किया जाए। ऐसा स्मरण करने से उन गुणों के संस्कार मन पर पड़ते हैं और वे मोक्ष दिलाने में सक्षम हैं।

परमात्मा दहर स्थान (हृदय की गुहा) में बैठा हुआ शरीर पर अपेक्षा (देख-रेख) रखता है और इस प्रकार शरीर कार्य करता है। परमात्मा के विषय में महर्षि बादरायण भी वही कहते हैं जो ऊपर लिखा गया है।

शरीर में शक्ति तो परमात्मा की है, परन्तु शरीर के कर्मों में विरोध होता है। इसमें कारण यह है कि परमात्मा की शक्ति के कार्य में कई प्रतिपत्तियाँ दिखाई देती हैं। प्रतिपत्तियों का अर्थ है प्रभाव डालने वाली शक्तियाँ। प्राणी के शरीर में मुख्य रूप से तीन प्रतिपत्तियाँ हैं—जीवात्मा, मन और बुद्धि।

शरीर में परमात्मा की शक्ति पर तो प्रतिपत्तियाँ कर्म में विरोध प्रकट करती हैं, परन्तु परमात्मा के अपने कार्यों में नित्यता है, अनादित्व है, कोई विरोध नहीं है।

परमात्मा के कर्म एक-रस हैं। इससे प्रत्येक सर्ग में समान रूप और नाम वाले कार्य बनते हैं। सृष्टि के आदि में ज्ञान (वेद) भी बार-बार वैसा ही मिलता है। मध्वादि ऋषि, जो उस ज्ञान के अधिकारी हैं, वे भी बार-बार पैदा होते हैं। ऐसा जैमिनी ऋषि का मत है।

परमात्मा ने वेद दिए हैं, क्योंकि वह ज्योतिस्वरूप है। अर्थात् वह ज्ञानस्वरूप है। मध्वादि ऋषि होने से वेद जानने के अधिकारी थे। किन्तु जो अज्ञानी हैं, वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R 089.9143
GUR-B
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकारी नहीं हैं। अनधिकारियों से परमात्मा का ज्ञान भाग जाता है। अर्थात् वे इसे समझ नहीं सकते।

जैसे सुन्दर रथ में बैठने से कोई क्षत्रिय नहीं होता, वरन् क्षत्रियत्व रखने से क्षत्रिय होता है, वैसे ही कोई ज्ञानी से ही वेद को समझ सकता है, वेदपाठ करने से नहीं।

अज्ञान संस्कारों के अभाव से होता है। ज्ञान भी संस्कार का एक रूप ही है।

अच्छे संस्कारों का अभाव अथवा भाव मनुष्य की प्रकृति (स्वभाव) से पता चलता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संस्कारों से स्वभाव बनता है।

अच्छे संस्कार शास्त्र श्रवण, स्वाध्याय, स्मृति शास्त्र को स्वीकार करने से बनते हैं। जो व्यक्ति किसी बात को सुनता नहीं, शास्त्राध्ययन नहीं करता, शास्त्र के यथार्थ अर्थों का विरोध करता है, वह अज्ञानी ही रहता है। उसके संस्कार श्रेष्ठ नहीं हो सकते और उसका स्वभाव बिगड़ जाता है। तब वह परमात्मा का विरोध करने लगता है और ज्ञान उसको छोड़ जाता है।

परमात्मा को प्राण कह आये हैं और प्राण का लक्षण कम्पन (vibration) है।

परमात्मा ज्योतिर्मय अर्थात् ज्ञानमय है।

परमात्मा का लिंग आकाश माना है, परन्तु यह वह आकाश नहीं जो पंचभूतों में एक है। ब्रह्म-रात्रि के समय जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में होता है। परमात्मा उस समय भी जागृत अवस्था में रहता है। इसमें ये एक-दूसरे से भिन्न हैं। परमात्मा को पति कहा है।

प्रथम अध्याय चतुर्थ पाद का सारांश

कुछ नास्तिक युक्ति से यह कहते हैं कि यह कार्य-जगत् स्वयम्भू है अर्थात् इसको बनाने वाला कोई नहीं। सूत्रकार कहता है कि ऐसा नहीं है। जैसे प्राणी का शरीर मृत्यु के उपरान्त आत्मा-विहीन होने पर कुछ नहीं कर सकता, इसी प्रकार जगत् बिना परमात्मा के निष्क्रिय हो जाता है।

जगत् एक सूक्ष्म कारण से बना है। वह कारण 'उपादान कारण' है। इस सूक्ष्म के अधीन ही यह कार्य-जगत् बनता है। जगत् का मूल प्रकृति है। प्रकृति यद्यपि अज्ञेय कही जाती है, इस पर भी यह जानने योग्य है। प्रकृति को जो न जानने योग्य कहा जाता है, वह इसका प्रकरण के अनुसार कथन होता है। अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा के साथ जब इसकी तुलना की जाती है तो यह अज्ञेय है, परन्तु यह है और जहाँ इसका अपना प्रकरण है, वहाँ इसे भी जानना चाहिए।

परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तीनों का ही वर्णन है। जहाँ जिसका प्रसंग हो, वहाँ उसको समझना चाहिए।

प्रकृति महत् की भाँति सूक्ष्म है। प्रकृति से महत् बनता है और यह चमसवत्

167948
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाता है। अर्थात् ऐसे हो जाता है कि जैसे कलछी अथवा मनुष्य की खोपड़ी होती है।

महत् जब चमसवत् हो जाता है तो यह कहा जाता है कि ईश्वर अपनी ज्योति से (ज्ञान से) इसमें प्रवेश करता है। वह ज्ञान ही अग्नि रूप हो जाता है। तब वह हिरण्यगर्भ बन जाता है।

हिरण्यगर्भ से कार्य-जगत् की अनेकानेक वस्तुएँ बनी हैं। प्रकृति एक है और कार्य-जगत् में अनेक वस्तुएँ इससे बनी हैं। इन नाना प्रकार की वस्तुओं में प्राण भी एक है।

प्राण परमात्मा की शक्ति है। इसका संयोग जब जगत् की नाना वस्तुओं से होता है तब प्रथम अन्न बनता है। अन्न से ही प्राणी में शक्ति आती है।

प्रकृति आकाशादि भूतों का कारण है और उन भूतों से सब जगत् के पदार्थ बने हैं। अतः सबका कारण प्रकृति है।

गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। समाकर्षण बिगड़ता है तो जगत् बनता है। यद्यपि जीवात्मा का लक्षण भी प्राण है, परन्तु जीवात्मा समाकर्षण को भंग नहीं कर सकता। यह भंग करने वाला परमात्मा ही है। वेदों के अनुशीलन से यही पता चलता है।

यह निश्चय है कि प्रकृति से जगत् बना है और इसको बनाने वाला तथा नष्ट करने वाला परमात्मा ही है।

जगत् की रचना जीवात्माओं के लाभ के लिए होती है। इस जगत् में आकर ही वे उत्क्रमण कर सकते हैं अर्थात् निम्न योनियों से ऊँची योनि में जा सकते हैं। यह उत्क्रमण तब तक चलता है जब तक कि आत्मा ब्रह्मवित् नहीं हो जाता।

परमात्मा का प्राण, जो जगत् में और प्राणी के शरीर में रहता है, वह प्राणी को उत्क्रमण करने में सहायता देता है।

जीवात्मा प्रकृति में बँधा होता है, परन्तु प्रतिज्ञा, जिज्ञासा और शास्त्र-ज्ञान से वह इस बन्धन से छूटता है। जिज्ञासा और संकल्प से जीवात्मा निकृष्ट से उच्च योनियों में जाता है। परमात्मा के साक्षात्कार से भी इसमें सहायता मिलती है।

हृदय की गुहा में परमात्मा का साक्षात् होता है। इसके यह भी अर्थ हो सकते हैं कि जगत् में सुख एवं दुःख के साक्षात् से भी उत्क्रमण में सहायता मिलती है।

यह भी साक्षात् होता है कि परमात्मा से जगत् बना है और वह जगत् का निजी स्थान है।

सूत्रों में जो कुछ कहा गया है, इसको व्याख्या से जानने पर पूर्ण रहस्य का पता चल जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

* * *

हमने प्रथम अध्याय के चारों पादों का क्रमवार यह वृत्तान्त दे दिया है, जिससे सामान्य रूप में विदित हो जाए कि वेदान्त-सूत्रों का विषय क्या है।

इस भाष्य के लिखने में हमारा एक उद्देश्य यह भी है कि स्वामी शंकराचार्य के भाष्य से जो भ्रम फैले हैं, उनका निवारण हो सके।

स्वामी शंकराचार्य ने वेदान्त-दर्शन के भाष्य की एक प्रस्तावना लिखी है। उसमें उन्होंने उस पूर्ण निष्कर्ष को लिखा है, जो वे इस ग्रन्थ में लिखा हुआ मानते हैं।

अतः स्वामी जी की प्रस्तावना को भी देखना चाहिए कि उन्होंने इसमें क्या लिखा है।

स्वामी जी कुछ मूल विचारों को लेकर भाष्य करने बैठे हैं। वे उन मूल विचारों का उल्लेख अपने भाष्य के उपोद्घात् में करते हैं।

सबसे पहले उन्होंने जगत् को मिथ्या माना है। इसे ब्रह्म का अध्यास मात्र समझा है। वे अध्यास की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।

अर्थात् स्मृति रूप में पूर्वदृष्टा का अन्य में अवभास अध्यास कहलाता है।

पहले देखी वस्तु की स्मृति से किसी दूसरी वस्तु में पहली समझ लेना अध्यास है।

सरल भाषा में इसे भ्रम कह सकते हैं। स्वामी जी इसका उदाहरण देते हैं।

तथा च लोकेऽनुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति।

अर्थात् यह लोक-व्यवहार में भी अनुभव होता है। शुक्ति (सीपी) चाँदी की भाँति अवभासित (दिखाई) देती है। एक ही चन्द्रमा दो चन्द्रों के समान दिखाई देता है।

इन उदाहरणों से स्वामी जी का कहना है कि मिथ्या वस्तु का अवभास होता है। सीपी में चाँदी का अथवा जल में चन्द्र का। आप एक अन्य उदाहरण भी देते हैं। आप कहते हैं कि ऊपर एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु का आभास हुआ दिखाया है। जैसे सीपी में चाँदी का अथवा जल में चन्द्र का। किसी अवस्तु में भी वस्तु का आभास होता है। जैसे—

न चायमस्ति नियमः—पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति; अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति।

यह नियम नहीं कि पुरोवर्ती विषय में दूसरे विषय का अध्यास हो। जैसे कि अप्रत्यक्ष आकाश में भी अविवेकी लोग तल मलिनता आदि का अध्यास करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी जी यह कहना चाहते हैं कि एक के गुणों में दूसरे के गुणों का अध्यास (भ्रम) हो जाता है और जहाँ कुछ भी प्रत्यक्ष न हो वहाँ पर भी किसी के गुणों का अध्यास (भ्रम) हो जाता है। जैसे आकाश कुछ भी वस्तु नहीं और देखने पर वह नील वर्ण दिखाई देता है अथवा उलटाई हुई कड़ाही की भाँति दिखायी देता है।

इन उदाहरणों से स्वामी जी यह प्रकट करना चाहते हैं कि जगत् तो कुछ है नहीं। इसमें भिन्न-भिन्न पदार्थों के गुण दिखायी देने लगते हैं।

अतः, वे कहते हैं कि जगत् मिथ्या है और सत्य केवल ब्रह्म ही है।

यह पक्ष स्वामी जी ने अपनी प्रस्तावना में रखा है और इसी पक्ष के आधार पर पूर्ण वेदान्त-दर्शन का भाष्य उन्होंने किया है।

हमारा यह कहना है कि प्रमाण और युक्ति स्वामी जी का पक्ष सिद्ध नहीं करती।

यह हम मानते हैं कि किसी वस्तु में, भ्रम से कुछ उन गुणों की प्रतीती होने लगती है, जो उसमें नहीं होते।

उदाहरण के रूप में वर्तमान विज्ञान यह मानता है कि लोहे के एक टुकड़े में ठोसपन की प्रतीती होती है। लोहे के टुकड़े पर उँगली रखने से उँगली उसको दबा नहीं सकती। वास्तव में लोहे के टुकड़े में ठोसपन है नहीं। लोहे के प्रत्येक अणु में जो इलैक्ट्रोन इत्यादि हैं, वे वेग से कम्पित हो रहे हैं, वही उसमें ठोसत्व प्रकट करता है। वास्तव में यह इलैक्ट्रोन की गति ही है। यदि गति न हो तो जैसे रेत के लड्डू खण्डित हो जाते हैं, वैसे ही सब ठोस पदार्थ रेत के पिण्ड समान ही खण्डित हो जाएँ।

कुछ ऐसी बात ही स्वामी जी कह रहे हैं।

इसमें भ्रम यह है कि प्रतीत वही होता है, जिसका अनुभव पहले हो।

प्रथम उदाहरण में चाँदी का अनुभव पूर्व में रहता है, तब ही सीपी में चाँदी का भास होता है। यदि चाँदी का ज्ञान न रहता तो सीपी में इसका भास होता ही नहीं।

इसी प्रकार दो जल-पात्रों में चन्द्रमा दिखायी देता है। यह तब ही सम्भव हो सकता है जब चन्द्र का अनुभव पहले हो।

सीपी और जल-पात्र हो अथवा न हो, परन्तु चाँदी और सीप तो होते हैं। तभी उनकी उपस्थिति का भास होता है।

इसी प्रकार कड़ाही के भीतर के गुम्बद की भाँति के आकार का अर्थात् कड़ाही का जब ज्ञान होता है, तब ही आकाश वैसा दिखायी देने लगता है।

अभिप्राय यह कि चाँदी, चाँद और कड़ाही का अनुभव पहले रहता है और वह अनुभव स्मरण होता है; तभी उसका भास किसी दूसरी वस्तु में होता है। वह दूसरी, जिसमें भ्रम होता है, वस्तु हो अथवा अवस्तु हो, यह विचारणीय नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारणीय यह है कि चाँदी, चाँद और कड़ाही का ज्ञान पहले हो, तभी इसका आभास किसी वस्तु में अथवा अवस्तु में होता है।

अतः जगत् का ज्ञान पहले होना चाहिए, तभी इसका आभास ब्रह्म में दिखायी देगा। अभिप्राय यह कि चाँदी, चाँद और कड़ाही की भाँति जगत् सत्य है। देखने वाले को इसका ज्ञान हो, तभी वह ब्रह्म को जगत् समझने लगता है।

ब्रह्म हो अथवा न हो, यह विचारणीय नहीं। परन्तु जगत् के लक्षणों का अनुभव होगा। यह तभी हो सकता है जबकि ब्रह्म में जगत् के लक्षण दिखायी देने लगते हैं।

अतः जगत् तो सत्य है। ब्रह्म के विषय में पृथक् बात है।

स्वामीजी जगत् को मिथ्या सिद्ध करने चले थे और सिद्ध कर बैठे हैं परमात्मा को मिथ्या।

स्वामीजी ने एक दूसरी बात भी लिखी है। आप लिखते हैं—

तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेय-व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्ष-पराणि।

(पूर्वोक्त इस अविद्या कही जाने वाली आत्मा और अनात्मा के परस्पर अध्यास को आगे रख कर सब लौकिक और वैदिक शास्त्र, प्रमाण, प्रमेय व्यवहार में लगे हुए हैं। सब शास्त्र विधि-निषेध बताने वाले मोक्ष कैसे दिला सकते हैं?)

स्वामीजी ने लौकिक और वैदिक शास्त्रों की निन्दा कर दी है। यह कहा है कि क्योंकि उनमें प्रमाण और प्रमेय व्यवहार अपनाकर और यह करो, वह न करो की बात कही है, अतः वे मोक्षपरक नहीं हो सकते।

आगे चल कर भाष्य में देखेंगे कि स्वामीजी भी कई शास्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। स्वामीजी प्रमाण देते समय स्वयं को तो ठीक कहने वाला मानते हैं, परन्तु दूसरे पक्ष वाले जब शास्त्र का प्रमाण देते हैं तो स्वामीजी कह देते हैं कि शास्त्र अविद्यामूलक हैं।

इसी सम्बन्ध में आप आगे कहते हैं—

अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः।

(अतः पुरुषों का प्रमाण-प्रमेय व्यवहार पशुओं के समान है और यह प्रसिद्ध है कि पशु आदि का प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेकपूर्वक होता है।)

तत्सामान्यदर्शनाद्व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते।

इस पद का अर्थ है—सामान्य रूप में उनकी भाँति प्रत्यक्षादि देखने से मनुष्य का व्यवहार पशुओं के समान होता है। यह निश्चय ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा यहाँ यह कहना है कि शास्त्र में प्रमाण देखना तो प्रत्यक्ष देखने से अतिरिक्त भी हो सकता है। अतः शास्त्र चाहे लौकिक हों और चाहे वैदिक, वहाँ के प्रमाण देखना पशुओं के व्यवहार के समान नहीं हो सकता।

स्वामीजी ने अपने भाष्य के उपोद्घात में दो बातें ही कही हैं। एक तो यह कि जगत् अध्यास मात्र है, यह वास्तविक नहीं है। दूसरी बात यह है कि शास्त्र में जो प्रमाण प्रमेयादि बातें हैं, वह अविद्या है और उनको देखकर व्यवहार का निश्चय करने वाले पशुवत् अविद्वान् हैं।

ये दोनों बातें मिथ्या दृष्टि की सूचक हैं। जो उदाहरण स्वामीजी ने दिया है, उसके विषय में हम ऊपर बता चुके हैं कि वे स्वामीजी की बात को सिद्ध नहीं करता।

यह सब-कुछ ब्रह्म (परमात्मा) है और जो कुछ दिखायी देता है, वह अध्यास है, अर्थात् किसी पूर्व में देखी वस्तु के गुणों का ब्रह्म में भ्रम हो रहा है; परन्तु हमारा कहना यह है कि कार्य-जगत् का ब्रह्म में अध्यास तब ही हो सकता है जब कि इसको पूर्व में कभी देखा हो और उसके गुणों को स्मरण कर ब्रह्म में उसे आरोपित करें। देखने वाले को जगत् के गुणों का ज्ञान हो। अर्थात् पहले जगत् विद्यमान् हो। अन्यथा ब्रह्म में अध्यास कैसे होगा?

साथ ही विशेष बात यह है कि कार्य-जगत् और ब्रह्म के अतिरिक्त तीसरा कोई होना चाहिए, जिसको अध्यास (भ्रम) हो। ब्रह्म को ही ब्रह्म में किसी अनुपस्थित अनजानी वस्तु का अध्यास तो (स्वामीजी के अपने कथनानुसार) नहीं हो सकता।

दूसरी बात जो स्वामीजी कहते हैं कि शास्त्र, विशेष रूप में वैदिक-शास्त्र, प्रमाण नहीं हैं यह सर्वथा अयुक्त है। उनके प्रमाण को अमान्य करने के लिए दी गयी युक्ति ठीक नहीं बनी।

स्वामी शंकराचार्य ने अविद्वान् और पशु की तुलना करते-करते वैदिक शास्त्रों को ही अमान्य कर दिया है। यह नास्तिक्य है। आर्य परम्परा यह है कि वेद अपौरुषेय होने से स्वतःप्रमाण हैं और मनुष्य के पूर्ण व्यवहार में वेद प्रमाण कसौटी का काम करते हैं।

वेदान्त-दर्शन का भाष्य करते हुए हमारी जो मान्यतायें हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) जगत् मिथ्या नहीं, सत्य है। यह ठीक है कि इसको सामान्य रूप में देखने वाला इसका सत्य स्वरूप नहीं देख सकता। जो कुछ दिखायी देता है, यह उससे भिन्न है। हम एक लोहे के टुकड़े के ठोस प्रतीत होने का प्रमाण दे चुके हैं। यह जानकर भी कि ठोसत्व मिथ्या है, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कुछ है ही नहीं। पदार्थ तो है। उसके गुणों में भ्रम हुआ है। यह नहीं कि वस्तु का अस्तित्व ही भ्रममूलक हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) जगत् तीन अक्षर पदार्थों से बना है। परमात्मा इन सबका बनाने वाला है। प्रकृति, कार्य-जगत् का उपादान कारण है। आत्माओं के भोग के लिए प्रकृति से कार्य-जगत् का निर्माण किया जाता है।

(३) अक्षर पदार्थ सत् कहलाते हैं। यह इस कारण कि अक्षर के अर्थ ही सत् हैं। जो सदा रहे, वही सत् है और वही अक्षर है।

(४) चेतन पदार्थ दो हैं, परमात्मा और जीवात्मा।

(५) परमात्मा सर्वशक्तिमान्, दयालु, अजन्मा, सर्वव्यापक, कर्ता, भर्ता और भोक्ता (प्रलयकर्ता) है।

ये आधार हैं वर्तमान भाष्य के। हमने बिना किसी प्रकार की खींचातानी किये अपने विचारों को वेदान्त-दर्शन-शास्त्र से सिद्ध किया है।

दर्शन-जैसे गहन विषय में भूल हो सकती है, परन्तु विवेक बुद्धि से हमारी भूल दर्शाने वाले का हम स्वागत करेंगे और यदि युक्ति तथा प्रमाण से भूल सिद्ध हो गई तो उसे स्वीकार करने में हमें तनिक संकोच नहीं होगा। इसके लिए हम कृतज्ञता का अनुभव करेंगे।

१८/२८ पंजाबी बाग,
नयी दिल्ली-११००२६

—गुरुदत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

प्रथम पाद

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।।१।।

अथ + अतः + ब्रह्मजिज्ञासा।

अतः = इस कारण; अथ = अब; ब्रह्म = ब्रह्म की जिज्ञासा, जानने की इच्छा (की पूर्ति करते हैं)।

इस सूत्र में 'अथ' शब्द पर ही विशेष विचार प्रकट किया गया है। अथ शब्द मंगल सूचक, आनन्तर्य अर्थ वाला, आरम्भ करने का तथा पूर्णता का सूचक है।

मोनियर विलियम अपने संस्कृत शब्दकोश में 'अथ' के अर्थ इस प्रकार करते हैं—

अथ—An auspicious and inceptive particle (not easily expressed in English) now, then, more over, rather, certainly, but, else, what ? how ? etc.

अभिप्राय यह है कि यह शब्द बहु-अर्थवाचक है। इसका अर्थ लगाने में पूर्वापर विषय का विचार कर ही अर्थ लगाया जा सकता है।

यहाँ यह शब्द ग्रन्थ के आरम्भ में आया है; इस कारण पूर्ण ग्रन्थ के प्रयोजन को जानने से ही अथ शब्द का अर्थ लगना चाहिए।

पुस्तक का प्रयोजन ब्रह्म-जिज्ञासा शब्द से प्रकट होता है। जिज्ञासा का अर्थ है जानने की इच्छा। अतएव ब्रह्म को जानने की इच्छा की पूर्ति इस ग्रन्थ में की गयी है।

स्वामी ब्रह्ममुनिजी भी ब्रह्म-जिज्ञासा के यही अर्थ करते हुए लिखते हैं—

(ब्रह्म-जिज्ञासा) ब्रह्म की जिज्ञासा—महान्, अनन्त, अखण्ड ब्रह्म नामक वस्तु की जिज्ञासा—जानने की इच्छा होती है।

यहीं से स्वामी शंकराचार्य से मतभेद आरम्भ हो जाता है। स्वामीजी ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा को ब्रह्म-प्राप्ति का प्रयत्न मानते हैं।

सामान्य भाषा में जानना और प्राप्त करना दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। परन्तु स्वामीजी ब्रह्म विषय में जानना और प्राप्त करना पर्यायवाचक मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप ब्रह्म-जिज्ञासा और धर्म-जिज्ञासा में अन्तर बताते हैं। आप धर्म-जिज्ञासा में क्रम का संकेत करते हैं। धर्म कर्म है और कर्म करने में काल लगता है और इसमें पहले और पीछे की बात है। परन्तु ब्रह्म-जिज्ञासा काल के अधीन नहीं है।

आप लिखते हैं —

भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्म-चोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्।

अर्थात्—धर्म-जिज्ञासा का विषय भव्यं (साध्य-- सिद्धि योग्य) है। ज्ञान काल में नहीं (अभिप्राय यह कि ज्ञान होने में काल नहीं लगता)। धर्म जिज्ञासा पुरुष व्यवहार के अधीन है। ब्रह्म-जिज्ञासा नित्य होने से पुरुष व्यापार के अधीन नहीं। दोनों में करने की प्रवृत्ति का भेद है। धर्म के जानने में और ब्रह्म के जानने के क्रम में भी भेद है। धर्म का लक्षण है कि वह मनुष्य को अपने ही विषय का बोध कराता है। ब्रह्म तो विषय नहीं। यह केवल बोध ही कराता है। ब्रह्म का ज्ञान ब्रह्म प्रमाणजन्य ही है। इसमें प्रमाण से प्रवृत्ति नहीं होती। यह ऐसे ही है जैसे कि इन्द्रिय उस ज्ञान में विभक्त नहीं होती जिसको यह प्राप्त करती है।

इस वक्तव्य से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक यह कि धर्म करने का विषय है। इसके करने में क्रम है और समय लगता है। ब्रह्म-ज्ञान में काल नहीं लगता। दूसरी बात यह कि ब्रह्म नित्य है। इसका ज्ञान होना ही इसको प्राप्त करना है। स्वामीजी ब्रह्म के अवबोध को ज्ञान नहीं मानते। ज्ञान को ब्रह्मत्व के समान मानते हैं।

इस प्रकार स्वामीजी समझते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म की प्राप्ति पर्यायवाचक शब्द हैं। धर्म का ज्ञान और धर्म का करना पर्यायवाचक नहीं।

हमारे मत में यह ऐसा नहीं है। ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म का अवबोध एक ही बात है और ब्रह्म-प्राप्ति में अन्तर है। ब्रह्ममुनिजी ने लिखा है कि 'महान्, अनन्त, अखण्ड, ब्रह्म नाम वस्तु की जिज्ञासा।' अर्थात् ब्रह्म भी कोई वस्तु अर्थात् पदार्थ है। पदार्थ उसको कहते हैं कि जिसका नाम और गुण हो। इसके दृश्य अथवा अदृश्य होने की बात नहीं। वेद में ईश्वर का वर्णन इस प्रकार है —

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(यजु० ४०-८)

इस मन्त्र में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है। अभिप्राय यह कि परमात्मा अर्थयुक्त पदों से इंगित किया जाता है। इस कारण यह पदार्थ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी भी पदार्थ का जब ज्ञान कराया जाता है, जैसे कि उक्त वेदमन्त्र में परमात्मा का कराया गया है, उसका ज्ञान और उसकी प्राप्ति दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हो जाते हैं।

स्वामीजी का यह कहना कि **'इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुष-व्यापारतन्त्रम्'** ब्रह्म-जिज्ञासा सिद्ध है। अर्थात् इसमें क्रम नहीं; क्योंकि यह नित्य है।

यह कथन अयुक्त है। इसमें कोई युक्ति नहीं है। कोई पदार्थ नित्य होने से साध्य (सिद्धि योग्य) नहीं रह जाता क्या? सिद्ध और प्रमाणित होने में अन्तर है। सिद्ध अर्थात् उसका-सान्निध्य प्राप्त करने में नित्य, अनित्य का प्रश्न उठता ही नहीं। कारण यह कि सिद्ध करने वाला साध्य पदार्थ से पृथक् है।

अतः स्वामी शंकराचार्य का कहना कि परमात्मा तो सिद्ध ही है, प्रमाणित नहीं होता। परमात्मा है, परन्तु सिद्ध करने वाले के लिए तो तब ही उपस्थित होगा, जब वह उसको सिद्ध कर लेगा। अतः परमात्मा की प्राप्ति में भी काल लगता है और इसमें भी क्रम है। अभिप्राय यह कि परमात्मा की जिज्ञासा और परमात्मा की प्राप्ति भिन्न-भिन्न अर्थ वाली बातें हैं। यह नहीं कि गुरु ने कान में फूंक मार दी और ब्रह्म के दर्शन हो गए। ऐसा होता नहीं। इसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है और प्रयत्न में काल लगता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ब्रह्म-सूत्रों का उद्देश्य ब्रह्म का प्राप्ति है? क्या ब्रह्म-सूत्र भी योग-दर्शन की भाँति कैवल्यावस्था-प्राप्ति का उपाय बताते हैं? ऐसा नहीं है। ब्रह्म-सूत्रों में ब्रह्म के अस्तित्व की सिद्धि, इसके स्वरूप का वर्णन और इसके लक्षण और इसको जान लेने पर क्या होता है, का वर्णन ही है। ब्रह्मत्व कैसे प्राप्त होता है, उसका उपाय इस दर्शन ग्रन्थ में वर्णित नहीं है।

अतएव ब्रह्म-सूत्रों के प्रथम सूत्र में ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ ब्रह्म के विषय में ज्ञान से ही है, ब्रह्म-प्राप्ति से नहीं।

यदि ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ केवल ब्रह्म के ज्ञान से ही लें तो 'अथ' शब्द, सामान्य रूप में, अधिकारार्थक होगा। ऋषि, ब्रह्म के विषय का ज्ञाता होने से अधिकार से कहता प्रतीत होता है कि 'अब हम ब्रह्म-जिज्ञासा की तृप्ति कराते हैं।'

स्वामी शंकराचार्य ब्रह्म-सूत्रों का प्रयोजन ही बदलकर यह कहते हैं कि अथ शब्द आनन्तर्यार्थक है, अधिकारार्थक नहीं।

आनन्तर्यार्थक का अभिप्राय यह है कि किसी प्रकार की योग्यता प्राप्त करने के उपरान्त जिज्ञासा करनी चाहिए।

स्वामीजी के कथन का अर्थ यह है कि ब्रह्म-जिज्ञासा करने से पूर्व कुछ योग्यता होनी चाहिए, अन्यथा जिज्ञासा करना अनधिकार-चेष्टा हो जाएगी।

यद्यपि हम यहाँ 'अथ' का अर्थ अधिकारार्थक अधिक उपयुक्त मानते हैं, कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कि ब्रह्म-जैसे गहन विषय पर कहने वाले का विषय पर अधिकार रखना अत्यावश्यक है; तदपि स्वामीजी के इस कथन में भी कुछ तत्त्व है।

ब्रह्म को जानने की इच्छा करने वाले के लिए कुछ तो योग्यता होनी चाहिए, क्योंकि स्वामीजी ब्रह्म जानने की इच्छा और ब्रह्म-प्राप्ति में अन्तर नहीं मानते, इस कारण आनन्तर्य कार्य, जो स्वामीजी बताते हैं, वह भिन्न प्रयोजन वाला है। जिज्ञासा अर्थात् केवल जानने की इच्छा वाले के लिए वह आनन्तर्य आवश्यक नहीं।

वास्तविक बात यह है कि ब्रह्म-सूत्र (दर्शन-शास्त्र) बिना शब्द-प्रमाण (किसी के कथन मात्र) का आश्रय लिये, परमात्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं। दूसरे शब्दों में, वैदिक दर्शन-शास्त्र वैदिक मान्यताओं को, वेद के प्रमाणों के बिना, सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं।

आदि काल से ही ऐसे लोग संसार में रहे हैं जो परमात्मा के अस्तित्त्व को नहीं मानते। एतदर्थ परमात्मा के ज्ञान, वेद को भी स्वीकार नहीं करते। इन लोगों को यह कहना कि वेद में ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार लिखा गया है, अतः मान लो, हास्यास्पद हो जाएगा।

वैदिक दर्शन-शास्त्र ऐसे ही लोगों के लिए लिखे गये हैं। अतः शब्द-प्रमाण (वेदादि शास्त्रों के प्रमाण) के अतिरिक्त केवल अनुमान प्रमाण (युक्ति) ही रह जाता है, जिससे ब्रह्म और वेद की सत्यता प्रमाणित की जा सकती है।

अतः ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व यदि कुछ आनन्तर्य कार्य होना चाहिए तो वह ऐसा हो जिससे जिज्ञासु को कही गई बात उसकी समझ में आ सके। इसे बुद्धि का सात्त्विकी होना तथा वैराग्य होना कहते हैं।

भगवद्गीता में सात्त्विकी बुद्धि के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ (१८-३०)

अर्थात्—प्रवृत्ति और निवृत्ति में भेद को जानने वाली, अभिप्राय यह कि सांसारिक कार्यों से लिप्त होना अथवा इनसे अलग होने में भेद का ज्ञान, कार्य और अकार्य में भेद अर्थात् करने योग्य कामों में और न करने योग्य कामों में अन्तर का ज्ञान; कर्म-बन्धन और कर्म-फल से मुक्ति का अर्थ, इसका ज्ञान; जो बुद्धि इन बातों का ज्ञान रखती है, वह सात्त्विकी बुद्धि कहलाती है।

'अथ' के अर्थों में स्वामी शंकराचार्य अन्य बातों के साथ-साथ यह भी मानते हैं कि जिज्ञासु में—(१) शम, (२) दम, (३) उपरति, (४) तितिक्षा, (५) समाधान और (६) श्रद्धा भी हो।

तनिक विचार किया जाए तो पता चलेगा कि यह षट् सम्पत्ति ब्रह्मत्त्वप्राप्ति के लिए आवश्यक हो सकती है, परन्तु ब्रह्म-जिज्ञासा के लिए अनावश्यक ही नहीं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वरन् अमान्य भी होगी। वे लोग जो परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं रखते, जो इस जड़ जगत् के संचालन करने वाले किसी आत्मतत्त्व को स्वीकार नहीं करते, उनको कहना कि वे शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान तथा श्रद्धा पहले उत्पन्न कर लें, तब उस ब्रह्म के अस्तित्व के विषय में बताएँ तो कोई नहीं मानेगा।

एक नास्तिक को तो पहले परमात्मा के अस्तित्व का विषय समझाना होगा, पीछे वह शम, दम इत्यादि परमात्मा की प्राप्ति के साधनों को अपनायेगा। ईश्वर की उपस्थिति का जब तक उसे विश्वास नहीं हो जाता, तब तक वह किसी प्रकार का त्याग तथा तपस्या करने के लिए तत्पर नहीं होगा।

साधन चतुष्टय का चौथा अंग है मुमुक्षुत्व, अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा। जो ईश्वर को मानता ही नहीं, उसको कहना कि पहले मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा करो, तब ब्रह्म-जिज्ञासा पूर्ण की जाएगी, हास्यास्पद है।

स्वामी शंकराचार्य और उनकी परिपाटी पर ब्रह्मसूत्रों का भाष्य लिखने वाले वेदान्त-ग्रन्थों और दर्शन-शास्त्र में भेद नहीं कर पाये। इसी कारण उनका भाष्य भी अशुद्ध है।

स्वामीजी यह मानते हैं कि दर्शन-शास्त्र अर्थात् ब्रह्मसूत्र वेदान्त-वाक्यों के पुष्पों को माला में बाँधने वाले सूत्र की भाँति हैं। अभिप्राय यह कि दर्शन-शास्त्रों का कार्य कुछ सिद्ध करना नहीं वरन् सजा कर उपस्थित करना है।

स्वामीजी इस विषय में सूत्र १-१-२ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्।

हमारा मत है कि ब्रह्मसूत्र, सम्बन्धित वेदान्त-वाक्यों को सजाकर बाँधने के लिए नहीं हैं, वरन् स्वतन्त्र रूप से वही बात सिद्ध करने के लिए हैं, जो वेदान्त-वाक्यों में कही गई हैं।

सूत्र १-१-१ में 'अथ' शब्द को आनन्तर्यार्थक मानना और फिर आनन्तर्य कार्य साधन-चतुष्टय लिख देना भी उक्त भूल के कारण ही हुआ है। स्वामी शंकराचार्य दर्शन-शास्त्र लिखने के प्रयोजन को ही नहीं समझे।

वेद और उपनिषदों में ब्रह्म के विषय में अनेक ऐसे वाक्य हैं, जिनसे ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट होता है। परन्तु उन वाक्यों में वर्णनात्मक वृत्तान्त ही है। दर्शन-शास्त्र उनको युक्ति (अनुमान प्रमाण) से सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं।

अतः हमारा मत है कि इस सूत्र (१-१-१) में अथ शब्द आनन्तर्यार्थक न होकर अधिकारार्थक है। इस पर भी यह आनन्तर्यार्थक केवल इस सीमा तक हो सकता है कि जिज्ञासु की बुद्धि सात्त्विकी और मन में विवेक हो। अर्थात् वह किसी विचार के लिए हठ न रखता हो। उसका मन पूर्व-ग्रहों से मुक्त हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म-जिज्ञासा के अर्थ हमने लिखे हैं। अतः **'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'** का अभिप्राय है कि ब्रह्म के विषय में जानने की इच्छा की पूर्ति के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया है।

जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

जन्मादि+अस्य+यतः।

जन्मादि=जन्म, पालन और प्रलय। अस्य=इस (कार्य-जगत्)का। यतः= जिससे (होता) है, वह ब्रह्म है।

इस सूत्र में ब्रह्म के अस्तित्व का एक अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द (अथवा आप्त)।

प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है। एक जो बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो; दूसरा, जो अन्तःकरण से प्रत्यक्ष किया जाए। अन्तःकरण को गूढ़ तत्त्व ब्रह्म के दर्शन के योग्य बनाने के लिए योगाभ्यास बताया गया है।

कपिल मुनि अपने सांख्य-दर्शन में प्रमाणों के विषय में लिखते हैं—

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा।
तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम् ॥ (१-८७)

द्वयो अर्थात् दोनों (बुद्धि एवं आत्मा) अपिवा=अथवा; एकतरस्य=दोनों में एक (आत्मा) को; असन्निकृष्टार्थ परिच्छित्तिः=पूर्व अज्ञात अर्थ का प्रकट होना; प्रमा=प्रमा कहलाता है। तत्साधकतमं यत्=जिससे वह सिद्ध हो; तत् त्रिविधं प्रमाणं=वह प्रमाण तीन प्रकार का है।

इस सांख्य-सूत्र का भावार्थ यह है कि आत्मा को अथवा दोनों (आत्मा और बुद्धि) को किसी अज्ञात बात के प्रकट होने को प्रमा कहते हैं और प्रमा को सिद्ध करने वाले को प्रमाण कहते हैं।

नैय्यायिक प्रमा को इस प्रकार प्रकट करते हैं **'यथार्थानुमतः प्रमा'**। यथार्थ अर्थ के अनुभव को प्रमा कहते हैं।

न्याय-दर्शन में महर्षि गौतम ने प्रमाण के विषय में यह लिखा है—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ (१-१-३)

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, ये चार प्रकार के प्रमाण हैं।

सांख्य तीन प्रमाण ही मानता है। सांख्य में प्रमाण हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। न्याय-दर्शनाचार्य ने एक चौथा प्रमाण उपमान लिखा है। न्याय-दर्शन के अनुसार अनुमान और उपमान के लक्षण इस प्रकार हैं—

"अनुमीयते येनेति अनुमानम्"—जिससे अनुमान हो, उसको अनुमान कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य इसे अधिक स्पष्ट रूप में वर्णन करता है। सांख्य कहता है—

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥ (१-१००)

अर्थात् व्याप्ति के ज्ञाता को व्याप्य से व्यापक का ज्ञान अनुमान है। प्रतिबन्ध और व्याप्ति पर्यायवाचक शब्द हैं। दो वस्तुओं के सम्बन्ध को प्रतिबन्ध अथवा व्याप्ति कहते हैं। इस सम्बन्ध को देखने वाले को जब एक वस्तु देखकर सम्बन्धित वस्तु (व्याप्य) का ज्ञान हो, तब अनुमान प्रमाण कहलाता है।

दूसरे शब्दों में जब दो बातों अथवा वस्तुओं का सम्बन्ध ज्ञात हो जाए, तब एक की विद्यमानता से दूसरे का ज्ञान अनुमान प्रमाण कहलाता है।

उदाहरणार्थ—हम देखते हैं कि जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नित्य नहीं रहती। अर्थात् उत्पत्ति धर्मकत्व और अनित्यत्व सदा सम्बन्धित हैं। अतः जब हम किसी का बनना देखते हैं तो उसका टूटना अवश्यम्भावी है। यदि कोई वस्तु टूटती हुई देखी जाती है तो वह बनी भी थी, यह विश्वास से कहा जा सकता है। इस प्रकार के परस्पर सम्बन्ध से ज्ञान प्राप्त करने को अनुमान प्रमाण कहते हैं।

उपमान के विषय में न्याय-दर्शन इस प्रकार लिखता है—

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् । (१-१-६)

जहाँ कहीं दो वस्तुओं में प्रसिद्ध समान धर्म हो। इस समान धर्म के ज्ञान से किसी एक वस्तु के गुणों के अनुमान को उपमान कहते हैं।

उदाहरण के रूप में आत्मा में चेतनता है। परमात्मा में भी यह गुण है। अतः जहाँ चेतनता है वहाँ आत्मा अथवा परमात्मा की उपस्थिति सिद्ध होती है। इस प्रकार सिद्ध करने को उपमान प्रमाण कहते हैं।

अतः सांख्य के 'अनुमान' के ही अन्तर्गत 'उपमान' आ जाता है। मुख्य प्रमाण तीन प्रकार के ही हैं। अनुमान तथा उपमान में थोड़ा अन्तर है, परन्तु एक के ज्ञान से दूसरे की सिद्धि दोनों में समान रूप में है।

ब्रह्म की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण कार्य नहीं करता। प्रत्यक्ष प्रमाण इस प्रकार से है—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥

(न्याय-दर्शन १-१-४)

अर्थात्—इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं—इन्द्रिय और अर्थ (इन्द्रिय के विषय) के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न होने वाले; अव्यपदेश्य=अशाब्द=कहने में न आये; अव्यभिचारी=भ्रम-रहित; व्यवसायात्मकं=निश्चय से कहा जाने योग्य ज्ञान को; प्रत्यक्षम्=प्रत्यक्ष कहते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों से जो वस्तु जानी जाती है, उस जानने में निश्चयात्मक एवं भ्रमरहित ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और ऐसा जानने के प्रयास को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संक्षेप में इन्द्रियों द्वारा किसी वस्तु के ज्ञान को प्राप्त कराने वाला प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इससे परमात्मा अथवा किसी भी अव्यक्त (इन्द्रिय-अगोचर) पदार्थ की सिद्धि नहीं होती। जो इन्द्रियों से जाना ही नहीं जाता, वह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता।

तीसरा प्रमाण है शब्द प्रमाण। इसका अभिप्राय है वेद-शास्त्र इत्यादि के जानने वालों का कथन। यह प्रमाण उनके लिए ही है जो वेदों को अपौरुषेय मानते हैं और वेद के ज्ञाता हैं। उनका कथन शब्द प्रमाण है। इसका अर्थ यह भी है कि जो किसी विज्ञान के विशेषज्ञ द्वारा कहा गया है। वह भी उस विषय में प्रमाण है।

जो लोग वेद को सत्य विद्याओं का ग्रन्थ नहीं मानते तथा जहाँ विशेषज्ञ पर ही विश्वास न हो, उनके लिए शब्द प्रमाण का महत्त्व नहीं है। अतः ऐसे लोगों के लिए तीसरा प्रमाण अनुमान प्रमाण ही रह जाता है। दर्शन-शास्त्र ऐसे प्रमाणों से ही वैदिक मान्यताओं को सत्य सिद्ध करते हैं।

अनुमान प्रमाण, जैसा कि सांख्य में लिखा है, दो वस्तुओं का सम्बन्ध जानकर, उनमें से एक को देखकर दूसरी सम्बन्धित वस्तुओं के होने का ज्ञान कराता है।

एक उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं। जो वस्तु बनी है, वह टूटेगी भी। अतः किसी वस्तु को टूटता देख यह अनुमान लगाना कि वह बनी भी थी, एक सिद्ध प्रमाण है। इस प्रकार के प्रमाण को अनुमान कहते हैं।

एक अन्य उदाहरण दिया जा सकता है। अग्नि से धुआँ होता है। अतः धुआँ देखकर अग्नि का होना सिद्ध है। यह अनुमान प्रमाण है।

उपरिलिखित सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करने की एक प्रबल युक्ति है।

युक्ति यह है कि (अस्य) इस कार्य (दिखायी देने वाले) जगत् में प्रत्येक वस्तु के बनाने वाला कोई होना चाहिए। बनने वाले (कार्य) का कारण होना चाहिए। बिना बनाने वाले (कारण) के हम कुछ नहीं देखते। अतः इस कार्य-जगत् का कारण भी कोई होना चाहिए और वह कारण है ब्रह्म।

उसका नाम ब्रह्म है अथवा God है अथवा Nature (प्रकृति) है, इसका विचार आगे चलकर करेंगे। यह बात इस सूत्र में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कही है कि इस कार्य-जगत् के (जन्मादि) जन्म, पालन और प्रलय का कारण कोई है। वह ब्रह्म कहलाता है।

यह युक्ति है। इसमें किसी वेद-शास्त्र का उल्लेख नहीं। एक दर्शनाचार्य को यह शोभा भी नहीं देता कि वह अपनी बात को सिद्ध करने के लिए किसी अन्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्यों की साक्षी दे। हाँ, यह तो किया जा सकता है कि जब एक दार्शनिक अनुमान प्रमाण से अपनी बात को सिद्ध कर दे तो फिर वह कह दे कि अमुक-अमुक शास्त्र, वेद एवं आप्त पुरुष ने भी ऐसा कहा है; परन्तु वह अपनी बात को सिद्ध तो अनुमान प्रमाण से ही करता है।

परन्तु स्वामी शंकराचार्यजी अपने 'शारीरिक भाष्य' में ऐसा नहीं मानते। वे लिखते हैं—

जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावत्—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'। (तैत्ति० ३-१)

अर्थात्—जन्मादि की बात श्रुति में दिखा दी गयी है और यह वस्तु स्थिति की अपेक्षा से भी है। श्रुति का निर्देश है—**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।**

अभिप्राय यह कि जन्मादि से ब्रह्म की सिद्धि इस कारण है कि ऐसा श्रुति में लिखा है। स्वामीजी श्रुति का प्रमाण भी देते हैं। इस प्रमाण के विषय में स्वामी शंकराचार्य परमात्मा की सिद्धि में युक्ति करने को अशुद्ध मानते हैं। आप लिखते हैं—

एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः। नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे। नः;

अर्थात्—ईश्वर को कारण मानने वाले इसी अनुमान प्रमाण को सांसारिक पदार्थों से उत्पन्न पदार्थों की भाँति ईश्वर के अस्तित्व आदि में साधन (प्रमाण) मानते हैं। क्या इस 'जन्मादि' सूत्र में भी उसी अनुमान का उपन्यास किया गया है? नहीं, ऐसा नहीं किया गया है।

अभिप्राय यह कि जैसे संसार में बिना किसी जीव के बनाये कुछ बनता नहीं देखा जाता, क्या इस अनुमान को ही हम 'जन्माद्यस्य यतः' में लिखा गया मानें? स्वामीजी कहते हैं, नहीं।

यह प्रमाण नहीं हो सकता। यह केवल सहायक है। इसमें स्वामीजी प्रमाण देते हैं बृहदारण्यक उपनिषद् (२-४-५) का। परन्तु यह है उन लोगों के लिए जो उपनिषदों को प्रमाण मानते हैं। हमारा तो मत है कि दर्शन-शास्त्र वेदान्त-वाक्यों को प्रमाण न मानने वालों के लिए लिखे गए हैं।

स्वामीजी बुद्धि और युक्ति का प्रयोग करने में संकोच करते हैं। आप इसी सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्।

अर्थात्—सिद्ध वस्तु इस प्रकार है अथवा नहीं है? वैसा विकल्प नहीं किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता। विकल्प तो पुरुष-बुद्धि की अपेक्षा से होता है। सिद्ध वस्तु का यथार्थ ज्ञान पुरुष-बुद्धि की अपेक्षा नहीं करता।

और भी—

तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्। ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणानर्थिकैव प्राप्ता।

अर्थात्— इसलिए यदि ब्रह्म-ज्ञान में भी वस्तु-विज्ञान की भाँति ब्रह्म को सिद्ध करने में भी अन्य प्रमाणों को लेंगे तो वेदान्त-वाक्य अविचारणीय (व्यर्थ) सिद्ध हो जाएँगे।

आप आगे लिखते हैं -

तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्।

इस कारण 'जन्मादि सूत्र' अनुमान प्रमाण का प्रदर्शन नहीं करते।

वास्तव में ब्रह्म-सूत्रों में अन्य भी कई सूत्र हैं जो युक्ति से ब्रह्म की सिद्धि करते हैं। स्वामीजी को भय लग गया कि यदि युक्ति (बुद्धि) का प्रयोग किया गया तो वेदान्त-वाक्य व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे।

प्रश्न यह है कि यह सूत्र (जन्माद्यस्य यतः) युक्ति-युक्त है अथवा नहीं? यह सूत्र कहता है कि वस्तुओं का बनना, स्थिर रहना और प्रलय हो जाना बिना किसी के किये नहीं हो सकता। इस कारण इस (कार्य-जगत्) का बनाने वाला, पालन करने वाला और प्रलय करने वाला जो कोई भी है, हम उसे ब्रह्म कहते हैं। यह शुद्ध, सरल और अकाट्य युक्ति है। यह बिना किसी वेदान्त-वाक्य के आश्रय स्वयं सिद्ध है। साथ ही इस युक्ति से वेदान्त-वाक्य अविचारणीय नहीं हो जाते, वरन् सिद्ध होते हैं।

हमने ऊपर लिखा है कि प्रत्यक्ष प्रमाण अव्यक्त पदार्थों को सिद्ध नहीं कर सकते। कारण यह कि अव्यक्त इन्द्रियगोचर नहीं होता और इन्द्रियगोचर ही प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है।

'ब्रह्म है' यह तो सिद्ध हुआ, परन्तु ब्रह्म एक है अथवा एक से अधिक? यदि एक से अधिक ब्रह्म हैं तो उनकी जगत् के जन्म, मरण और प्रलय में क्या-क्या भूमिकाएँ हैं?

जहाँ तक ब्रह्म-सूत्रों का सम्बन्ध है, उनमें तीन प्रकार के ब्रह्म माने गए हैं। यद्यपि तीन के होने पर युक्ति द्वितीय पाद में की गयी है। वहाँ इन तीनों की उपस्थिति और इनमें भेद का उल्लेख है।

जब यह सिद्ध हो गया कि बिना कारण के कार्य नहीं होता और जगत् का कारण ब्रह्म है तो शेष बात (कि ब्रह्म तीन प्रकार के हैं) स्वतः सिद्ध हो जाती है। इस युक्ति का कि 'जन्मादि जिससे होता है वह ब्रह्म है' उप-सिद्धान्त ही है कि किसी वस्तु के बनने में कितने कारण हो सकते हैं और जब कार्य कारण में विलीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है तो कितने कारणों में विलीन होता है ? इससे यह भी सिद्ध होता है कि एक कारण भोक्ता भी है।

कार्य-जगत् में हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु के दो कारण रहते है। उपादान कारण और निमित्त कारण। अतः दोनों कारण ब्रह्म ही हैं। जगत् का उपादान कारण भी ब्रह्म कहलाता है और निमित्त कारण भी ब्रह्म ही कहलाता है।

पहला प्रश्न उपस्थित होता है कि वेदान्त-सूत्रों में कहीं ऐसा माना गया है क्या ? हमारा कहना है कि हाँ, माना गया है।

वेदान्त-सूत्र द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में इस बात का वर्णन है कि परमात्मा के अतिरिक्त एक जड़ (प्रकृति) पदार्थ भी जगत् का कारण है।

इस अध्याय के प्रथम पाद में ही यह प्रसंग उठता है कि जब ब्रह्म, जगत् के जन्मादि का कारण है तो अन्य स्मृतियाँ (शास्त्र) इसका समर्थन क्यों नहीं करतीं ? दर्शनाचार्य इस पूर्व पक्ष को उठाकर तुरन्त ही इसका उत्तर देते हुए उसके समर्थन में निम्न सूत्र प्रस्तुत करते हैं –

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात् ।।

(ब्र० सू० २-१-१)

स्मृतियों में अनवकाश दोष का प्रसंग है क्या ? यदि कहें है तो नहीं। अन्य स्मृतियों में अनवकाश दोष प्रसंग से।

इस सूत्र का अभिप्राय है कि कुछ स्मृतियों में प्रकृति को जगत् का कारण माना है, कुछ में परमात्मा को। वे एक-दूसरे का समर्थन नहीं करतीं। ब्रह्मसूत्रों का प्रणेता कहता है कि नहीं, अन्य स्मृतियों में अनवकाश दोष होने से अर्थात् खण्डन न होने से ऐसी बात नहीं।

उदाहरण के रूप में सांख्य में प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति लिखी है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति में ब्रह्म सहायक नहीं था।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों में प्रकृति का वर्णन किया है और फिर दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के सूत्र ४ तथा ५ में इस प्रकार लिख दिया है—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।। (२-१-४)

न विलक्षणत्वात् —(जगत् से) विलक्षणता न होने के कारण (प्रकृति-कारण है) तथात्वं —(कारण-कार्य में) समानता होने से शब्दात् ऐसा दूसरे (वे० द० ४-१-१) स्थान में भी कहा है। जगत् जड़ है तो इसका मूल कारण प्रकृति भी जड़ है।

आगे लिखा है—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।। (२-१-५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् --अभिमानि--अलंकार रूप में; उपदेश वर्णन किया है; विशेषानुगतिभ्याम् -- यह विशेष शैली (लिखने की विधि) के कारण है।

कई शास्त्रों में लिखा है कि मिट्टी बोली (शत० ब्रा० ६-१-३,४), मिट्टी बोली (श० ब्रा० ६-१-३-८), जल बोले (छा० उ० ६-२-३-४), उस तेज ने ईक्षण किया (बृ० उ० १-३-२), देवों ने वाक् को कहा। यहाँ प्राकृतिक वस्तुओं का चेतन के रूप में वर्णन अलंकारिक है।

इन सूत्रों पर स्वामी शंकराचार्य जी क्या कहते हैं और क्यों वह अमान्य है, इन्हीं सूत्रों के भाष्य में अन्यत्र देखिये। यहाँ तो इतना ही कहने से प्रयोजन है कि ब्रह्मसूत्रों में प्रकृति के उपादान कारण होने का उल्लेख है।

जगत् में एक तीसरा कारण भी विद्यमान् है। वह जीवात्मा है। प्राणियों में परमात्मा एवं प्रकृति के अतिरिक्त जीवात्मा भी है और प्राणी भी है और वह भी जगत् का भाग है। अत: जीवात्मायें भी जगत् बनने में कारण हैं।

यदि ये तीन ब्रह्म नहीं मानते तो जगत् की विभिन्न गतिविधियों का वर्णन नहीं हो सकता।

जीवात्मा का भी ब्रह्मसूत्र में वर्णन है। लिखा है---

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ (१-२-११)

गुहां---(मस्तिष्कगत हृदय देश रूप गुहा) में; प्रविष्टौ---प्रविष्ट किए हुए हैं; आत्मानौ---दो आत्मा हैं; तद् दर्शनात्---यह बात उनका दर्शन करने से विदित होती है।

इससे अगला सूत्र है --

'विशेषणाच्च' (१-२-१२)

यहाँ 'दर्शनात्' की व्याख्या की गयी है। दर्शन कैसे होता है ? लिखा है (विशेषणात् + च) लक्षण-भेद जानने से।

अर्थात्---दो प्रकार के आत्म-तत्त्वों के लक्षणों में अन्तर है। उस अन्तर को जानने से आत्म-तत्त्व एक के स्थान पर दो दिखायी देने लगते हैं।

अन्य भी कई स्थानों पर ब्रह्मसूत्रों के प्रणेता ने जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न प्रकट किया है। उदाहरण के रूप में---

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतर: ॥ (१-२-१७)

अनवस्थिते---भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थित। असम्भवात्---असम्भव अर्थात् न हो सकने के कारण। च न इतर---और नहीं दूसरा है।

इसका अभिप्राय है कि जीवात्मा गुहा में रहता है। वह भिन्न-भिन्न अंगों में नहीं रहता। प्राणी का एक अंग कट जाने से आत्मा मरता नहीं। वह समूचा-का-समूचा विद्यमान् रहता है। अत: सब अंगों में समान रूप से विद्यमान् कोई दूसरा (परमात्मा) है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मसूत्रों में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति का उल्लेख है और तीनों का भिन्न-भिन्न अस्तित्व माना गया है। इसके साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मसूत्रों ने युक्ति से इसका वर्णन किया है, परन्तु यही बात वेद में भी वर्णन की गयी है।

ऋग्वेद (१-१६४-२०) में लिखा है —

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

एक वृक्ष पर दो सुपर्णा सह-योनि सखा बैठे हैं। एक सखा तो वृक्ष के फलों को खाता है और दूसरा केवल साक्षी के रूप में देखता है।

यहाँ 'द्वा सुपर्णा' से अभिप्राय दो आत्म-तत्त्वों से है। ये दोनों चेतन स्वरूप बताये गए हैं। एक फलों को खाता है और दूसरा केवल देखता है। ये चेतनता के लक्षण हैं।

और भी प्रमाण हैं —

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

(अथर्व० १०-८-४३)

इसका अभिप्राय है—नौ द्वार वाले त्रिगुणात्मक प्रकृति से बने इस कमल समान शरीर में यक्ष (जीवात्मा) आत्मन् वत् (परमात्मा स्वामी की भाँति) रहता है। ब्रह्मवादी उसे जानकर परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं।

और भी है—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सञ्च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥

(यजु० ३२-८)

(वेनः) ज्ञानवान् पुरुष (तत्) उस परमात्मा को (गुहा निहितम्) गुहा में विद्यमान् (सत् पश्यत्) सत् रूप में देखते हैं। जिसमें (विश्वम् भवति एक नीडम्) विश्व एक ही आश्रय पर स्थित है। (तस्मिन्) उसमें (इदम्) यह कार्य जगत् (सम् एति) लीन हो जाता है प्रलय काल में। (च) और (वि एति) विविध प्रकार से प्रकट होता है, रचना काल में। (सः) वह परमेश्वर (प्रजासु विभुः) सब प्राणियों में व्यापक है, (ओतः प्रोतः च) ओत-प्रोत है।

यहाँ प्राणी के मस्तिष्क-स्थित गुहा में परमात्मा की विद्यमानता का भी आभास व्यक्त किया है।

तीनों को ब्रह्म कहा जाता है, यह श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी लिखा है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते, अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म, तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा, लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ता ।।

(श्वे० १-६-७)

(सर्वाजीवे) सब प्राणियों में (सर्व संस्थे) सबका आश्रय, (अस्मिन्) इस (बृहन्ते) महान् (ब्रह्मचक्रे) ब्रह्मचक्र में, (हंसो) जीवात्मा (भ्राम्यते) भ्रमण करता है। और इसे (पृथगात्मानं) पृथक् आत्मा को (प्रेरितारं) प्रेरणा देने वाला परमात्मा (मत्वा) मानकर, (जुष्टः ततः तेन) और उसमें लीन हुआ (अमृतत्वम्) अमृत अर्थात् मोक्ष को (एति) प्राप्त होता है।

(उद्गीत) ऊपर वर्णित (एतत् परमं तु ब्रह्म) वे परम ब्रह्म हैं। (तस्मिन् त्रयं) उसमें तीनों [ब्रह्म चक्र, जीव समूह और प्रकृति] (सुप्रतिष्ठाक्षरं च) अच्छी तरह प्रतिष्ठित अक्षर हैं, (अत्रान्तरं) इनमें भेद को (ब्रह्मविदो विदित्वा) जानकर ब्रह्मज्ञानी (लीना ब्रह्मणि) परमात्मा में लीन (तत्परा) उसी में तत्पर हैं और (योनिमुक्ताः) जन्म-मरण से मुक्त हैं।

यहाँ भी तीनों को ब्रह्म माना है। यहाँ एक बात और कही है कि ब्रह्मज्ञानी परमात्मा में लीन चौथी वस्तु है।

यह पूछा जा सकता है कि तीनों को ब्रह्म किसलिए कहा है? वह इस कारण कि तीनों में अक्षर, अनादि और अव्यक्त होने की समानता है। इस समानता के लिए ही इनको समान रूप में ब्रह्म कहा है।

भगवद्गीता (८-३) में भी अक्षर को ब्रह्म कहा है। अक्षरं ब्रह्म—अक्षर ब्रह्म है और अक्षर क्या है? भगवद्गीता में ही उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । (१३-१९)

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। कहा है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।

(भ० गी० १३-२०, २१)

इसका अर्थ है—(करण) इन्द्रियाँ और उनके कर्म में कारण प्रकृति है। पुरुष (जीवात्मा) सुख-दुःख भोगने में कारण है।

पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति में रहता हुआ प्रकृति से उत्पन्न गुणों का भोग करता है। गुणों के संग से अच्छे और बुरे जन्म पाता है।

इन दोनों से परमात्मा को पृथक् माना है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।। (भ० गी० १३-२२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—साक्षी, यथार्थ सम्मति देने वाला, सबको धारण करने वाला, और प्रलय करने वाला महेश्वर (परमात्म तत्त्व) है। इस देह में (ऊपर वर्णित) पुरुष दूसरा है।

और भी स्पष्ट किया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(भ० गी० १५-१६-१७)

इस लोक में क्षर और अक्षर दो प्रकार की वस्तुएँ हैं। क्षर है कार्य-जगत् और अक्षर है जीवात्मा, जो प्राणी की गुहा में रहता है। एक अन्य उत्तम पदार्थ है जो परमात्मा (ईश्वर) कहा गया है। वह तीनों लोकों में विराजमान है और सबको धारण करता है।

इस प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि तीन तत्त्व हैं। कार्य-जगत् तो अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न होता है। अव्यक्त प्रकृति भी अक्षर है अर्थात् अनादि है। जीवात्मा जो प्राणी की गुहा में रहता है, वह भी अनादि और अक्षर है। एक अन्य अक्षर है, जिसे परमात्मा तथा ईश्वर कहते हैं। वह सबसे उत्तम है और उसे वेदों में तथा संसार में पुरुषोत्तम कहा है।

वेदान्त-दर्शन (ब्रह्मसूत्रों) में भी तीन तत्त्व बताये हैं। वे हैं परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति।

हमारा अभिप्राय है कि ये तीनों अक्षर हैं और इन तीनों को ब्रह्म मानकर ही यह सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' कहा गया है। अर्थात् जन्म, पालन और प्रलय में कारण ब्रह्म है। ब्रह्म तीन हैं—प्रकृति, परमात्मा और जीवात्मा-समूह।

प्रकृति उपादान कारण है। परमात्मा निमित्त कारण है और जीवात्मा-समूह साधारण कारण है। यह इसलिए कि जगत् की रचना इसके प्रयोग के लिए ही है।

जैसे मिट्टी घड़े का उपादान कारण होती है, कुम्हार घड़े का निमित्त कारण होता है और घड़े का ग्राहक भी घड़े के बनने में कारण होता है। ग्राहक न हो तो घड़ा बनाया ही नहीं जाता।

यद्यपि ब्रह्मसूत्रों में तथा अन्य कई उपनिषदों में प्रकृति और जीवात्मा को स्पष्ट रूप में ब्रह्म नहीं कहा गया; इस पर भी हमारा ऐसा मत है कि प्राचीन काल में तीनों को ब्रह्म समझा जाता था और ब्रह्म शब्द का अर्थ करते समय पूर्वापर का सम्बन्ध लगाकर ब्रह्म का अर्थ करना चाहिए। जहाँ जैसा अर्थ उपयुक्त हो, वैसा ही मानना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म शब्द प्रायः परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। अनेक स्थानों पर यह आत्मा और परमात्मा दोनों के लिए आया है और कहीं-कहीं परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तीनों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। आत्मा शब्द परमात्मा और जीवात्मा दोनों के लिए प्रयोग किया गया है।

भगवद्गीता और श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी स्पष्ट रूप में कह दिया गया है कि प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा तीनों अजन्मा और अव्यक्त होने के कारण ब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस सूत्र का भाष्य करते हुए स्वामी शंकराचार्य ने यह सिद्ध करने के लिए कि परमात्मा की सिद्धि में अनुमान-प्रमाण और युक्ति निरर्थक है, उपनिषदादि ग्रन्थों के कई उदाहरण दिये हैं। उन उदाहरणों को पढ़ने से यह तो विदित होता है कि परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है परन्तु उनमें यह कहीं भी नहीं कहा कि युक्ति से उनमें कही बात सिद्ध नहीं होती। दर्शन उपनिषदादि ग्रन्थों में कहे वाक्यों को युक्ति से सिद्ध करने के लिए कहे गये हैं।

इस सूत्र से स्पष्ट होता है कि—

(१) ब्रह्म केवल परमात्मा नहीं है। ब्रह्म तीन हैं-- मूल-प्रकृति, जीवात्मा-समूह और परमात्मा।

(२) 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र युक्ति-युक्त है और यह युक्ति किसी वेदादि प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। यह युक्ति उस सत्य को सिद्ध करती है जिसे वेद-वाक्यों में प्रकट किया गया है।

जितने भी उपनिषद् वाक्यों के प्रमाण स्वामी शंकराचार्य ने इस सूत्र के भाष्य में दिये हैं, वे असंगत हैं। वे उस बात को सिद्ध नहीं करते, जिसको स्वामीजी सिद्ध करना चाहते हैं।

शास्त्रयोनित्वात् ॥३॥

(शास्त्रस्य) शास्त्र का (योनित्वात्) उद्गम स्थान ब्रह्म होने से।

यहाँ पुनः युक्ति की गयी है कि वेद ज्ञान को देने वाला ब्रह्म है। मनुष्य को ज्ञान किसी से मिलता है। आरम्भ में ज्ञान देने वाला परमात्मा था।

मनुष्य बिना किसी के बताये ज्ञानवान् नहीं बन सकता, यह सर्व प्रसिद्ध है।

इस विषय में एक अमेरिकन समाजशास्त्री का कथन हम यहाँ उद्धृत कर दें तो बात स्पष्ट हो जाएगी। आर० एम० मैकाइवर ने अपने एक सहयोगी चार्ल्स एच० पेज के साथ मिलकर एक पुस्तक सोसायटी (Society) लिखी है। वे इस पुस्तक के पृष्ठ ४२ पर लिखते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

There is good reason why we should reject this theory. For the theory rests upon the false assumption that human beings are, or could become, human beings outside of or apart from society.

पर्याप्त कारण है कि हम इस वाद को अस्वीकार कर दें; क्योंकि यह एक मिथ्या आधार पर टिका है कि मानव समाज में रहे बिना अर्थात् समाज के बाहर अथवा समाज के बिना एक मानव मानव बन सकता है। (अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर सकता है।)

इन समाजशास्त्रियों का मत है कि बिना समाज के मनुष्य, मनुष्य नहीं बन सकता। ये मानते हैं कि समाज में रहता हुआ ही मनुष्य उन्नति कर सका है।

इन समाजशास्त्रियों का विचार है कि जॉन स्टुअर्ट मिल इत्यादि का यह कहना गलत है कि—Society has no common sensorium, no central organ of perception or of thought. For it is only individuals who think and feel.

ये समाजशास्त्री इस विचार की पुष्टि में, कुछ निर्दयतापूर्ण परीक्षण, जो जाने अथवा अनजाने में किए गये हैं, अपनी पुस्तक के पृष्ठ ४४-४५ पर इस प्रकार उद्धृत करते हैं —

The famous case of Kaspar Hauser is peculiarly significant because this ill-starred youth was in all probability bereft of human contacts through political machinations and therefore his condition when found could not be attributed to a defect of innate mentality. When Hauser at the age of seventeen wandered into the city of Nuremberg in 1828 he could hardly walk, had the mind of an infant, and could mutter only a meaningless phrase or two. Sociologically it is noteworthy that Kaspar mistook inanimate objects for living beings. And when he was killed five years later a post-mortem revealed the brain development to be subnormal. The denial of society to Kaspar Hauser was a denial to him also of human nature itself.

One of the most interesting of the feral cases involves two Hindu children who at the ages respectively of about eight and under two, in 1920, were discovered in a wolf den. The younger child died within a few months of discovery, but the elder, Kamala, as she became named, survived until 1929, and her history in human society has been carefully recorded. Kamala brought with her almost none of the traits that we associate

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

with human behaviour. She could walk only on all fours, possessed no language save wolf like growls, and was as shy of humans as was any other undomestic animal. Only as the result of the most careful and apparently sympathetic training she was taught rudimentary social-habits—before her death she had slowly learned some simple speech, human eating and dressing habits, and the like.

More recently sociologists and psychologists have studied the case of Anna, an illegitimate American child who had been placed in a room at the age of six months and isolated there until her discovery five years later in 1938. During her confinemet Anna was fed little else than milk, received no ordinary training, and had almost no contacts with other beings. This extreme and cruel social isolation, which provides the scientists one more 'laboratory' case, left the child with few of the attributes of the normal five-year-old. When Anna was discovered she could not walk or speak, she was completely apathetic, and indifferent to people around her.

इन उद्धरणों का भावार्थ इस प्रकार है—

(१) कैस्पर हाउज़र का उद्धरण स्पष्ट है। कदाचित् यह लड़का किसी राजनैतिक षड्यन्त्र के कारण समाज से पृथक् किया गया था। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि यह जन्म से ही हीन मन और बुद्धि वाला था। सन् १८२८ में यह लड़का १७ वर्ष की आयु में न्यूरम्बर्ग की सड़कों पर घूमता हुआ देखा गया। उस समय यह कठिनाई से चल सकता था। इसकी मानसिक अवस्था एक शिशु की-सी थी और केवल एक-दो अर्थहीन वाक्य ही बोल सकता था। यह निर्जीव वस्तुओं को जानदार समझता था। पाँच वर्ष उपरान्त जब वह मरा तो इसके मस्तिष्क की निधनोत्तर परीक्षा की गई और पता चला कि इसका मस्तिष्क अविकसित था।

(२) आठ और उससे नीचे की वयस् के दो बच्चे भेड़िये की गार में पाये गये। छोटा तो मिलने के कुछ ही दिन उपरान्त मर गया था। बड़ा जिसका नाम कमला रखा गया था, ६ वर्ष तक जीवित रहा। मानव समाज में उसके इतिहास को लिखा गया है। कमला में, जब वह मिली थी, ऐसे लक्षणों का सर्वथा अभाव था, जो मनुष्य में होते हैं। वह टाँगों और बाँहों के बल पशुओं की भाँति चलती थी। भेड़िये की भाँति गुर्राने के अतिरिक्त अन्य भाषा नहीं जानती थी। वह वन्य-पशुओं की भाँति मानवों से दूर रहती थी। बहुत कठिनाई से उसमें बहुत ही प्रारम्भिक मानव-लक्षण उत्पन्न किए जा सके थे और मरने के समय तक उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारण बोलने का ढंग तथा वस्त्र पहनना ही सिखाये जा सके थे।

(३) अभी-अभी एक अमरीकी अवैध लड़की पर परीक्षण किया गया है। यह छः मास की आयु में एक कमरे में वन्द कर दी गई थी और पाँच वर्ष के उपरान्त सन् १९३८ में वह मिली। कमरे में वन्द रखने की अवधि में वह केवल दूध पर पलती रही थी। उसका सम्पर्क बाहर के किसी व्यक्ति से नहीं रहा और उसे किसी प्रकार की शिक्षा नहीं मिल सकी थी। वह न तो चल सकती थी और न ही बोल सकती थी। इसका देहान्त सन् १९४२ में हुआ। इसमें इस आयु के गुण बहुत ही कम मात्रा में और अति कठिनाई से लाए जा सके थे।

इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य बिना किसी से ज्ञान और शिक्षा प्राप्त किए मनुष्य नहीं बन सकता। यूरोपीय समाजशास्त्री तो इस बात पर विचार नहीं करते कि मनुष्य समाज में मानवोचित ज्ञान कैसे आया, कहाँ से आया? इनका केवल इतना कहना है कि व्यक्ति के विकास के लिए समाज की स्थिति आवश्यक है। ये परमात्मा के अस्तित्व को मानते नहीं। इस कारण ये विकासवाद का आश्रय लेते हैं।

उक्त उदाहरणों से, जिसमें समाज से पृथक् हो गए, बालक अविकसित मन के रहे हैं, यही सिद्ध होता है कि यह विकास जैसे एक ही जन्म में छूट गया है, वैसे एक ही जन्म में हो भी सकता है। ये बालक जैसे कुछ ही वर्षों की शिक्षा से वंचित रहने पर पशु ही बने रहे, वैसे मनुष्य कुछ ही वर्षों की शिक्षा से पशुपन मन वाले से मनुष्य जैसे विकसित मन वाला बनाया जा सकता है।

भारतीय-शास्त्र यह कहते हैं कि सृष्टि के आदि में मानव-समाज को ईश्वर ने ज्ञान दिया। यूरोपीय विकासवादी मानते हैं कि समाज ने धीरे-धीरे उन्नति की, कुछ उत्तराधिकार में पाकर और कुछ स्वतः आविष्कार करके। भारतीय समाज-शास्त्री ऐसा नहीं मानते। यदि ऐसा होता तो नवीन प्राचीन से उन्नत होता। मानव पहले से आज अधिक सामर्थ्यवान् होता। इसकी वाणी में उन्नति होती। प्राचीन से आज तक चली आने वाली भाषा में उन्नति होती। ऐसा नहीं है। मानव-मन, बुद्धि और इन्द्रियों की सामर्थ्य में ह्रास हो रहा दिखाई देता है। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान भी यही प्रकट करता है। प्राचीन भाषाएँ वर्तमान काल की भाषाओं से अधिक कलात्मक, अधिक भावपूर्ण और अधिक विकसित थीं।

विकास के सिद्धान्त के उस रूप को जो डार्विन के अनुयायी घोषित करते हैं, न तो सिद्ध किया जा सकता है और न ही ऐसा देखने में आता है। इस सिद्धान्त से विकास की शृंखला तीन भागों में बाँटी जा सकती है—

(१) जड़ से चेतन का बनना अर्थात् प्रथम जीव-कोषाणु कैसे निर्माण हुआ?

(२) जीव-कोषाणुओं से उत्तरोत्तर उन्नत प्राणियों का उत्पन्न होना। इस प्रकार अमीबा एक-कोषाणु प्राणी से चलकर एक उन्नत मानव कैसे बना?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) मानवों में उन्नति हुई है अथवा नहीं ?

शृंखला के प्रथम दो भागों के प्रमाण तो प्रकृति में ढूँढ़ने होंगे। आज तक किए गये खोज के प्रयत्नों से कोई निर्णयात्मक प्रमाण नहीं मिला। न तो अभी तक कहीं जड़-पदार्थ जीवित प्राणी में परिवर्तित होता देखा गया है और न ही कहीं ऐसा दिखाया जा सका है। न ही एक योनि के प्राणी किसी दूसरी योनि में बदलते देखे जाते हैं अथवा बदले जा सके हैं।

कुछ स्थानों पर समानता में समीप-समीप की योनियों में समागम से जीव उत्पन्न होते तो देखे जाते हैं। जैसे घोड़े और गधे के समागम से खच्चर का जन्म। इसी प्रकार भेड़िये और कुत्ते के समागम से मिली-जुली सन्तति का बनना; परन्तु इनसे कोई नवीन योनि निर्माण नहीं होती। यहाँ तक कि वृक्षों में भी कलम लगाने की कला से नवीन प्रकार का बीज नहीं बनाया जा सका।

इसी प्रकार अविकसित मनुष्य विकसित हो जाता है; परन्तु यह योनि-परिवर्तन का लक्षण नहीं है। सब मानव एक ही योनि में हैं और मानव की सदा उन्नति ही नहीं होती रहती, कभी ह्रास भी होता है। अर्थात् एक ही योनि में उन्नति अथवा ह्रास के लक्षण मिलते हैं। इसे विकास नहीं, वरन् परिवर्तन की संज्ञा दी जा सकती है। ये परिवर्तन बीजगत नहीं होते। ये वातावरण, भोजन और शिक्षा के परिणामस्वरूप होते हैं। इनका प्रभाव शरीर पर तो होता है, परन्तु ये परिवर्तन विकास की श्रेणी में इस कारण नहीं आते, क्योंकि ये स्थायी नहीं होते और साथ ही इनमें गति दोनों ओर चलती है, उन्नति की ओर भी तथा अवनति की ओर भी।

अतः विकास-शृंखला का प्रमाण न तो युक्ति में है और न ही प्रत्यक्ष अनुभव में।

भाषा में ह्रास तो इस बात का लक्षण है कि मानव शक्तियों में विकास नहीं, वरन् ह्रास हो रहा है। मनुष्य की उच्चारण सामर्थ्य में कमी होने से भाषा के अक्षरों में कमी हो रही है। एतदर्थ उच्चारण विकृत हो रहा है। उच्चारण में कठिन अक्षर और कठिन शब्द भाषा में से निकलते जा रहे हैं।

इसका निष्कर्ष यह है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य एवं सब प्रकार के प्राणी पूर्ण बने। पहले वनस्पतियाँ बनीं, तदनन्तर पशु, पक्षी इत्यादि बने और सबके अन्त में मनुष्य बने। प्रत्येक प्राणी में विकास एवं ह्रास हो रहा है। मनुष्य का मन और उसकी बुद्धि विकास में उत्कृष्ट होने से इसमें ज्ञान ग्रहण करने की सामर्थ्य है, परन्तु यह सामर्थ्य सम्पर्क से विकास पाती है। सम्पर्क का अर्थ है किसी से सीखना। इसी युक्ति और वस्तु स्थिति से यह मानना पड़ता है कि मनुष्य को प्रारम्भिक ज्ञान बिना किसी के सिखाये नहीं मिला। इसी से ईश्वरीय सहाय की बात सिद्ध होती है।

यदि मैकाइवर की इस युक्ति को मान लें कि समाज में रहता हुआ मनुष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्नति कर सकता है तो अफ्रीका के हब्शी अथवा अमरीका के मूल निवासी भी तो समाज में रहते रहे थे। वे भारत, चीन अथवा यूरोप के रहने वालों की भाँति विकसित मन वाले क्यों नहीं हो सके? उनमें अब उन्नति होने लगी है। क्योंकि यातायात के साधनों में विकास होने से उनका सम्पर्क ज्ञान-प्राप्त जातियों से हुआ है। इससे यही सिद्ध होता है कि ईश्वरीय ज्ञान ही ज्ञान का मूल स्रोत रहा है। जो जातियाँ उस ज्ञान से जितनी दूर गयीं, उतनी ही पिछड़ी रहीं। समाज में उनका मानसिक विकास नहीं हो सका।

अतः दर्शन-शास्त्र की यह युक्ति है कि मानव-समाज को ज्ञान देने वाला कोई होना चाहिए और वह ज्ञान देने वाला ब्रह्म है।

ज्ञान देने में भी तीन हेतु होने चाहिएँ। ज्ञान देने वाला, किसी वस्तु अथवा घटना का ज्ञान और ज्ञान प्राप्त करने वाला। तीनों ब्रह्म हैं। ज्ञान देने वाला परमात्मा है। ज्ञान प्राप्त करना है जगत् का और जगत् के मूल स्वरूप का; तथा ज्ञान प्राप्त करने वाला जीवात्मा है।

यदि मूल पदार्थ एक ही (परमात्मा) होता तो ज्ञान देने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। किसका ज्ञान और किसको? ये प्रश्न उत्तर रहित हो जाते।

अतः सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' का अभिप्राय है कि जो ज्ञान की योनि अर्थात् उद्गम स्थान है, वह ब्रह्म है। अभिप्राय यह कि ज्ञान देने वाला ब्रह्म है। कई भाष्यकार इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार कहते हैं—शास्त्र = वेद; योनि = कारण = प्रमाण; अर्थात् ब्रह्म का प्रमाण शास्त्र (वेद) से पता चलता है।

हमारा मत है कि यह अर्थ खींचातानी से किया गया है। इसका ठीक अर्थ यह है कि शास्त्र का उद्गम स्थान होने से ब्रह्म की सिद्धि होती है।

स्वामी शंकराचार्यजी 'शारीरिक' भाष्य में इसके विषय में यह लिखते हैं—

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति।

अनेक विद्याओं को रखने वाले दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाशन करने वाले सर्वज्ञ के तुल्य शास्त्र (वेद आदि) की योनि ब्रह्म है। ऐसे शास्त्र (ऋग्वेदादि) सर्वज्ञ, सर्वगुण सम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी से नहीं हो सकी।

यह स्पष्ट है कि स्वामी शंकराचार्यजी ने वही अर्थ किए हैं, जो हम ऊपर लिख आए हैं। परन्तु अनावश्यक रूप में स्वामीजी पुनः उसी विवाद में पड़ गये हैं, जिसका हम पूर्व में खण्डन कर चुके हैं।

इस सूत्र के भाष्य को समाप्त करने से पूर्व स्वामीजी ने एक प्रश्न उठाया है कि जब वेद क्रिया-परक हैं, तो जो अक्रिया-परक हैं, उनका वेद में प्रमाण ढूंढ़ना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरर्थक है। इस प्रश्न को तनिक अधिक सरल भाषा में लिख दें तो यह इस प्रकार होगा—वेदों में कर्म-काण्ड की चर्चा है। इस कारण ब्रह्म जो अकर्ता है, उसका उल्लेख वहाँ नहीं हो सकता। अतः सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' के अर्थ यह नहीं हो सकते कि शास्त्र ब्रह्म का प्रमाण है। स्वामीजी का विचार है कि इस शंका का समाधान अगले सूत्र में है।

पूर्व पक्ष का वास्तविक उत्तर तो यह होना चाहिए कि वेद में ब्रह्म प्रमाणित है; क्योंकि वेद केवल क्रिया-परक ही नहीं हैं, वरन् वेदान्त (अध्यात्म ज्ञान) का मूल भी वेद में है। परन्तु स्वामीजी पूर्वग्रहों से ग्रसित पूर्व-पक्ष का ठीक उत्तर नहीं दे सके। वेद अध्यात्म-ज्ञान के देने वाले भी हैं।

वास्तव में वेद में अध्यात्म का स्वरूप भली-भाँति वर्णन किया है। ऋग्वेद दशम् मण्डल का ७२वाँ सूक्त तथा १२९वाँ सूक्त इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त ऋ० १-१६४-२८, ऋ०१-१५४-४, ऋ० ३-२६-७, ऋ० ४-४२-४, ऋ० ६-४४-२३, ऋ०८-४०-१२, यजु० १८-६६, यजुर्वेद का सम्पूर्ण ४०वाँ अध्याय, अथर्व० १०-८-४३, अथर्व० २०-८३-१ कुछ उदाहरण हैं। प्रकृति का भी जगत् रचना में उल्लेख आया है। उदाहरण के रूप में ऋ० १-१६४-३८, ऋ० १०-१२९-२, ऋ० १०-६४-५, ऋ० १-८९-२०, ऋ० १०-७२-८, ऋ० ३-३६-७, ऋ० ४-४२-४, ऋ० ६-४२-२२, ऋ० १-१६४-२०, ऋ० १०-८१-४।

वास्तविकता यह है कि बौद्धों द्वारा यह भ्रम फैलाया गया था कि वेदों में यज्ञादि कर्म का उल्लेख है, अतः वे कर्म-काण्ड मात्र के ग्रन्थ हैं। स्वामी जी उसका समर्थन करते हैं। यदि स्वामीजी को वेदार्थ का वास्तविक ज्ञान होता तो वह वेदों के प्रति बौद्ध मत स्वीकार न करते।

ईश्वर के स्वरूप के विषय में यजुर्वेद में एक बहुत ही सुन्दर मन्त्र है—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (यजु ४०-८)

वह सर्वव्यापक परमात्मा शुद्ध, शरीर रहित, विकारों से रहित, बन्धनों से रहित, पापों से मुक्त विद्वान् मनीषी, सबसे ऊपर, स्वयं प्रकट होने वाला, न्यायोचित व्यवहार रखने वाला, सबको रचता है और धारण करता है।

यह हम बता आये हैं कि दर्शन-शास्त्र में युक्ति (अनुमान) प्रमाण ही मुख्य है। शास्त्र का उल्लेख सूत्रों में बहुत कम हुआ है। जहाँ हुआ है, वह इस निमित्त है कि युक्ति वेद-शास्त्र निहित सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। स्वामीजी यह भूल कर रहे हैं कि वे दर्शन-शास्त्र में भी अनुमान प्रमाण को गौण प्रमाण मान शास्त्र को टटोलनें लगते हैं। अतः प्रश्न निरर्थक था और उसका उत्तर तो उससे भी अधिक भ्रमोत्पादक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्तु समन्वयात् ॥४॥

तत्+तु+समन्वयात्।

तत्=वह; तु=इस कारण; समन्वयात्=समन्वय से (सिद्ध होता है)।

समन्वय=सम्+अन्वय; अन्वय=कार्य कारणानुवृत्ति। कारणस्यानुसरणं कारणरूप कार्यस्थितिः।

अभिप्रायः यह है कि समान कार्य-कारण की प्रवृत्ति को समन्वय कहते हैं। कार्य-कारण की प्रवृत्ति से अभिप्राय है इस कारण का कार्य में अनुसरण होना। कारण से कार्य का उत्पन्न होना।

परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति भी कारण से कार्य की उत्पत्ति है। इसका उल्लेख 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १-१-२) में कर आये हैं। अतः जन्म के उपरान्त इस जगत् में जो संयोग-वियोग हो रहा है, वह करने वाला भी ब्रह्म है, ऐसा कहा है।

संघटन और विघटन में भी तीन पक्ष स्पष्ट हैं। करने वाला अर्थात् निमित्त कारण, जिसमें संघटन-विघटन हो रहा है अर्थात् उपादान कारण और जिसके लिए यह सब-कुछ हो रहा है अर्थात् जीवात्मा-समूह। तीनों ही ब्रह्म हैं।

संघटन-विघटन का क्रम सांख्य-दर्शन में वर्णन किया है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। (सां० १-६१)

इस संघटन-विघटन में भी ब्रह्म कारण है।

प्रकृति से चौबीस गण बनते हैं। पच्चीसवाँ पुरुष (जीवात्मा) है। ये सब संयोग ब्रह्म के कारण हैं, परमात्मा द्वारा प्रकृति में जीवात्मा-समूह के लिए।

यह है अर्थ इस सूत्र (तत्तु समन्वयात्) का। जिससे यह समन्वय होता है, वह ब्रह्म है। भगवद्गीता में लिखा है—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधाराय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (७-६, ७)

अर्थात्—ऐसा समझो कि सब इन दो (प्रकृति और जीवात्मा-समूह) से धारण किया हुआ है। परमात्मा सब जगत् को बनाने वाला है।

परमात्मा से ऊपर और कुछ नहीं। यह सम्पूर्ण (जगत्) माला के मनकों की भाँति सूत्र (परमात्मा) से गुँथा हुआ है।

स्वामी शंकराचार्य आधारभूत भूल यह करते रहे हैं कि वे दर्शन-शास्त्र को उपनिषद् इत्यादि ग्रन्थों का अंग मात्र मानते हैं। वे इन्हें स्वतन्त्र शास्त्र नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानते। इसी कारण प्रत्येक स्थान पर वे दर्शन-शास्त्र की युक्ति को युक्ति न समझ उसके निष्कर्षों को उपनिषद् इत्यादि वाक्यों से सिद्ध करने लगते हैं।

वास्तविकता यह है कि दर्शन-शास्त्र स्वतन्त्र शास्त्र है। वैदिक दर्शन-शास्त्र वेदों की मान्यताओं को युक्ति से सत्य सिद्ध करने के निमित्त लिखे गये हैं। स्वामी शंकराचार्य इसको समझ नहीं सके और उपनिषद् इत्यादि के जो भी प्रमाण उन्होंने दिये, वे प्राय: अनुपयुक्त हैं। वे किसी भी बात को सिद्ध नहीं कर पाते।

इस सूत्र के भाष्य में भी स्वामीजी अपने मत को प्रकट करने के लिए कुछ उपनिषदों के उद्धरण देते हैं। इस सूत्र के विषय में स्वामीजी का मत यह है—

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तत् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थिति-लयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते। कथम् ? समन्वयात्। सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि।

अर्थात्—तु शब्द पूर्व-पक्ष के निराकरण के लिए है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति-लय का कारणभूत वह ब्रह्म वेदान्त-वाक्यों से ही अवगत् होता है। कैसे ? समन्वय से। सब वेदान्त-वाक्यों में उनके तात्पर्य अर्थों के प्रतिपादक रूप में समनुगत अर्थात् समन्वित हैं।

आप आगे लिखते हैं—

न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमाने-ऽर्थान्तरकल्पना युक्ता; श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसंगात्। न च तेषां कर्तृस्वरूपतिप-प्रादनपरतावसीयते,

ऊपर कहे पदों में ब्रह्मस्वरूप के विषय में निश्चित समन्वय जान लेने पर अन्यार्थ की कल्पना युक्त नहीं। क्योंकि ऐसा करने से श्रुत (शास्त्रवाक्य) की हानि और अश्रुत अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी। इससे इन वाक्यों में कर्ता के स्वरूप-प्रतिपादन में निश्चय नहीं होता।

इसका अभिप्राय यह है कि इस सूत्र (तत्तु समन्वयात्) का अर्थ यह होना चाहिए कि श्रुति में ब्रह्म के स्वरूप को सत्य मान लो। यदि यह नहीं मानते तो श्रुति की बात अमान्य हो जाएगी और अश्रुति की बात की कल्पना होने लगेगी। इससे तो परमात्मा का स्वरूप (जैसा उपनिषदादि ग्रन्थों में वर्णन किया गया है) व्यर्थ हो जाएगा।

यह न तो इस सूत्र का अर्थ है, न ही जो अर्थ ऊपर हमने किए हैं, उनसे किसी प्रकार की श्रुति ग्रन्थों पर अश्रद्धा उत्पन्न होती है। परमात्मा का स्वरूप भी नहीं बिगड़ता।

स्वामीजी व्यर्थ में चिन्ता करने लगे हैं कि यदि ब्रह्म के स्वरूप को श्रुति-ग्रन्थों के अतिरिक्त जानने का यत्न किया तो अनर्थ हो जाएगा। सूत्र में समन्वयात् का अर्थ शास्त्र से समन्वय का नहीं, वरन् जगत् में चल रहे समन्वय से है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि चल रहे हैं, परन्तु उनमें कभी टक्कर नहीं होती। सम्पूर्ण जगत् का कार्य ऐसे चल रहा है और उसमें ऐसा समन्वय है कि वह किसी ज्ञानवान्, चेतन, शक्तिमान् सत्ता के बिना सम्भव नहीं हो सकता और ऐसा करने वाली सत्ता ब्रह्म है।

स्वामीजी ने अपने कथन में कुछ उपनिषद् इत्यादि ग्रन्थों के प्रमाण दिये हैं। उन प्रमाणों के अर्थ भी भ्रामक हैं। क्योंकि जो कुछ वह उन प्रमाणों से सिद्ध करना चाहते हैं, उनसे वह सिद्ध नहीं होता।

परन्तु स्वामी शंकराचार्य का कहना तो यह है कि क्योंकि उपनिषदों के इन उद्धरणों में ब्रह्म का स्वरूप वर्णित है, अतः इस सूत्र (तत्तु समन्वयात्) का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म का स्वरूप जानने के लिए उक्त वेदान्त-वाक्यों से जान लो। समन्वय का अर्थ है परमात्मा का शास्त्र में समन्वय। ऐसा स्वामीजी का मत है।

हमने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि जगत् में हो रहा समन्वय भी ब्रह्म के कारण ही है। हमारा अर्थ क्यों अधिक युक्ति-संगत है, यह हमने बता दिया है।

दर्शनाचार्य युक्तियों की एक श्रृंखला प्रस्तुत करता है। पहले बताया है, जिससे जगत् की उत्पत्ति, पालन और प्रलय होती है, वह ब्रह्म है। तदुपरान्त यह बताया कि जगत् में प्राणी के लिए ज्ञान का स्रोत ब्रह्म है। अब यह बताया है कि उत्पत्ति के उपरान्त जिससे सब कार्य समन्वय रूप में चलता है, वह ब्रह्म है।

यही ठीक प्रतीत होता है।

स्वामी शंकराचार्य ने इधर-उधर की बहुत बातें लिखने का यत्न किया है, परन्तु यह विषयान्तर होने से हमने छोड़ दी हैं। उनका सूत्रार्थ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

इस पर भी एक-दो बातें लिख दें तो पाठकों को इस बात का ज्ञान हो जाएगा कि भाष्य ग्रन्थ एवं सूत्र का उसके साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं। एक निरर्थक विवाद खड़ा कर पाठकों के मन को भ्रम में डालने का ही प्रयास प्रतीत होता है।

निम्न उद्धरण स्वामीजी के शारीरिक भाष्य(१-१-४) के भाष्यान्तर्गत ही है। आप लिखते हैं—

यत्तु—हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैव दोषः; हेयोपादेयशून्य-ब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः।

क्या हेयोपादेय रहित होने से ब्रह्म का उपदेश निष्फल है? (यह प्रश्न है) यह दोष नहीं (स्वामीजी का उत्तर है)। क्योंकि हेयोपादेय रहित ब्रह्म मात्र के ज्ञान से सब क्लेशों की निवृत्ति और परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निम्न कोटि के उपयोगों से रहित होने के कारण परमात्मा की उपासना अर्थ-हीन है। ऐसा किसी ने पूछा और स्वामीजी ने कह दिया कि इस पर भी परमात्मा की सिद्धि होनी चाहिए। क्योंकि इससे सब क्लेशों की निवृत्ति और परम पुरुषार्थ की सिद्धि अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रतीत होता है कि स्वामीजी दो असम्बद्ध बातों को एक साथ कहकर यह समझते हैं कि उन्होंने एक से दूसरे का सम्बन्ध जोड़ दिया है। दोनों बातें अपने-अपने स्थान पर सत्य हो सकती हैं और दोनों सर्वथा असम्बद्ध हो सकती हैं।

वेद-वाक्यों में विधि-विधान के अतिरिक्त प्रमाण दिखायी नहीं देते। अभिप्राय यह है कि वेद में सर्वत्र विधि-विधान ही है। विधि-विधान क्या होते हैं? अर्थात् स्रुवा इस प्रकार पकड़ना चाहिए, हवन, (यज्ञ) कुण्ड इतना लम्बा-चौड़ा और ऊँचा हो, समिधायें इतनी बड़ी हों, छोटी-बड़ी न हों, याजक इस प्रकार बैठे और होता उस प्रकार बैठे, इत्यादि।

स्वामीजी का कहना है कि अन्यत्र अर्थात् वेदान्त-वाक्यों से अन्यत्र, वेद-वाक्यों में विधि-विधान के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं मिलता।

प्रथमतः बात ऐसी नहीं है। वेदों में विधि-विधान नहीं है। वेदों में कर्म तो है, परन्तु कर्म की विधि नहीं लिखी। कहीं कुछ संकेतमात्र है। तो भी ऐसे अनेक स्थल हैं कि जहाँ न कर्म और न विधि-विधान है।

एक-आध उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। एक मन्त्र है—

आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा।
तपा वृषन्विश्वतः शोचिषा तान्ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च॥

(ऋ० ६-२२-८)

इस मन्त्र का देवता इन्द्र है। अर्थात् परमात्मा का वह स्वरूप है जो पूर्ण जगत् पर शासन करता है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

(वृषन्विश्वतः) विश्व में सबसे अधिक बलवान प्रभु (शोचिषा) अपने तेज से (तानब्रह्मद्विषे शोचय) उन ब्रह्म से द्वेष करने वालों को सन्तप्त करो। (आ जनाय द्रुह्वणे) सब द्रोही मनुष्यों के लिए (पार्थिवानि) सब पृथ्वी पर के (दिव्यानि) दिव्य पदार्थ (अन्तरिक्षा) अन्तरिक्ष के पदार्थ (तपा) सन्तप्त करने वाले हों।

परमात्मा से प्रार्थना की जाती है कि भले लोगों से द्वेष करने वालों को पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष के दिव्य पदार्थ सन्तप्त करें।

इसमें किसी भी प्रकार का विधि-विधान उल्लिखित नहीं है। और देखिए—

सि॰ह्यसि स्वाहा सि॰ह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सि॰ह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सि॰ह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सि॰ह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा॥ (यजु० ५-१२)

इस मन्त्र का देवता वाक् अर्थात् वाणी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे वाक् (सि ँही असि) तू अविद्या का नाश करने वाली है (स्वाहा) हम तुम्हें उत्तम रूप से उच्चारण करें। (सिँही असि आदित्यवनिः स्वाहा) सूर्य से उत्पन्न होने वाले बारह प्रकार की उपलब्धियों को भली प्रकार वर्णन करने वाली है। हम उसे उत्तम रूप से उच्चारण करें। (सिँही असि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा) ब्राह्मणों से और क्षत्रियों से प्राप्त होने वाली उपलब्धि की वाणी है। हम उसे उत्तम रूप में उच्चारण करें। (सिँही असि सु-प्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा) श्रेष्ठ प्रजा को समृद्धि प्राप्त कराने वाली वाणी को हम भली प्रकार उच्चारण करें। (सिँही असि ह्यस्यावह देवान्वजमानाय स्वाहा) देवताओं अर्थात् विद्वानों को यजमानों के समीप लाने वाली तू है। हम तुम्हारा भली प्रकार उच्चारण करें। (भूतेभ्यस्त्वा) सब प्राणियों के कल्याण के लिए प्रयोग करें।

इस प्रकार एक नहीं अनेक मन्त्र उद्धृत किए जा सकते हैं, जिनमें किसी प्रकार की उपासना का विधि-विधान नहीं है। कर्मकाण्ड और विधि-विधान गृह्य-सूत्रों का विषय है। वेद चार हैं—ऋक्, यजु, साम, अथर्व। ये अपौरुषेय हैं। इनके प्रवक्ता अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा देवता हैं। देवता से अभिप्राय अन्तरिक्ष के नक्षत्रादि है। परन्तु गृह्य-सूत्रों के प्रवक्ता पृथिवी पर की मानव-सृष्टि के ऋषि थे। यही उपनिषदों की बात है। अतः जब हम वेद कहते हैं तो केवल ऋक्, यजु, साम और अथर्व से ही अभिप्राय है। अन्य किसी मनुष्यप्रणीत ग्रन्थ से नहीं। यह आर्य परम्परा है। वेद में भी इसका उल्लेख है।

इसी प्रकार की एक नहीं अनेक अप्रासंगिक बातें स्वामीजी ने लिख दी हैं, जिनका सूत्र के भावार्थ से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

इस सूत्र (१-१-४) का भाष्य करते हुए स्वामीजी ने एक अति महत्त्व का विषय भी उठाया है। यद्यपि यह हमारे विचार से सूत्रार्थ के साथ सम्बन्धित नहीं, परन्तु इसके दूरगामी प्रभाव का विचार कर हम उसकी विवेचना कर देना ठीक समझते हैं।

ऊपर हमने यह बताया है कि स्वामीजी का कहना कि शास्त्र (वेदों) में निम्न कोटि की वस्तुओं के लिए प्रार्थना होने से उनमें ब्रह्म का उपदेश नहीं हो सकता, यह बात गलत है। साथ ही स्वामीजी ने सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा को ठीक नहीं बताया। केवल इतना कहकर बात टाल दी है कि इस पर भी ब्रह्म-उपदेश और ब्रह्म-शास्त्र की आवश्यकता है। यह उत्तर ठीक नहीं।

उन्होंने एक अन्य विषय पर बात आरम्भ कर दी है। आपने पूर्व-पक्ष उठाया है। पक्ष यह है कि मान लो वेद क्रियार्थक हैं। अर्थात् क्रिया से भिन्न सिद्ध अर्थ वाले वेद-वाक्य निष्फल हैं। इसलिए पुरुष को ये वेद-वाक्य किसी विषय में प्रवृत्त करने हैं और किसी विषय में निवृत्त। इस कारण वेद-वाक्य भी सार्थक हैं।

यह पूर्व-पक्ष सूत्र के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। यह वेद-वाक्यों को सत्य रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रकट भी नहीं करता। अतः यह पक्ष केवल मात्र इस कारण उठाया गया है, जिससे स्वामी शंकराचार्यजी अपना मत यहाँ पर थोप सकें। स्वामीजी का क्या मत है? यह तो हम नीचे लिखेंगे, परन्तु वेद-वाक्यों का क्या अर्थ है, पहले हम अपने मत से यहाँ प्रकट कर दें तो ठीक रहेगा। अशुद्ध प्रश्न का उत्तर देना और उसके उत्तर में एक अन्य अशुद्ध मत उपस्थित करना उपयुक्त नहीं। इससे स्वामी जी स्वयं भ्रम में फँसे रहे और पाठकों को भी भ्रम में डाल दिया।

इस पूर्व पक्ष का वेद में खण्डन है।

वेद में ही इस प्रकार वर्णन है—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

(अथर्व १०-७-२०)

अर्थात्—जिस परमात्मा से ऋग्वेद प्रकट हुआ, यजुर्वेद प्रकट हुआ और साम जिसके लोम हैं, अथर्ववेद जीवनरस के समान है, वह जिसका मुख है, उसको तू स्कम्भ कह। वह अत्यन्त सुखमय है।

इसी प्रकार यजुर्वेद ४०-८ में जहाँ परमात्मा का स्वरूप वर्णन किया है, वहाँ यह भी लिखा है—

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (यजु० ४०-८)

वह परमात्मा स्वयम्भू, सर्वव्यापक, अनादि प्रजाओं के लिए ज्ञान प्रदान करता है।

यह है वेद-ज्ञान का प्रयोजन। इसमें जीवात्मा के इस सृष्टि में कल्याण और पारमार्थिक कल्याण दोनों ही लक्ष्य हैं। भगवान् जाने, श्री शंकराचार्यजी की किस प्रकार यह मिथ्या धारणा बन गई कि वेद केवल क्रियार्थक हैं। अर्थात् क्रिया प्रयोजन नहीं और ज्ञान प्राप्त करना क्रिया नहीं। ये सब भ्रममूलक सिद्धान्त हैं। कुछ अज्ञानी लोगों के कथनों को पढ़ स्वामीजी ने बिना जाँच-पड़ताल के मान लिया है।

वेद-वाक्य सम्यक् ज्ञान को देने वाले हैं। इस संसार का ज्ञान भी और ब्रह्मलोक का भी। इस लोक में यज्ञ रूप जीवन व्यतीत करने के लिए लिखा है और इस प्रकार सुकृत करते हुए ज्ञान से ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिए मार्ग वेद में बताया है।

परन्तु देखना तो यह है कि स्वामी शंकराचार्य किस प्रकार इस पूर्व-पक्ष का उत्तर देते हैं और अपना क्या पक्ष स्थापित करते हैं?

स्वामीजी लिखते हैं—

अत्राभिधीयते—न; कर्म-ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(जै० सू० १-१-१) इति सूत्रिता; अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जिज्ञास्यः परिहाराय……

मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते। ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते।……

अर्थात्—इसका उत्तर है कि नहीं। (अर्थात् पूर्व-पक्ष कि वेद में उपासना विधि का विषय भी ब्रह्म-प्राप्ति के अन्तर्गत है, स्वामीजी कहते हैं, नहीं) क्योंकि कर्म और ब्रह्म-विद्या के फल में विलक्षणता है। शरीर, मन एवं वाणी से किये जाने वाले कर्म श्रुति और स्मृति में धर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस विषय की (धर्म करने की) जिज्ञासा अर्थात् धर्म जिज्ञासा (जै० सू० १-१-१) यह सूत्र है। अधर्म (हिंसादि न करने के संकेत से) परिहार से जिज्ञासा का विषय बन जाते हैं……मनुष्य से आरम्भ करके ब्रह्मा पर्यन्त देहधारी होने के कारण सुख का सम्बन्ध श्रुति में वर्णन है। उससे (श्रुति से) धर्म का तारतम्य (करने का ढंग) पता चलता है……

यह है उक्त पूर्व-पक्ष पर स्वामीजी का उत्तर। पूर्व-पक्ष का सार जैसा हमने पहले लिखा है कि यह अशुद्ध है। वेद कर्मकाण्ड के ग्रन्थ नहीं हैं। स्वामीजी ने अपने 'शारीरक' भाष्य में अथवा अपने किसी ग्रन्थ के अन्य भाष्य में भी यह बात वेद-प्रमाण से सिद्ध नहीं की। स्वामीजी जैमिनी सूत्रों को वेद समझ रहे हैं। यह असिद्ध है कि वेद कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं। इसपर भी यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य को इस संसार में रहने का ढंग वेद में लिखा है। यह तो स्पष्ट है कि इस संसार को पार कर ही मोक्ष-प्राप्ति होती है। इस कारण मनुष्य को इसमें रहने का ठीक ढंग बताना अत्यावश्यक था। वह वेद में बता दिया गया है, परन्तु यह नहीं कि इसके अतिरिक्त वेद में अन्य कुछ है ही नहीं। वेद मूल-ज्ञान के ग्रन्थ भी हैं और इस मूल-ज्ञान में ही ब्रह्म का ज्ञान भी सम्मिलित है।

स्वामी शंकराचार्य ने सर्वप्रथम तो यह अनर्थ किया कि वेद को कर्मकाण्ड के ग्रन्थ मान लिया। इस प्रकार वेद की महिमा को कम कर दिया। दूसरे, वेद में जो मूल-ज्ञान है, उसकी अवहेलना कर वास्तविक ज्ञान से अपने पाठकों को दूर कर दिया।

उपनिषदादि ग्रन्थों का अर्थ करते समय जो पथ-प्रदर्शन वैदिक मूल-ज्ञान से प्राप्त होने वाला था, उससे स्वामीजी स्वयं भी वंचित हुए और अपने अनुयाइयों को भी वंचित कर गये।

इसके अतिरिक्त स्वामीजी के उक्त पक्ष का एक अन्य अनर्थकारी प्रभाव उत्पन्न हुआ। स्वामीजी ने लिखा है कि कर्म और ब्रह्म-विद्या में फल की विलक्षणता है। यह अशुद्ध सिद्धान्त है। केवल इसलिए ही नहीं कि यह अयुक्ति-संगत है, वरन् इस कारण भी कि इसने भारतवर्ष में घोर पतन का मार्ग प्रशस्त किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कथन में युक्ति-विपरीत बात यह है कि संसार में स्वामीजी के मतानुयाईयों द्वारा शुभकार्य ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति में न केवल असहायक माने गये हैं, वरन् विरोधी भी माने गये हैं। स्वामीजी कर्म करने के विपरीत इस कारण लिख रहे हैं कि मन, वचन, कर्म से किए गए कर्म परिहार स्वरूप अधर्मयुक्त कर्म भी जिज्ञासा में आ जायेंगे। वह बात उक्त उद्धरण से प्रकट होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ अहिंसा धर्म है और अहिंसा धर्म की जिज्ञासा है, वहाँ अहिंसा का विरोध करने वाली हिंसा को भी जानने की इच्छा होगी। इससे अधर्म की जिज्ञासा भी होगी। अतः वे धर्म की जिज्ञासा का भी विरोध करते हैं।

अभिप्राय यह कि ब्रह्म-जिज्ञासा वाला मनुष्य अधर्म को छोड़ने के प्रयोजन से धर्म को भी छोड़ दे। परन्तु कर्म तो छूटता नहीं; अतः स्वामीजी की शिक्षा पर चलने वाले धर्म छोड़ते हुए अधर्म ही करने लगेंगे। अधर्म को जानने की आवश्यकता नहीं। इन्द्रियों के विषय उनको करने की निरन्तर प्रेरणा देते रहते हैं। इसके विपरीत धर्म के कार्य करने में प्रयत्न करना पड़ता है। इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता रहती है। इसी का दूसरा नाम त्याग और तपस्या है। जब धर्म करना ही नहीं तो त्याग और तपस्या की आवश्यकता नहीं। परिणाम यह होता है कि मनुष्य इन्द्रिय-लोलुप हो जाता है। मनुष्य स्वयमेव यह सीख जाता है अथवा इतर जीव-जन्तुओं को इन्द्रियों के विषय में रत देख स्वयं रत हो जाता है।

ऐसे मनुष्य कर्म छोड़ विकर्म में ही लीन हो जाते हैं। यही भारत के पतन का एक महान् कारण बना। उदाहरण के रूप में युद्ध क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है। धर्म की स्थापना के लिए युद्ध करना उचित है। परन्तु धर्म क्या है? इसकी जिज्ञासा करना भी वर्जित हुआ है। धर्म की स्थापना के स्थान पर अधर्म के लिए अथवा निष्प्रयोजन युद्ध होने लगे। राजपूतों का इतिहास पढ़कर देख लें कि ऐसा हुआ है अथवा नहीं? राजपूतों के अतिरिक्त, भारत में लोग धर्म-अधर्म में भेद करना भूल जाने के कारण, अधर्म करने पर विवश होते रहे। कारण स्पष्ट था। इन्द्रियों के विषयों से अथवा जीव-जन्तुओं के व्यवहार से अधर्म की प्रेरणा मिलती है।

यह हम भली-भाँति जानते हैं कि हिन्दू-समाज का इतना घोर पतन हुआ कि यह सात सौ वर्ष तक मुसलमानों की दासता से नहीं छूट सका। इसके कुछ अन्य कारण भी रहे हैं, परन्तु स्वामी शंकराचार्य द्वारा नैष्कर्म्य का व्यापक प्रचार इसका एक मुख्य कारण सिद्ध होता है।

स्वामीजी का यह वक्तव्य वेद मत के विपरीत भी है। वेद में यह लिखा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउविद्यायाᳬरताः ।।
अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयᳬ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।

(यजु० ४०-१२, १३, १४)

जो लोग अविद्या में (सांसारिक कार्यों में) विचरते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो केवल विद्या (अध्यात्म) में ही रत हैं, वे मानो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

विद्या का फल और है और अविद्या का फल दूसरा है। ऐसा हमने विद्वानों से सुना है, जिन्होंने हमारे सामने इनकी व्याख्या की है।

अतः जो विद्या और अविद्या दोनों को एक साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व को प्राप्त करता है।

महाभारत में भी यही बात लिखी है। वहाँ लिखा है—

सांख्यदर्शनमेतावदुतं ते नृपसत्तम ।
विद्याविद्येत्विदानीं में त्वं निबोधानुपूर्वशः ।।
अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै ।
सर्गप्रलयनिर्मुक्तां विद्यां वै पंचविंशकः ।।

(महा भा०, शा० ३०७-१,२)

अर्थात्—सांख्य-दर्शन के व्याख्यान के उपरान्त विद्या-अविद्या का वर्णन बताते हैं। जगत्-रचना, और प्रलय का ज्ञान अविद्या है और सर्ग-प्रलय से मुक्त अव्यक्त का तथा पच्चीसवें गण पुरुष का ज्ञान विद्या है।

अविद्या का अर्थ है कार्य-जगत् का ज्ञान और विद्या का अर्थ है अध्यात्म-ज्ञान। इनसे इन वेद-मन्त्रों का अर्थ यह बनता है कि मनुष्य को इस संसार का ज्ञान होना चाहिए और अध्यात्म का भी। दोनों का फल भिन्न-भिन्न है और वह यह कि अविद्या (सांसारिक व्यवहार) के ज्ञान से मनुष्य इस मर्त्यलोक को सुगमता से पार करता है और अध्यात्म के ज्ञान से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

स्वामीजी का मत है कि कर्म से मोक्ष प्राप्ति में बाधा बन जाती है। परन्तु ऐसा नहीं है।

यह सिद्ध है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए अष्टांग योग करना पड़ता है। क्या वह कर्म नहीं है ? कर्म को छोड़ने के लिए भी पुरुषार्थ करना पड़ता है और पुरुषार्थ ही कर्म है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवद्गीता में स्वामीजी के मत का स्पष्ट खण्डन है। गीता में लिखा है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

(गीता ३-५, ८, ९)

अर्थात्—कोई भी मनुष्य किसी काल में एक क्षणमात्र भी, बिना कर्म किए नहीं रहता। प्रकृति (स्वभाव) से विवश हो वह कर्म करता है।

इस कारण नियत (वर्णाश्रम धर्म) कर्म को करो; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं होगा।

यज्ञार्थ (सर्वहिताय) कर्मों के अतिरिक्त कर्म मनुष्य को बाँधते हैं। अतः आसक्ति से रहित होकर कर्मों को भली प्रकार कर।

एक अन्य स्थान पर भगवद्गीता में लिखा है—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (३-४)

कर्मों के न करने से नैष्कर्म्य को प्राप्त नहीं हुआ जा सकता। कर्मों के त्यागने से भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

यहाँ सिद्धि का अर्थ मोक्ष-सिद्धि से ही है।

अतः स्वामी शंकराचार्य का मत, कि कर्म करना छोड़ देने से मोक्ष की अशरीरी अवस्था प्राप्त हो सकती है, शुद्ध नहीं है। इसके विपरीत बात ही वेदादि शास्त्र कहते हैं।

परन्तु हमारा पक्ष तो यह है कि जिस सूत्र के भाष्य में यह सबकुछ लिखा है, उस सूत्र के अर्थों से इन सब बातों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। खेद से कहना पड़ता है कि वेदान्त-सूत्रों को बोझल बनाने के लिए स्वामीजी ने ऐसी असंगत बात यहाँ लिख दी है।

इस सूत्र (तत्तु समन्वयात्) का स्पष्ट अर्थ यह है कि इस जगत् में हो रहा समन्वय भी उस चेतन, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा से है। इस समन्वय में तीनों प्रकार के ब्रह्म सम्मिलित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईक्षतेर्नाशब्दम् ।।५।।

ईक्षतेः+न+अशब्दम् ।

ईक्षतेः=ईक्षण करने वाला होने से (परमात्मा जगत् का कारण है)। शब्द प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है। यह अशब्द नहीं है।

हमने (ब्र० सू०—१-१-२ में) बताया है कि ब्रह्म तीन हैं और तीनों ही जगत् की रचना, पालन करने और प्रलय करने में कारण हैं। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर परमात्मा, जीवात्मा और मूल-प्रकृति, तीनों को ब्रह्म के नाम से लिखा है। हमने यह भी बताया है कि तीनों को, एक ही नाम ब्रह्म से इस कारण स्मरण किया जाता है, क्योंकि ये तीनों अनादि, अजन्मा, नित्य, अव्यक्त, अव्ययी और जगत्-रचना में कारण हैं। इसपर भी तीनों भिन्न-भिन्न हैं; क्योंकि इनके कई एक गुणों में भिन्नता है। यह हम पीछे बता आये हैं।

इस सूत्र में एक अन्य बात लिखी है, जिससे जगत्-रचना में भी, तीनों में भेद कर दिया है। प्रथम भेद यह बताया है कि जगत्-रचना एक विचारित योजना है। 'ईक्षण' विचारित, योजनाबद्ध करने को कहते हैं। (ईक्षतेः) विचारित योजना होने के कारण जगत् के रचने का कार्य-भार परमात्मा पर है। प्रकृति और जीवात्मा पर नहीं।

साथ ही लिखा है (न अशब्दम्) शब्द प्रमाण से भी यही बात प्रतीत होती है।

इस सूत्र में दो बातें कही गयी हैं। एक तो कारण, शब्द और रचयिता शब्द में अन्तर कर दिया है। घड़े का कारण घड़े की मिट्टी भी हो सकती है, परन्तु घड़े को रचने वाली मिट्टी नहीं। रचने वाला तो कुम्भकार है। यही बात यहाँ पर लिखी है कि जगत्-रचना में कारण मूल प्रकृति अवश्य है, परन्तु वह जगत् की रचना करने वाली नहीं।

प्रायः सभी भाष्यकार इस सूत्र के प्रथम अंश का यही अर्थ करते हैं, परन्तु दूसरे अंश (अशब्दम्) के अर्थ में थोड़ा अन्तर आ गया है। उदाहरण के रूप में—

श्री रामानुजाचार्य के भाष्य में इस प्रकार लिखा है[1]—

The present Sutra declares that the texts treating of creation cannot refer to the Pradhan; the Sutra just mentioned will dispose of objections.

अर्थात्—जगत्-रचना के विषय में शास्त्र में जो लिखा है, प्रधान (प्रकृति)

---

१. आपका संस्कृत भाषा में भाष्य प्राप्य नहीं हो सका। G. Thibout द्वारा उनके भाष्य का अंग्रेज़ी में अनुवाद ही यहाँ दिया जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से यह हुआ, ठीक नहीं। कारण यह कि बिना विचार के यह हुआ नहीं। प्रधान जड़ होने से विचार नहीं कर सकता।

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

(ईक्षतेः) ईक्षति से (ब्रह्म का विद्रूप होने) (न) नहीं। (अशब्दम्) अशब्द-अशास्त्रीय-अप्रमाण। ईक्षण क्रिया का कर्ता होने से जगत् कारण ब्रह्म का विद्रूप होना तथा जगज्जन्मादि के प्रति निमित्त कारण होना अशब्द नहीं। शास्त्र-प्रमाण रहित नहीं।

स्वामी ब्रह्ममुनि जी इस प्रकार लिखते हैं—

(ईक्षतेः) ईक्षण क्रिया का प्रवर्तक—प्रेरक होने से ब्रह्म (परमात्मा) जगत् का निमित्त कारण है। उसके ईक्षण क्रियावान् होने से न कि उत्पादान कारण।

इन सब भाष्यों में यह बात एक समान लिखी है कि ईक्षण करने वाला परमात्मा है। अतः वह जगत् का रचने वाला है। ईक्षण का अर्थ किया गया है, वह जो देखता है, विचार करता है। कुछ मतभेद 'अशब्दम्' के विषय में है। इसका अर्थ हमारे विचार से केवल इतना है कि यह बात वेदोक्त है। 'न अशब्दम्' के इतने ही अर्थ करने चाहिए। जहाँ कहीं उपनिषदादि ग्रन्थों में कुछ भिन्न लिखा दिखायी दे, उसमें हमारा मत है कि वे शब्द प्रमाण के ग्रन्थ हैं ही नहीं। वे भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा लिखे अथवा कहे गये ग्रन्थ हैं। वे गलत भी हो सकते हैं। उनके कहने का ढंग त्रुटिपूर्ण भी हो सकता है। शब्द प्रमाण में केवल चार वेद ही लेने चाहिए। भारतीय मान्यता इनको ही ईश्वरीय ग्रन्थ स्वीकारती है।

प्रो० बाल गंगाधर तिलक मानते हैं कि उपनिषदों में मतभेद है। इस कारण वे शब्द प्रमाण में नहीं आते।

जहाँ कहीं प्रधान (प्रकृति) को ईक्षण करने वाला बताया है, वह भूल है। अतः वहाँ अर्थ लगाने में पूर्वापर विचार कर लेना चाहिए। पाठकों से की जाने वाली भूल को सुधारने के लिए (न अशब्दम्) की बात लिखी है।

कुछ भी हो, हमारा मत है कि 'न अशब्दम्' का अर्थ इतना मात्र करना ही ठीक है कि (ईक्षणः) ईक्षण करने वाला ही जगत् का रचयिता है। यह वेदोक्त है। शब्द प्रमाण में केवल वेद ही लेने चाहिए।

ईक्षण करने वाले के विषय में इतना और बता देना ठीक होगा, इसके अर्थ केवल देखने वाले के नहीं। इसमें देखने से कहीं अधिक अर्थ हैं। देखना, विचार करना, निर्णय करना, योजना करना इत्यादि सब भाव आते हैं जो चेतन स्वरूप तत्त्व में होने चाहिए।

परन्तु स्वामी शंकराचार्य द्वारा किये गए, इस सूत्र के अर्थ अवश्य विचारणीय हैं। स्वामीजी का विचार है कि शब्द (न अशब्दम्) इस कारण लिखा गया है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं सांख्य में प्रतिपादित प्रकृतिवाद स्वीकार न हो जाये। इन सन्दर्भ में स्वामीजी लिखते हैं—

न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम्। अशब्दं हि तत्।

सांख्य में कल्पना किया गया अचेतन 'प्रधान' (प्रकृति) जगत् का कारण वेदान्तों में नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह 'अशब्द' है। (श्रुति विपरीत है)।

यहाँ श्री स्वामीजी का यह कहना है कि सांख्य में यह कल्पना की गयी है कि प्रधान (प्रकृति) जगत् का रचने वाला है, स्वामीजी का कथन सांख्य के मूल ग्रन्थ कपिल मुनि प्रणीत सांख्य-दर्शन से अनभिज्ञता प्रकट करता है। यह हम जानते हैं कि कुछ लोगों ने अपने मन-घड़न्त ग्रन्थ लिखकर उनको सांख्य-दर्शन का नाम दिया है, परन्तु यह तो ऐसे ही है जैसे विकासवाद (evolution theory) को एक वैज्ञानिक (scientific) बात कही जाये। यह अवैज्ञानिक बात है किन्तु कई लोगों ने इसे वैज्ञानिक कहा है। इससे विज्ञान का यह मत नहीं हो जाता।

इसी प्रकार जब कोई सांख्य-दर्शन विपरीत बात को सांख्य से सिद्ध लिखने लगे तो सांख्य निन्दनीय नहीं हो सकता। सांख्य के आदि प्रवक्ता कपिल मुनि हुए हैं और उन्होंने वैसा कुछ नहीं लिखा जो स्वामी शंकराचार्य सांख्य के नाम से प्रख्यात कर रहे हैं।

कपिल मुनि मानते हैं कि जगत् की रचना में प्रकृति भी कारण है। यह हम बता चुके हैं कि कारण दो प्रकार के होते हैं; निमित्त कारण और उपादान कारण। हम घड़े और मिट्टी का उदाहरण भी दे चुके हैं। मिट्टी भी घड़े का कारण है, परन्तु मिट्टी घड़े की रचने वाली नहीं है। रचने वाला तो कुम्भकार है।

कपिल मुनि ने सांख्य-दर्शन में यह कहीं नहीं लिखा कि प्रकृति जगत् को रचती है, अर्थात् बनाती है। यह अवश्य लिखा है कि प्रकृति से जगत् बना है।

सांख्य का मूल सूत्र इस विषय में इस प्रकार है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्।

(सांख्य १-६१)

इसके अर्थ हैं कि सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। प्रकृति से महान् बना।

यह नहीं कि प्रकृति ने महान् का निर्माण किया। यह कहा जाता है कि मिट्टी से घड़ा बनता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मिट्टी घड़े को बनाती है।

स्वामीजी उपादान कारण और निमित्त कारण में अन्तर न समझते हुए ही सांख्य-दर्शन में प्रकृति को जगत् की रचना करने वाला कहा मानते हैं। इसके विपरीत सांख्य के यदि अग्रवर्णित सूत्रों पर एकसाथ विचार करें तो पता चलेगा कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य-दर्शन न केवल ईश्वर के अस्तित्व को मानता है, वरन् ईश्वर से सृष्टि की रचना असंदिग्ध शब्दों में मानता है।

सूत्र इस प्रकार हैं—

(१) न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ।
(२) अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ।
(३) स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ।
(४) ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ।
(५) प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वात्, उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ।
(६) अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ।

(सांख्य० ३-५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९)

इन सूत्रों में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति का परस्पर सम्बन्ध वर्णन किया है। अर्थ इस प्रकार हैं—

(१) जगत् कारण (मूल प्रकृति) में लय होने पर भी कृत-कृत्यता (कर्म करती हुई) रहती है। जैसे डूबा हुआ मनुष्य तैरने लगता है।

इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म-रात्रि के समय जब जगत् मूल-प्रकृति में लय हो गया होता है, तब भी कार्य होता रहता है। जैसे डूबा हुआ शव ऊपर उठ आता है और तैरने लगता है। अभिप्राय यह कि प्रकृति के गुण उसके साथ रहते हैं और उन गुणों में कृत-कृत्यता रहती है।

आगे लिखा है—

(२) परवश होने से अकार्यशील (जड़) होने पर भी वह (तत् योगः) सम्बन्धित रहती है।

अर्थात् प्रकृति कार्यशील दिखायी देती है, दूसरे के अधीन होने से।

सांख्य-दर्शनाचार्य कपिल मुनि यह लिखते हैं कि प्रधान (प्रकृति) स्वतः अकार्यशील (जड़) है। अतः कार्य नहीं कर सकती। यह दूसरे के वश में होकर कार्य करती है। जिसके वश कार्य करती है वह—

(३) सबकुछ जानने वाला और सबकुछ करने वाला है, अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।

(४) इस प्रकार ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(५) प्रकृति का सृष्टि रूप किसी दूसरे के लिए है। इसके अपने भोग के लिए नहीं, जैसे ऊँट पर केसर ढोया जाता है।

यहाँ पर जगत् के रचने वाले ईश्वर और सृष्टि के उपादान कारण (प्रधान) के अतिरिक्त एक तीसरे को बताया है, जिसके लिए यह हो रहा है। यह जीवात्मा है!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तिम सूत्र में लिखा है—

(६) प्रधान अचेतन होने पर भी ऐसे कार्य करता है, जैसे कि माँ के स्तन से दूध टपकने लगता है।

दूध अचेतन है, परन्तु माँ की पुत्र के प्रति ममता से विवश हो स्तन से निकलने लगता है।

इन सूत्रों से यह स्पष्ट है कि सांख्यकार न केवल यह मानता है कि ईश्वर सिद्ध है, वरन् वह यह भी स्वीकार करता है कि प्रधान जड़ होने से ईश्वर के वशीभूत कार्य करता है। साथ ही प्रधान और परमात्मा के संयोग से जो सृष्टि-रचना हुई है, वह जीवात्मा के निमित्त है।

इनके अतिरिक्त निम्न सूत्र भी यह सिद्ध करते हैं कि सांख्य परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है—

(१) **साक्षात् सम्बन्धात् साक्षित्वम् ।** (१-१६१)

(२) **नित्य मुक्तत्वम् ।** (१-१६२)

(३) **औदासीन्यं चेति ।** (१-१६३)

(४) **उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात् चित्सान्निध्यात् ।** (१-१६४)

इनका अर्थ है—

(१) उसका सबके साथ साक्षात् सम्बन्ध होने से वह साक्षी है।

(२) वह नित्य मुक्त स्वभाव है।

(३) और वह अलिप्त है।

(४) (वह जगत् क्रियाशील है) समीप-संयोग होने से उस (परमात्मा का) सान्निध्य है।

हमारा निश्चित मत है कि सांख्य दर्शन प्रकृति का वर्णन करता हुआ भी परमात्मा के सान्निध्य को स्वीकार करता है।

इन प्रमाणों की विद्यमानता में स्वामी शंकराचार्य का यह कहना कि सांख्य में यह कल्पना की गयी है कि प्रकृति जगत् का निमित्त कारण है, उनकी सांख्य-दर्शन से अनभिज्ञता प्रकट करता है।

जो लोग जगत् की रचना में निमित्त एवं उपादान कारण दोनों को मानते हैं, वे इसी प्रकार कहते हैं जैसे कि सांख्य में लिखा है।

वास्तव में स्वामीजी स्वयं एक ही कारण इस जगत् का मानते हैं, इस कारण वे सांख्य मत को स्वीकार नहीं करते। कुछ बौद्धों ने अपने मत को सांख्य के नाम से प्रसिद्ध किया है। यह इसी प्रकार है जैसे कुछ वर्ष पूर्व एक कादियानी मुसलमान लाहौर के बाजारों में घूम-घूमकर यह प्रचार किया करता था कि पृथिवी स्लेट की भाँति चपटी है। यूरोप, एशिया तथा अमेरिका स्लेट के एक ही ओर हैं। इस स्लेट के नीचे क्या है, कोई नहीं जानता। यह मुसलमान अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मत को वैज्ञानिक (scientific) कहता था। यह मत वैज्ञानिक था अथवा नहीं, इस स्थान पर विचारणीय नहीं। हमारा तो यह कहना है कि जैसे यह महानुभाव पृथिवी को स्लेट की भाँति चपटी मानने वाला अपने मत को वैज्ञानिक (scientific) कहता था, वैसे ही बौद्ध मतावलम्बी, प्रकृति की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्रकट करने वाले भी अपने को सांख्य मतावलम्बी कहते होंगे। यह निर्विवाद है कि यह कपिल का सांख्य नहीं है। किसी ने सांख्य के नाम पर छलना की है।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी ने कपिल के विषय में यह छलनात्मक मत देखा है। इसी का शिकार वे हो रहे हैं। कपिल के सांख्य-दर्शन में तथा कणाद के वैशेषिक दर्शन में ऐसी कोई बात नहीं।

प्रधान को सत् गुण वाला माना है। सत् का अर्थ है नित्य। यह चेतनार्थक नहीं है। साथ ही चेतना, सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता सत् से भिन्न बात है। उदाहरण के रूप में जीवात्मा चेतन माना जाता है, परन्तु यह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं माना जाता। इसी प्रकार प्रकृति को अनादि (नित्य) माना है, परन्तु यह जड़ है।

स्वामी शंकराचार्य का मत यह है कि यह सूत्र (ब्र०-सू० १-१-५) उस पूर्व पक्ष के उत्तर में है जो उन्होंने 'ईक्षत्याधिकरण' में स्थापित किया है। अर्थात् उनके मत से सांख्याचार्य और कणाद ने लिखा है कि 'प्रधान' सृष्टि की रचना करता है और वे इसका खण्डन ब्रह्मसूत्र से करना चाहते हैं।

पहली बात तो यह कि वे स्वयं कणाद के वैशेषिक-दर्शन में यह लिखा बताते हैं कि 'काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते, अणूंश्च समवायिकारणम्।' अर्थात् कणाद आदि तो सृष्टि-रचना में ईश्वर को निमित्त कारण और अणुओं को समवायिकरण मानते हैं।

स्वामीजी युक्ति से तो यह सिद्ध करना चाहते नहीं कि प्रकृति एवं जीवात्मा नहीं हैं। हाँ, उपनिषदादि ग्रन्थों के प्रमाणों से सिद्ध करना चाहते हैं। यद्यपि ये ग्रन्थ मनुष्य-कृत हैं, अपौरुषेय नहीं, इसपर भी हमारा कहना है कि ये उद्धरण भी सांख्य और कणाद के मत का खण्डन नहीं करते।

छान्दोग्य उपनिषद् (६-२-१, २, ३) के उद्धरण स्वामीजी ने सांख्य मत के विरोध में प्रस्तुत किये हैं। अतः पहले इन तीनों को ही देखें। मन्त्र इस प्रकार हैं—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥१॥

कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच। कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्रं आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥२॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषऽतेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥३॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे सोम्य ! आरम्भ में सत् ही था। वह अद्वितीय था। इसके विषय में कुछ लोग कहते हैं पहले कुछ नहीं था। असत् से ही (सब कुछ) उत्पन्न हुआ।

हे सोम्य ! ऐसा कहाँ से यह सब उत्पन्न हो गया ? असत् से कैसे उत्पन्न हो सकता है ? सत् ही पहले एकमेव अद्वितीय था।

उसने इच्छा की बहुत हो जाऊँ, प्रजाओं को उत्पन्न करूँ। उसने तेज का सृजन किया। परमात्मा को तेज से अपाः उत्पन्न हुआ।

स्वामीजी द्वारा माना गया सांख्य-सिद्धान्त का यहाँ भी खण्डन नहीं हुआ। ऐसा कहीं नहीं लिखा कि 'प्रधान' ने ईक्षण किया है, न ही यह लिखा है कि परमात्मा ने ईक्षण किया है।

ऋषि कहते हैं कि सृष्टि-रचना के पूर्व भाव था अर्थात् कुछ सत्तायुक्त था। वह अद्वितीय था अर्थात् उस जैसा दूसरा नहीं था।

यह सत् (भाव) क्या था, कैसा था, एक रस था इत्यादि व्याख्या यहाँ नहीं की। केवल यह कहा है कि वह अनुपम (जिसके समान दूसरा कोई न हो) था।

हमारा कहना है कि वह त्रिविध ब्रह्म (श्वे० १-९) ही था। इस त्रिविध ब्रह्म में ज्ञ, अज्ञ और (ह्ये का भोक्त भोग्यार्थयुक्ता) प्रकृति थे। तीनों अज (अजन्मा) हैं। अतः सृष्टि-रचना से पूर्व के समय तीनों का होना स्वाभाविक ही है। इन तीनों को एक वचन में स्मरण करने का कारण यह है कि तीनों का एक ही नाम है। अभिप्राय यह कि ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म सृष्टि-रचना से पूर्व भाव था। वह ब्रह्म था। उसके समान दूसरा नहीं था।

इन तीनों में ईक्षण वह ही कर सकता है जो सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। वह श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार (ज्ञ) ज्ञानवान् तथा (अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता) अनन्तरूप विश्वरूप अकर्ता परमात्मा है।

हमारी उक्त धारणा का प्रमाण छान्दोग्य उपनिषद् के तीसरे मन्त्र (६-२-३) में मिलता है। इस मन्त्र में 'तदैक्षत' अर्थात् उससे ईक्षण किये जाने पर (कि बहुत प्रजाओं में हो जाऊँ) तत् का अभिप्राय त्रिविध ब्रह्म से ही है। सृष्टि रचना में तीनों का योगदान होने वाला था। इसपर भी ईक्षण तो परमात्मा ही कर सकता है और उसी ने किया था।

यह इस प्रकार है जैसे कि कोई मनुष्य यह कहे, 'मैं विचार करता हूँ कि आज इण्डिया गेट की ओर भ्रमण के लिए जाऊँ।' इसका अभिप्राय यह है कि भ्रमण के लिए जाने वाला तो पूर्ण मनुष्य शरीर है, परन्तु विचार तो केवल मस्तिष्क करता है। हाथ-पाँव इत्यादि नहीं करते। इसी प्रकार जगत् की रचना तो त्रिविध ब्रह्म से ही होने वाली है, परन्तु ईक्षण करने वाला केवल वह है जो ईक्षण करने की शक्ति रखता है। वह पुरुष नाम से इसी मन्त्र में बताया गया है। लिखा है (पुरुषस्तेजस एवं तदद्यापो जायन्ते) पुरुष (परमात्मा) के तेज से अपः उत्पन्न हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें यह स्पष्ट लिखा है कि भाव, अर्थात् सत् में से पुरुष परमात्मा के तेज से (द्वारा) अप: उत्पन्न हुआ।

स्वामी शंकराचार्य द्वारा कल्पित सांख्य-सिद्धान्त का खण्डन तो यहाँ है नहीं। न ही यहाँ प्रधान के ईक्षण करने की बात लिखी है। उपनिषद्कार कहता है कि सृष्टि रचना से पहले जो भाव था, उसने ईक्षण किया। प्रश्न यही है कि वह भाव अर्थात् सत् क्या था? यदि उसे ब्रह्म मानें तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि ब्रह्म एक है अथवा कई प्रकार का है? दोनों अवस्थाओं में हमने यह सिद्ध किया है कि ईक्षण करने वाला परमात्मा है।

यदि 'त्रिविधं ब्रह्म' की बात् मानें तो मनुष्य विचार करता है कि इनमें से कौन ब्रह्म है जो ईक्षण करता है? विचार करने वाले हाथ-पाँव नहीं, केवल मस्तिष्क ही होता है। इसी प्रकार ईक्षण करने वाला केवल परमात्मा ही है और यदि ब्रह्म में केवल एक ही सत्ता मानें, तब भी ईक्षण करने वाला ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ही है।

यह कि ब्रह्म एक पदार्थ है अथवा यह तीन प्रकार का है, जिनमें कुछ गुण परस्पर मिलते हैं और कुछ नहीं मिलते, का निर्णय इस स्थान पर करने की आवश्यकता नहीं। यहाँ अभिप्राय यह है, दोनों अवस्थाओं में ईक्षण करने वाला परमात्मा है।

यहाँ एक अन्य बात विचारणीय है। परमात्मा, जो सब प्रकार से पूर्ण है वह ईक्षण क्यों करता है कि मैं बहुत हो जाऊँ? क्या एक ही रहने से उसमें कुछ अभाव था, जिसकी पूर्ति के लिए वह बहुत हो जाने का ईक्षण करता है?

इसका समाधान दो प्रकार से किया जाता है। एक तो ईक्षण शब्द का अर्थ इच्छा करना नहीं। यह शब्द देखने के अर्थ में आया है। परमात्मा ने देखा कि ब्रह्मरात्रि के समाप्त होने का समय आ गया और जीवात्माएँ जो सुषुप्ति अवस्था में पड़ी हैं, उन्हें परमात्मा (अपने सखा) से मिलने का अवसर मिलना चाहिए। ईश्वर ने देखा और निश्चय किया कि सृष्टि-रचना हो। दूसरा समाधान यह है कि 'मैं बहुत हो जाऊँ।' यह विचार तो ब्रह्म में परमात्म-तत्त्व ने ही किया, परन्तु ब्रह्म में प्रकृति भी तो है; अर्थात् बहुत होना ब्रह्म के 'प्रधान' (प्रकृति) अंश के लिए है। पुन: मनुष्य का उदाहरण लिया जा सकता है। मनुष्य विचार करता है कि मैं अन्न खाऊँ। विचार तो मस्तिष्क करता है, परन्तु खाता मुख है। अत: जब ब्रह्म ने देखा कि मैं बहुत हो जाऊँ तो यह देखने वाला तो ब्रह्म में उपस्थित परमात्म-तत्त्व ही था, परन्तु बहुत होने वाला ब्रह्म 'प्रधान' अंश था। यह उसी प्रकार है जैसे कि खाने का निश्चय करने वाला मस्तिष्क होता है, परन्तु अन्न खाने वाला मुख और पुष्टि प्राप्त करने वाला पेट होता है।

स्वामी शंकराचार्य ने उपनिषदों में यह तो सिद्ध कर दिया है कि ईक्षण करने की सामर्थ्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन-स्वरूप में ही हो सकती है।

दर्शन-शास्त्र ने इसे युक्ति से सिद्ध किया है। जड़ निश्चय नहीं कर सकता कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई कार्य आरम्भ हो अथवा न हो, कब हो और कैसे हो ? इसके लिए किसी चेतन की आवश्यकता रहती है।

इसी सूत्र के भाष्य में श्री स्वामी शंकराचार्य ने परमात्मा के कर्ता होने तथा अनुभव के बिना कार्य करने इत्यादि के विषय में कहा है। हमारे विचार में उनका इस सूत्र के साथ सीधा अथवा उलटा कैसा भी सम्बन्ध नहीं है। अतः हमने इस पर विवेचना छोड़ दी है। इन उदाहरणों का स्वामीजी के विशेष मत से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।

स्वामीजी का विशेष मत यह है कि ब्रह्म और परमात्मा पर्यायवाचक शब्द हैं। परन्तु हमारा मत है कि ऐसा नहीं है। ब्रह्म उस एक अथवा अनेक पदार्थों को कहते हैं जो अनादि, अक्षर, अव्यय हैं। इन ब्रह्मस्वरूप पदार्थों में परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वव्यापक है। जीवात्माएँ अनेक हैं, अज्ञ हैं, अणु मात्र हैं। ये भी अनादि, अक्षर इत्यादि ब्रह्म गुण युक्त हैं। ब्रह्म में एक प्रधान भी है। यह कणदार, त्रिगुणात्मक और जड़ है। इसमें चेतना नहीं है।

ब्रह्म को इस प्रकार मानने से अनेक उपनिषद्-वाक्यों के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं, परन्तु इस मत के स्पष्ट प्रवक्ता श्वेताश्वतर ऋषि हैं। इन्होंने असंदिग्ध शब्दों में यह कहा है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते, अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।।
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म, तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा, लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः।।

(श्वे० १-६, ७)

इन मन्त्रों में यह लिखा है कि इस जगत् (ब्रह्म-चक्र) में सब जीव स्थित हैं और भ्रमण कर रहे हैं। वे हंस समान जगत् रूपी भँवर में फँसे हुए हैं।

आत्मा (परमात्मा) प्रेरणा देने वाला है, उसे पृथक् मानना चाहिए। यह (जीवात्मा) उस (परमात्मा) से जुष्ट (संयुक्त) होकर अमृतत्व को प्राप्त होता है।

ऊपर कहा गया (जगत् अर्थात् ब्रह्म-चक्र) परम ब्रह्म है। वह प्रेरित होने योग्य है जीवात्मा और आत्मा अर्थात् परमात्मा जिसके संयोग होने पर अमृतत्व प्राप्त होता है; यह (ब्रह्म-चक्र अर्थात् तीनों) जगत् सहित परम ब्रह्म हैं और उन तीनों को स्थिर (अनादि) अक्षर कहते हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्म को जानने वाले ब्रह्म में लीन ब्रह्म-ज्ञानी योनि मुक्त मानने चाहिए।

अगले मन्त्रों में तो और भी स्पष्ट कथन है—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥

(श्वे० १-८, ९, १०)

ये तीनों मन्त्र उक्त दोनों (श्वे० १-६, ७) मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए दिये गए हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है—

क्षर और अक्षर का (ब्रह्म चक्र में) संयोग है। विश्व में व्यक्त और अव्यक्त दोनों का पालन करने वाला ईश्वर है। एक आत्मा अनीश्वर भी है। वह भोग की लालसा में बँधा हुआ है, परन्तु (देव) परमात्मा को जानकर वह सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

ज्ञानवान् और अज्ञ दो अजन्मा (आत्मतत्त्व) हैं। एक ईश (शक्तिमान्) और दूसरा अनीश्वर (अल्प शक्तिमान्) है। एक अन्य है जो भोग करने वाले के भोग के निमित्त है। जो अनन्त आत्मा है, वह विश्व के रूप बनाता है, परन्तु अकर्ता है। वह भोग नहीं करता। इन तीनों को ब्रह्म जानो।

प्रधान (प्रकृति) क्षर भी है और अमृत (अक्षर) भी है और हरि (परमात्मा) तो अक्षर ही है। इनमें एक देव (परमात्मा) क्षर रूप वाली प्रकृति और आत्माना (जीवात्माओं) को वश में रखता है (शासन करता है)। उस (देव) का ध्यान और योग करने से तथा उसके भाव को जानने से अन्त में जाकर विश्व की भ्रान्ति (मोह) निवृत्त हो जाती है।

अपने कथन को ऋषि ने और भी स्पष्ट किया है—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥

(श्वे० १-१२)

इसे (त्रिविधं ब्रह्म को) जानकर (नित्यं) उसमें स्थित होकर उसके आगे और कुछ भी जानने योग्य नहीं है। (किसके आगे?) भोक्ता, भोग्य और प्रेरणा देने वाले से मानो। ये सब तीन प्रकार के ब्रह्म कहे गये हैं।

ऋषि को इतने से सन्तोष हुआ प्रतीत नहीं होता। वह पुनः इस विषय पर उपनिषद् के चौथे अध्याय में प्रसंग चलाता है।

ऋषि प्रश्न उपस्थित करता है। क्या परमात्मा स्त्री है? पुरुष है, कुमार है, कुमारी है, वृद्ध है, लाठी के आश्रय चलता है? परमात्मा ही सब ओर मुख वाला है?

क्या नीला, लाल, हरा, लोहित वर्ण वाला (सुन्दर रंगों वाला) पदार्थ वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है ? सबका आदि माना जाने वाला, जिसके सामर्थ्य से व्यवहार हो रहा है, जिससे विश्व के भुवन (नक्षत्र) उत्पन्न हुए हैं, क्या वही आत्मा है ?

(श्वे० ४-३, ४)

इस प्रश्न को उपस्थित कर ऋषि स्वयं उत्तर देता है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।।
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।*

(श्वे० ४-५, ६)

अर्थात्—एक अजन्मा है जो लोहित शुक्ल कृष्ण (रजस्, सत्त्व और तमस्) गुण वाला है, जो अपने ही (त्रिगुणात्मक) रूप की वस्तुएँ बनाता है। एक अन्य अजन्मा है, सेवन करता हुआ अनुशासन में रहता है। एक अन्य अजा (अजन्मा) है जो भोग-भोगी हुई (कार्य-जगत्) को त्याग देता है, अर्थात् स्वीकार नहीं करता।

दो सुपर्ण (सुन्दर पंखों वाले पक्षी) सयुजा (संयुक्त हो रहे) सखाया (सखा भाव रखते हुए) समानं वृक्षं (एक ही वृक्ष पर बैठे हुए) परिषस्वजाते (एक-दूसरे में मिले-जुले हुए हैं)। तयोरन्यः (उनमें एक) पिप्पलं (फल) स्वाद्वत् (स्वाद से खाता है) अनश्नन्नन्यो (दूसरा=परमात्मा नहीं खाता) और अभिचाकशीति (साक्षी रूप देखता है)।

उपर्युक्त कथन देने का प्रयोजन यह है कि ब्रह्म तीन पदार्थों का नाम है, प्रकृति, जीवात्माएँ और परमात्मा। इनमें समानता और भिन्नता हमने लिख दी है। ब्रह्म के इस प्रकार अर्थ समझ उपनिषदादि ग्रन्थों के अर्थ लगाये जाते हैं।

स्वामीजी ने उपनिषद ग्रन्थों से एक तत्त्व निकाला है। वह है 'एको ब्रह्म द्वितीयोनास्ति।' इसमें 'ब्रह्म एक है' तो सत्य निष्कर्ष है, परन्तु 'दूसरा कुछ नहीं', यह कहीं किसी भी मान्य उपनिषद् में नहीं मिलता। इसके विपरीत श्वेताश्वतर उपनिषद् का स्पष्ट मत हमने ऊपर प्रकट किया है।

यह मत सरल भाषा में त्रैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस ब्रह्माण्ड में तीन मूल पदार्थ हैं। ये तीनों अव्यक्त (इन्द्रियों से न दिखायी दिये जाने वाले) अक्षर (जिनका अन्त न हो), अनादि (जिनका आरम्भ नहीं), अव्यय (जो न्यूनाधिक नहीं होते) हैं; परन्तु इनमें एक जो परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध है—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक सब प्रकार से पूर्ण है। दूसरा तत्त्व जीवात्मा है। जीवात्माएँ अगणित संख्या में हैं, अणु मात्र हैं, अल्पज्ञ, अल्प-शक्ति के स्वामी हैं और परमात्मा

*** (श्वे० ४-६) का मन्त्र ऋग्वेद १-१६४-२० का मन्त्र है।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आश्रित हैं। ब्रह्म का तीसरा अंश प्रकृति है। वह जड़ है। 'इदं त्रिविधं ब्रह्म' ऐसा उपनिषद् में लिखा है।

यह विचार किया जाता है कि तीनों को एक ही तत्त्व क्यों न मान लिया जाए? और उस एक ही तत्त्व की तीन स्थितियाँ समझ ली जाएँ। इसमें आपत्ति यह की जाती है कि स्थितियों में मूल गुण में परिवर्तन नहीं होता। जैसे वाष्प, जल और बर्फ एक ही पदार्थ की तीन स्थितियाँ कही जाती हैं। शंकर मतावलम्बी परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति को वाष्प, जल और बर्फ के समान एक ही पदार्थ की तीन स्थितियाँ मानते हैं। परन्तु वाष्प, जल और बर्फ की सैद्धान्तिक समानता है। तीनों में हाईड्रोजन और ऑक्सीजन १:८ की तुलना में संयुक्त है। यह सैद्धान्तिक समानता यदि विलुप्त हो जाए तो वाष्प, जल और बर्फ एक पदार्थ न हो, दो अथवा अधिक भिन्न-भिन्न पदार्थ हो जाएँगे।

इसी प्रकार त्रिविधं ब्रह्म के तीन घटकों में स्थितियों का सम्बन्ध नहीं है। इनके मूल-गुण भिन्न-भिन्न हैं। उदाहरण के रूप में परमात्मा सत्, चित्, आनन्द है। जीवात्मा सत् और चित् है, आनन्द नहीं है; और प्रकृति केवल सत् है, न चित् है और न आनन्दस्वरूप है।

चैतन्यता और जड़ता मूल गुण माने जाते हैं। इनमें आत्मा और जीवात्मा एक श्रेणी में आते हैं और प्रकृति इनसे भिन्न है। एक अन्य भेद है। जीवात्मा और परमात्मा अविकारी (विकाररहित) हैं। प्रकृति विकारयुक्त है। इस प्रकार चैतन्यता और अविकारी होना ये मूल गुण हैं। इसी प्रकार आनन्दमय तथा अनानन्दमय होना भी मूल गुण हैं।

इसी सूत्र के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य ने कुछ अन्य प्रश्न उठाये हैं और उनका समाधान किया है। उनमें एक तो यह है कि परमात्मा ईक्षण करता है, विचार करता है। अतः विचार करने में क्रम होता है। इससे ईश्वर की नित्य सर्वज्ञता में सन्देह होता है। स्वामीजी ने इस आक्षेप का अपने ढंग पर उत्तर दिया है। हमारा इसमें केवल यह कहना है कि ईक्षण का अर्थ विचार करना नहीं। इसका अर्थ है निश्चय करना। सृष्टि उत्पत्ति के समय निश्चय करना कि अब सृष्टि बननी चाहिए।

दूसरा प्रश्न स्वामीजी ने यह उपस्थित किया है कि परमात्मा किन कारणों से सृष्टि की रचना करता है? इसका भी उत्तर स्वामीजी ने अपने ढंग पर दिया है।

स्वामीजी ने दोनों संशयों का समाधान उपनिषद् प्रमाण से दिया है। ये समाधान, जहाँ तक आप्त प्रमाण का सम्बन्ध है, ठीक हैं। परन्तु जो लोग वेदादि शास्त्रों को सत्य विद्याओं के ग्रन्थ नहीं मानते, उनके लिए उक्त उपनिषदादि ग्रन्थों के उद्धरण निरर्थक सिद्ध होंगे। उनके लिए अनुमान अर्थात् युक्ति ही प्रमाण है।

दर्शन-शास्त्र यही कर रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥६॥

गौणः + चेत् + न + आत्मशब्दात् ।

गौणः = गौण है, चेत् = यदि कहो तो, न = यह (युक्तियुक्त) नहीं, आत्मशब्दात् = आत्म शब्द (के प्रयोग) से ।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि यह कहो कि प्रकृति में ईक्षति गौण रूप से विद्यमान है तो यह युक्तियुक्त नहीं । कारण यह कि ईक्षण आत्म-शब्द के साथ सम्बन्धित है ।

इसका उदाहरण नास्तिक इस प्रकार देते हैं । वृक्ष पर से पककर आम गिर जाता है । इसी कारण कहा जाता है कि आम पककर गिर पड़ता है अथवा नदी के तट के नीचे से मिट्टी बह जाती है तो वह गिर पड़ती है । इस प्रकार कहा जाता है कि अचेतन भी कार्य करता देखा जाता है ।

सूत्रकार इस बात का खण्डन करता है और यह कहता है कि पका आम गिरता है अथवा नदी का किनारा टूटता है तो आम और किनारा कार्य नहीं करते । न ही वे गिरने का ईक्षण करते हैं । आम और नदी का किनारा नहीं गिरते हैं । कोई अन्य शक्ति उन्हें गिराती है । आम भू-आकर्षण से गिरता है । इसी प्रकार नदी का किनारा भू-आकर्षण से टूटता है । गिरने से पूर्व उनको गिरने से कोई रोके हुए था । यह रुकावट किसी अन्य कारण से दूर हुई तो आम और नदी का किनारा गिर पड़े । इनमें नदी के किनारे और आम ने स्वयं कुछ नहीं किया । वे तो जड़ ही हैं, निश्चल और ईक्षति रहित हैं । कार्य और ईक्षति दोनों आत्मतत्त्व से ही हो सकते हैं । आत्म-तत्त्व से चेतन का प्रयोजन है ।

बौद्ध तथा अन्य नास्तिक प्रकृति को क्रियाशील प्रकट करने के लिए इसी प्रकार के उदाहरण दिया करते हैं । ये उदाहरण अयुक्ति-संगत हैं । यही इस सूत्र का अभिप्राय है ।

स्वामी शंकराचार्य अपने स्वभावानुसार इस सूत्र के भाष्य में असंगत बात उठा रहे हैं । वह कहते हैं कि अचेतन प्रधान के लिए जो सत् शब्द लिखा है, उसमें आपः और तेज के समान 'ईक्षतिः' शब्द औपचारिक है । सत् क्यों है ? आत्म शब्द से ।

इस सूत्र में केवल मात्र यह कहा है कि जहाँ कहीं प्रकृति ईक्षण करती हुई अथवा कार्य करती हुई दिखायी देती है, यह भ्रम है । वह नहीं करती । आत्मा (चेतन तत्त्व) ही ईक्षण करता है और कार्य करता है ।

यहाँ ब्रह्मसूत्रों के एक अन्य भाष्यकार का मत भी लिख दिया जाये तो ठीक होगा । विद्याभास्कर वेदरत्न श्री उदयवीर शास्त्री, न्यायतीर्थ, सांख्य योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, विद्यावाचस्पति ने इसी सूत्र का भाष्य करते हुए लिखा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"शास्त्र में सर्ग विषयक ऐसे प्रकरण हैं, जहाँ जगत्कारण के लिए 'ईक्षति' का प्रयोग किया गया है। यह विवेचन करना आवश्यक होगा कि उनमें कहीं इस क्रिया-पाद का गौण प्रयोग है और कहीं मुख्य। किसी एक प्रकरण में गौण प्रयोग होने से सर्वत्र वैसा ही प्रयोग हो, यह किसी प्रकार न्याय नहीं कहा जा सकता…।

"ऐसे प्रकरणों में एतरेय उपनिषद् का प्रारम्भिक भाग है…।"

विद्वान् भाष्यकार ने उपनिषदादि ग्रन्थों में ऐसे प्रकरण देखे होंगे, जहाँ 'ईक्षण' शब्द का प्रयोग गौण रूप में किया गया होगा, परन्तु जो उदाहरण उन्होंने दिया है (ऐतरेय का प्रारम्भिक भाग) उसमें तो परमात्मा के विषय में ही ईक्षण करने का शब्द प्रयुक्त किया है। उपनिषद् वाक्य इस प्रकार है—

ओ३म् आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।
नान्यत् किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति॥

(एतरेय १-१-१)

इसका अर्थ है—आत्मा परमात्मा ही यह सत्, जगत् रचना से पूर्व था। कुछ अन्य नहीं था, जो हिलता था। उसने ईक्षण किया कि लोकों का सृजन हो।

यहाँ स्पष्ट है कि आत्मा शब्द परमात्मा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, प्रकृति के लिए नहीं, वैसे आत्मा (जीवात्मा) भी चेतन है और शरीरात्माओं में ऐसे ही कर सकता है।

शास्त्रीजी ने 'ईक्षति' गौण रूप से क्यों माना है यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। इस उपनिषद् (१-१, २, ३, ४) में परमात्मा को ही ईक्षण करने वाला और सृष्टि रचने वाला बताया है। यहाँ ईक्षण गौण क्यों है, समझ में नहीं आया।

इसी प्रकार स्वामी शंकराचार्य ने प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न का उदाहरण दिया है। हमारा विचार है कि इस उद्धरण में भी परमात्मा अथवा आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी के ईक्षण करने की बात नहीं। इस प्रश्न के तीसरे मन्त्र में लिखा है—

स ईक्षां चक्रे=उसने ईक्षण किया। किसने? निस्सन्देह उस पुरुष ने जो सोलह कला वाले शरीर में रहता है और सोलह कला वाले शरीर में कलाओं को प्रकट करता है। यह शरीर में जीवात्मा है।

जीवात्मा भी आत्मतत्त्व है अर्थात् चेतन है। ईक्षण करना चेतनता के कारण है। यह जड़ पदार्थ में नहीं होता। परन्तु यह चेतन आत्मा में भी नहीं हो सकता, यह कोई युक्ति नहीं।

हमारा मत है कि यहाँ पण्डित श्री उदयवीरजी तथा स्वामीशंकराचार्यजी ने 'ईक्षण' को गौण मान 'ईक्षण' का केवल परमात्मा से सम्बन्ध माना है। वह ठीक नहीं है। ईक्षण करना चेतनता का लक्षण है। जीवात्मा भी चेतनतत्त्व है। अतः वह ईक्षण कर सकता है। यहाँ ईक्षण सृष्टि-रचना के विषय में नहीं प्रत्युत शरीर में हो रही क्रियाओं के विषय में है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।।७।।

तत्+निष्ठस्य+मोक्ष+उपदेशात् ।

तत्=उस (में)। निष्ठस्य=निष्ठा रखने वाले का। मोक्षोपदेशात्= मोक्ष के उपदेश से (कल्याण किया है शास्त्र द्वारा उसका)।

अभिप्राय यह है कि जिसका वर्णन उक्त सूत्रों में किया गया है। सूत्र संख्या १-१-२ से लेकर १-१-६ तक जिसका उल्लेख किया गया है, उसमें निष्ठा रखने के लिए मोक्ष के उपदेश से (कल्याण किया गया है)।

निष्ठस्य का अर्थ है—निष्ठा अर्थात् विश्वास रखने वाले का। निष्ठस्य का एक अन्य अर्थ यह भी है—स्थित हुए का; ठहरे हुए का। यह दूसरा अर्थ हमने नहीं लिया। कारण यह कि जो उसमें स्थित हो गया है अर्थात् उस (परमात्मा) से जुष्ट हो गया है; उसके कल्याण के उपदेश की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसका कल्याण हो चुका होता है।

अत: प्रथम अर्थ ही उपयुक्त है। निष्ठस्य अर्थात् निष्ठा (विश्वास) रखने वाले का मोक्ष के उपदेश से (कल्याण किया गया है)।

यदि तो अर्थ किये जाते 'स्थित', तो तत् के अर्थ परमात्मा के होंगे, परन्तु हमने अर्थ किये हैं विश्वास रखने के अर्थात् जैसा जो है वैसा उसको मानने के। तब यह ठीक होगा कि तत् से अर्थ 'ब्रह्म' के किये जाएँ।

इस तीनों ब्रह्म की अवस्था में हम इस सूत्र के अर्थ इस प्रकार करते हैं। पूर्व सूत्रों (१-१-२ से १-१-६) तक में ब्रह्म अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन है। इस कारण इन तीनों में निष्ठा रखने वाले के लिए मोक्ष के उपदेश से कल्याण किया गया है। अभिप्राय यह कि परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों को जैसे-जैसे ये हैं, उनको वैसा मानने वाले को, शास्त्र में मोक्ष का उपदेश किया गया है।

यह बात अन्य लोग भी मानते हैं। उदाहरण के रूप में भगवान् कृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में लिखते हैं—

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु । (भ० गी० ७-१)

अर्थात्—ब्रह्म के समग्र स्वरूप को संशय रहित होकर जानने के लिए सुन। समग्र स्वरूप की व्याख्या भी की है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत:।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।

(भ० गी० ७-२)

इसका अर्थ है—मैं तुमको ज्ञान-विज्ञान सहित सम्पूर्ण रूप में बताता हूँ, जिसे जानकर अन्य कुछ जानने योग्य नहीं रह जायेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस ज्ञान-विज्ञान में श्रीकृष्ण ने बताया है कि प्रकृति अष्टधा है। इस प्रकृति से सूक्ष्म तत्त्व है जो प्रकृति से मिलकर प्राणी जगत् बनाता है और इन दोनों तत्त्वों से भी सूक्ष्म एक अन्य तत्त्व है जो इस जगत् को बनाता है और इसका प्रलय करता है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।

(भ० गी० ७-४, ५, ६)

इस समग्र स्वरूप को जानने वाले के लिए ही सूत्रकार ने मोक्ष के उपदेश से कल्याण की बात बताई है।

इस सूत्र में एक बात और स्पष्ट की गयी है कि जो ब्रह्म में निष्ठा अर्थात् उसके स्वरूप को भली-भाँति समझ लेता है, उसको शास्त्र में मोक्ष का उपदेश दिया है। यह नहीं कि बिना ब्रह्म के स्वरूप को समझे मोक्ष का उपदेश हो जायेगा।

यही बात हमने सूत्र १-१-१ में 'अथ' शब्द की व्याख्या में लिखी है। वहाँ बताया है कि 'अथ' अधिकारार्थ है। सूत्रकार अधिकारपूर्वक कहता है कि ब्रह्म के जानने की इच्छा की हम पूर्ति करते हैं। स्वामी शंकराचार्य ने 'अथ' आनन्तर्यार्थ माना है। मुमुक्षत्व पहले होना चाहिए और ब्रह्म का ज्ञान पीछे दिया जायेगा। इसे ही गाड़ी को घोड़े के आगे लगाना कहते हैं। अर्थात् मोक्ष क्या है, ब्रह्म क्या है और मोक्ष-प्राप्त की इच्छा करने वाला क्या है, यह पीछे बतायेंगे, पहले मोक्ष की इच्छा कर लो। यह अस्वाभाविक है।

इस सूत्र में यह बात स्पष्ट कर दी है कि जो ब्रह्म के स्वरूप को जानकर उसमें विश्वास कर लेते हैं, उनके लिए शास्त्र में मोक्ष का उपदेश है। अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा और उसकी पूर्ति के उपाय तो पीछे बताये जाते हैं। पहले (त्रिविधं) ब्रह्म को समझ लो।

इस सूत्र में यह बताया है कि विवेक और वैराग्य से जिसकी बुद्धि पर पड़ा बन्धन हट गया है, जिसको पूर्व के सूत्रों से ब्रह्म का अस्तित्व समझ में आ गया है, यह मोक्ष के उपदेश का अधिकारी है। अर्थात् उसे इस उपनिषद् के अनुसार गांधार का मार्ग दिखाया ज[illegible]ता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेयत्वावचनाच्च ॥८॥

हेयत्व+अवचनात्+च ।

और (उसकी) हीनता न कहे जाने से ।

च=और शब्द के प्रयोग से यह प्रकट किया गया है कि इस सूत्र का पूर्व के साथ सम्बन्ध है। दोनों सूत्र (१-१-७ और १-१-८) सम्बन्धित हैं। दोनों को एक-साथ पढ़ना चाहिए।

पहले (ब्र० सू० १-१-७) सूत्र में यह कहा है कि उस ब्रह्म में निष्ठा रखने वालों के लिए मोक्ष का उपदेश है और इस सूत्र (ब्र० सू० १-१-८) में यह कहा है कि वह हीन स्थिति का नहीं कहा गया। अर्थात् वह सामर्थ्य एवं अन्य उच्च गुणों से रहित नहीं।

वह आत्मतत्त्व जो ईक्षण करने की सामर्थ्य रखता है, वह अपने में हीनत्व नहीं रखता।

हमने ब्रह्म में तीन मूल-पदार्थ स्वीकार किये हैं। ब्रह्मसूत्रों में (१-१-२, १-१-३, १-१-४) तीन प्रकार के ब्रह्म के विषय में कहा है। इनमें भी हमने यह स्पष्ट करने का यत्न किया है जो कुछ सूत्रों में कहा है उसमें एक ब्रह्म कर्ता है, दूसरा ब्रह्म वह है जिसके लाभ के लिए किया गया है और तीसरा वह जिसपर कार्य हुआ है। कार्य है जगत्-रचना। १-१-५ में सूत्रकार ने यह बताने का यत्न किया है कि इस त्रिविध ब्रह्म में ईक्षण करने वाला आत्मतत्त्व है। वह प्रमाणित अर्थात् शब्द प्रमाण से भी सिद्ध है। १-१-६ में यह बताया है कि आत्मतत्त्व में ईक्षण एक गौण कार्य नहीं है। जैसे हवा चलती है। इसमें हवा का चलना प्रकट करता है कि हवा स्वेच्छा से बिना किसी के आश्रय के चलती है, परन्तु ऐसा है नहीं। अतः हवा का चलना गौण कर्म है। इस प्रकार आत्मतत्त्व में ईक्षण गौण नहीं। यह मुख्य गुण है।

१-१-७ में ऐसे आत्मतत्त्व के समग्र ज्ञान वाले के लिए मोक्ष का उपदेश है। और १-१-८ में कहा है कि ऐसा आत्मतत्त्व हेय अर्थात् सामर्थ्यहीन, जड़ नहीं। ईक्षण (discretion and decision) से रहित नहीं है। यह शास्त्रोक्त भी नहीं। हेय का अर्थ कई उपनिषदों में कार्य-जगत् भी लिया है। कारण यह कि कार्य-जगत् अस्थाई और परिवर्तनशील है। परन्तु यहाँ हेय का अर्थ निम्न कोटि का मानना ही ठीक है।

स्वामी शंकराचार्य इस सूत्र में भी पुनः अप्रासंगिक बात ले आये हैं। आप कहते हैं—

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यं 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छान्दो० ६-८-७) **इतीहोपदिष्टं स्यात्।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ है—यदि अनात्म प्रधान ही सत् शब्द से प्रकट होता तो छान्दोग्य उपनिषद् (६-७-८) में 'वह आत्मा तुम हो' में (प्रधान) उपदिष्ट होता।

उपनिषद्-वाक्य (६-७-८) के अर्थों के विषय में यह है कि वहाँ आत्म-शब्द से परमात्मा का अभिप्राय नहीं है। यहाँ हम यह भी बताना चाहते हैं कि सत् शब्द 'प्रधान' (मूल प्रकृति) का गुण यहाँ नहीं है। ऐसा सूत्र में नहीं लिखा। स्वामीजी अपना अप्रमाणित मत कि परमात्मा के अतिरिक्त कोई अन्य अनादि मूलतत्त्व नहीं सिद्ध करने के लोभ में यत्र-तत्र बिना संगति के भी अपना मत लिख देते हैं।

प्रथम, सत् शब्द का अर्थ 'चेतन' नहीं। यह बात समझ लेनी चाहिए। सत् का अभिप्राय है कि 'है,' जिसका अस्तित्व है। इसमें चेतनता-अचेतनता का प्रश्न नहीं।

मोनियर विलियम सत् शब्द के अर्थ अपने शब्दकोष में इस प्रकार लिखते हैं—

सत्—being, existing, occuring, happening, being present... real, actual, lasting, enduring.

क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा भी उक्त गुण रखते हैं, इस कारण वे भी सत् हैं, और प्रधान, जैसा सांख्य और अन्य शास्त्रों में वर्णन किया गया है, वह भी उक्त लक्षण रखता है। इस कारण वह भी सत् है।

सत् का अर्थ चेतनता नहीं। स्वामी शंकराचार्य शब्दों के अर्थ विकृत कर अपने मत को उपनिषदादि ग्रन्थों में से सिद्ध करना चाहते हैं।

प्रधान का सत् होना अथवा असत् होना यह इस सूत्र से सम्बन्धित नहीं।

हमारा यह कहना है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् के मतानुसार ब्रह्म में तीन तत्त्व मानकर उपनिषद् के अर्थ किये जाएँ तो बहुत से संदिग्ध-वाक्य और अस्पष्ट वाक्य सरल और सुगम हो जाएँगे।

एक बात माननी पड़ेगी कि उपनिषद् ग्रन्थ मनुष्य-कृत होने से और इनके लिखने वाले भिन्न-भिन्न कालों में होने से भाषा में समानता नहीं रही। इसपर भी कुछ सैद्धान्तिक आधार हैं उनको बदला नहीं जा सकता और वे सैद्धान्तिक आधार वेदों से पता चलते हैं।

युक्ति तो बिना किसी प्रमाणित अथवा अप्रमाणित ग्रन्थ का आधार लिये हुए चलती है। इसके लिए बुद्धि विवेकशील अर्थात् सात्त्विकी होनी आवश्यक है और साथ ही वैराग्य अर्थात् पूर्वाग्रहों से रहित होनी अनिवार्य है। ऐसा व्यक्ति ही युक्ति कर सकता है और युक्ति की बात समझ सकता है।

जब शास्त्र-प्रमाण का अवसर आता है तो हिन्दू परम्परा में वेद स्वतः प्रमाण माने हैं। स्वामी शंकराचार्यजी ने तो वेद (संहिताओं) को निम्न कोटि के ग्रन्थ प्रकट कर नास्तिकों के पक्ष का समर्थन किया है। उन्होंने ऐसा क्यों किया? यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कारण कि उनके अपने विचारों का उन ग्रन्थों में समर्थन नहीं मिलता।

वेद मत त्रैतवाद है। हम यह समझते हैं कि छहों वैदिक-दर्शन इसी को मानते हैं। उपनिषद् भी यह स्वीकार करते हैं। केवल वे कहीं-कहीं इतने अस्पष्ट हो जाते हैं कि भ्रम उत्पन्न होने लगता है।

स्वाप्ययात् ॥९॥

स्व+अप्ययात्।

अपने आप अभिगमन करने वाला होने से (वह परमात्मा है, अर्थात् चेतन है)।

इस प्रकार के अर्थ श्री ब्रह्म मुनिजी ने किये हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

स्व+अप्ययावत् = अपने में अप्यय (लय) होने से।

स्वामी शंकराचार्यजी इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रकृत्य श्रूयते—'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' (छा० ६-८-१) **इति। एषा श्रुतिः स्वपितीत्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं नाम निर्वक्ति। स्वशब्देनेहात्मोच्यते। यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः। अपिपूर्वस्यैतेर्लयार्थत्वं प्रसिद्धं; प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात्।**

अर्थात्—उसी सत् शब्द वाच्य कारण को श्रुति प्रकट करती है। श्रुति है (यत्रतत्पुरुषः—छा० ६-८-१)।

(श्रुति का अर्थ स्वामीजी लिखते हैं) जैसे सुषुप्ति अवस्था में वह पुरुष स्वपिति—सोता है, ऐसा कहा जाता है। उस समय हे सोम्य! यह सम्पन्न होता है अर्थात् परमात्मा के साथ तद्रूप होता है। अर्थात् अपने में लय होता है। उस समय उसे 'स्वपिति', ऐसा कहते हैं, वह अपने में ही लीन होता है। यह श्रुति भी पुरुष के स्वपिति (सोता है)। ऐसा लोकप्रसिद्ध निर्वचन है। स्व शब्द से आत्मा का अर्थ है जो प्रकृत और सत् शब्द वाच्य है, उसमें लीन होता है। अभिपूर्वक 'इण' गत्यर्थक धातु का लय अर्थ प्रसिद्ध है। प्रभव और अप्यय दोनों शब्द उत्पत्ति और प्रलय अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

स्वामीजी के प्रवचन को सरल भाषा में लिखा जाये तो उक्त सूत्र का अर्थ इस प्रकार बनेगा कि जब मनुष्य सोता है तो मनुष्य कलेवर में स्थित जीवात्मा सर्वव्यापक परमात्मा में लय हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः सूत्रार्थ बना—अपने में लीन हो जाने से वह आत्मा है। स्वामीजी स्व के अर्थ सत् और सत् के अर्थ आत्मा मानते हैं।

स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी (अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा) ने अंग्रेज़ी भाषा में ब्रह्मसूत्रों का भाष्य किया है। वे इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

On account of resolving or merging in one's own self. When a man is said to be thus asleep, he is united with the 'sat', my child; he merges in his own self. (chh. 6.8-1) Here it is taught that the individual soul merges in 'sat'.

वास्तव में शंकर-पंथी इस सूत्र की विवेचना में स्वप्नावस्था अथवा सुषुप्ति अवस्था को लाकर अर्थों को विषम ही बना रहे हैं। सूत्र का अर्थ जैसाकि स्वामी ब्रह्ममुनि ने लिखा है, अति सरल और एक अकाट्य युक्ति के रूप में है।

अर्थ है—(प्रलय काल में) परमात्मा में जीवात्मा का अभिगमन अर्थात् लय होता है। स्वामी ब्रह्ममुनि इस बात के समर्थन में एक वेद प्रमाण देते हैं। वह इस प्रकार है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥

(यजु० ३२-११)

अर्थ है—सब भूतों में व्याप्त होकर, सब लोकों में व्याप्त होकर, सब दिशाओं और उपदिशाओं में व्याप्त होकर वह प्रथम विद्यमान जो सत् (प्रकृति), आत्मा (जीवात्मा) को भी अपने में स्थापित एवं प्रविष्ट कर लेता है।

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए कि उपर्युक्त सूत्र परमात्मा के जगत् का निमित्त अथवा उपादान कारण होने की सिद्धि में नहीं लिखा। यह परमात्मा और जीवात्मा तथा प्रकृति के परस्पर सम्बन्धों के विषय में है।

अन्य भाष्यकारों के विषय में कठिनाई यह है कि उदाहरण देने में स्वामी शंकराचार्य द्वारा दिए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। स्वामीजी से पूर्व किसी भी विद्वान् का वेदान्त-दर्शन पर भाष्य मिलता नहीं और उनसे पीछे आने वाले भाष्यकार भी स्वामीजी का अनुकरण करते प्रतीत होते हैं। भले ही उदाहरण का प्रस्तुत सूत्र से किसी प्रकार का मेल न हो।

ब्रह्मसूत्रों में तो उपनिषदादि ग्रन्थों के उदाहरण अथवा उद्धरणों का संकेत नहीं। वहाँ केवल मात्र वक्तव्य है। प्रायः वक्तव्य युक्तियाँ हैं। भाष्यकारों ने उन युक्तियों तथा वक्तव्यों का उपनिषदादि शास्त्रों में भी उल्लेख बताया है। वास्तव में वे सूत्रों का अंग नहीं हैं।

उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्यजी इस सूत्र के आशय को छा० ६-८-१ के उदाहरण से स्पष्ट करना चाहते हैं। सूत्र में इसका संकेत भी नहीं है। छान्दो०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६-८-१ के विषय में इतना बताना पर्याप्त होगा कि उसमें प्राणी की सुषुप्ति की अवस्था में स्वप्न में मन के भटकने और जीवात्मा के आश्रय लौट आने की बात कही है। वहाँ परमात्मा के अपने में लीन होने की बात नहीं है।

छान्दोग्य ६-८-१ में लिखा है—

(यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता) जब यह पुरुष (मनुष्य) सोया हुआ नाम से कहा जाता है। (सोम्य तदा सम्पन्नो भवति; स्वमपीतो भवति) हे सोम्य ! तब अपने में लीन हो गया होता है। (तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते, स्व ह्यपीतो भवति) इससे वह अपने में लीन कहा जाता है, अपने में ही लीन होता है। सम्पन्न का अर्थ अपने में सन्तुष्ट होना है।

यह जीवात्मा के विषय में कहा है। एक युक्ति यह है कि परमात्मा सोता नहीं। दूसरी युक्ति यह है कि छा० ६-८-२ में लिखा है कि जैसे डोरी से बँधा पक्षी बन्धन के कारण दिशाओं और उप-दिशाओं में उड़ता हुआ पुनः वँधने वाले स्थान पर आ जाता है, वैसे ही सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न होने पर मन अन्य कहीं आश्रय न मिलने पर प्राणी में आश्रय पाता है। प्राण बन्धन है मन का।

इससे स्पष्ट है कि उक्त अपने में लीन होने वाला परमात्मा नहीं, जीवात्मा है। कारण यह कि मन परमात्मा से बँधा नहीं होता, जीवात्मा से बँधा होता है। प्राण बन्धन है मन का। यहाँ प्राण परमात्मा के लिए नहीं, जीवात्मा के लिए है। प्राण मनुष्य भी नहीं। कारण यह कि मन शरीर के साथ बँधा नहीं। यह माना है कि मृत्यु के समय जब जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है, तब मन भी उसको छोड़ जाता है।

अतः इस (छा० ६-८-१) में स्वपिति जीवात्मा के लिए आया है। परमात्मा के लिए नहीं।

स्वामी शंकराचार्य ने भी यहाँ यही माना है। अर्थात् उन्होंने भी जीवात्मा से ही अभिप्राय माना है। आप लिखते हैं—

स्वशब्देनेहात्मोच्यते। यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः।

अर्थात्—(श्रुति उपनिषद् में) स्व शब्द से आत्मा का अर्थ है, जो प्रकृत एवं सत् शब्द से कहा गया है। उसमें अपीत (लीन) होता है।

परन्तु सूत्र (१-१-९) में स्वशब्द जीवात्मा के लिए नहीं है। यह परमात्मा के लिए है। अतः इस सूत्र की व्याख्या में छा० ६-८-१ का उद्धरण अयुक्त है, असंगत है।

सूत्र में स्व से आत्मतत्त्व का अभिप्राय है। क्योंकि वेदान्त-सूत्र (१-१-६,७,८) में ईक्षण करने वाले आत्मा का उल्लेख है। यह परमात्मा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गतिसामान्यात् ॥१०॥

गति की समानता होने से (चेतन परमात्मा के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है)।

इसका अभिप्राय है कि जगत् के सब पदार्थों में गति=व्यवहार की समानता होने से इसका एक समान कारण होना सिद्ध होता है।

यहाँ जगत् के विभिन्न पदार्थों में रूप तथा अन्य गुणों की समानता नहीं मानी। गति में समानता मानी है। गति का अर्थ व्यवहार है।

उदाहरण के रूप में सब प्राणियों में सन्तानोत्पत्ति का समान नियम है। पुरुष तथा स्त्री अंश मिलकर भ्रूण बनता है। प्राण ही चेतनता है। बीज से प्राणी बनता है। यह नियम व्यापक है। जिनके सन्तान होती है, सबमें यह समान है। अतः इससे जगत् के एक (समान) ही कारण की पुष्टि होती है।

और उदाहरण लीजिये। जगत् में सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि चक्राकार गति में घूमते हैं। इनकी गति वृत्ताकार (circular) नहीं होती, वरन् रवि मार्गाकार (elyptical) है। सब नक्षत्रादि इसी प्रकार घूमते हैं।

इस सूत्र का अर्थ है जगत् के पदार्थों की गतियों में समानता होने से इनके एक ही कारण होने का निश्चय होता है।

यहाँ भी स्वामी शंकराचार्य तथा उनके पद्-चिह्नों पर चलने वाले भाष्यकारों ने इस सरल स्पष्ट अर्थ को छोड़ टेढ़ा-मेढ़ा अर्थ करने का यत्न किया है। स्वामीजी लिखते हैं—

यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिरभविष्यत्क्वचिच्चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं, क्वचिदचेतनं प्रधानं, क्वचिदन्यदेवेति, ततः कदाचित्प्रधानकारणवादानुरोधेनापीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत। नत्वेतदस्ति; समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः।

अर्थात्—यदि तार्किकों की भाँति वेदान्तों में भी भिन्न-भिन्न कारण—गति (व्यवहार) होती है, कहीं चेतन ब्रह्म, कहीं अचेतन प्रधान, कहीं अन्य देवता जगत् का कारण माना जाता, तब कदाचित् प्रधान (प्रकृति) को कारण मानने वालों के विरुद्ध सिद्धान्त से ईक्षति आदि श्रुति भी प्रधान के विषय में कल्पित की जा सकती थी। ऐसा नहीं है। क्योंकि सभी (वेदान्तों) में समान रूप से चेतन कारण को ही माना है।

यहाँ प्रधान और चेतन के विरोध की बात अकारण उपस्थित कर दी है। साथ ही यह कि क्या जगत् की गतियों में भिन्नता का उल्लेख है? यह भी नहीं कि पूर्ण जगत् सिद्धान्त रूप में एक समान ही व्यवहार करता देखा जाता है। संसार में भिन्नता तो है। पृथिवी और अन्य नक्षत्रों के रूप-रंग में अन्तर (भिन्नता) दिखायी देता है, परन्तु गति (व्यवहार) में समानता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार स्थावर और जंगम प्राणियों में रूप-रंग में भेद है, परन्तु सन्तानोत्पत्ति, जो एक व्यवहार है, उसमें समानता है। 'गतिसामान्यात्' से व्यवहार में समानता का ही अभिप्राय है।

पण्डित उदयवीर शास्त्री गति का अर्थ ज्ञान करते हैं। वह इस सूत्र का अर्थ करते हुए लिखते हैं—

(गति सामान्यात्) गति=ज्ञान=चेतना के समान होने से (ब्रह्म-आत्मा जैसा चेतन है)।

गति के अर्थ ज्ञान हो सकते हैं, परन्तु हमारे मत में गति गम् धातु से बनने के कारण इसे 'चाल' भी कहते हैं और यहाँ वही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है, जो हमने ऊपर कहे हैं।

श्री ब्रह्ममुनि वही अर्थ करते हैं, जो हमने किये हैं। वे लिखते हैं—

(गति सामान्यात्) गति=गम्यमानता=रीति-नीति=लोक-व्यवहार की समानता से। लोक में चेतन निमित्त कारण ही देखा जाता है। वह उपादान भी नहीं हो सकता।

श्री स्वामी ब्रह्ममुनिजी ने चेतन और जड़ का झगड़ा यहाँ अनावश्यक रूप में उपस्थित कर दिया है।

यह वास्तविकता है कि कार्य-जगत् के व्यवहार में समानता होने से इसका कारण एक ही है।

उपनिषद् इसको इस प्रकार वर्णन करता है—

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥

(श्वे० ३-१, २)

(य एको) जो एक ही है, (जालवानीशत) जाल की भाँति जगत् को नियन्त्रित करता है; (ईशनीभिः) अपनी शक्ति से; (सर्वांल्लोकानीशत) सब लोकों को नियन्त्रण में रखता है; (ईशनीभिः) सब शक्तियों से (य एवैक) जो एक ही (उद्भवे संभवे च) उत्पत्ति एवं पालन करने में है (एतद् विदुः अमृतास्ते) इसे ही जानकर अमृत को प्राप्त होते हैं।

(एको हि रुद्रो) वह परमात्मा एक ही है, (न द्वितीयाय तस्थुर्य) किसी दूसरे को स्थापित मत करो; (इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः) इन लोकों को अपनी शक्तियों से नियन्त्रित करता है; (प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति) प्रत्यक्ष रूप में सब प्राणियों में रहता है; (संचुकोचान्तकाले) अन्त काल में संहार करता है; (संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः) विश्व के नक्षत्रादि को बनाकर उनका पालन करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुतत्वाच्च ॥११॥

श्रुतत्वात्+च

श्रुतत्वात्+च=और श्रुति में भी वर्णन से।

'जन्माद्यस्य यतः' से आरम्भ करके 'गति सामान्यात्' तक, सभी सूत्रों में युक्ति से ब्रह्म और उसमें चेतन तत्त्व के निमित्त कारण होने की बात कही है। दर्शनाचार्य कहते हैं कि श्रुति (वेद) भी इसका वर्णन इसी प्रकार करती है।

हमने अपनी इस व्याख्या के आरम्भ में ही कहा है कि वेदान्त-दर्शन एक वैदिक-दर्शन है। अतः इसमें वैदिक मान्यताओं को युक्ति से सिद्ध किया गया है।

हमारे उक्त कथन का प्रमाण ही यह सूत्र है। दर्शनाचार्य ने अभी तक एक भी संकेत किसी उपनिषद्-वाक्य अथवा वेदमन्त्र की ओर नहीं किया। सब सूत्रों में एक-से-एक प्रबल युक्ति देकर यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म है और वही जगत् का कारण है, वह मूल ज्ञान का दाता है, कार्य-जगत् में सब समन्वय उसी से होते हैं इत्यादि।

इतना सिद्ध कर इस सूत्र में कहा है कि वेदों में भी यही बात कही है। श्रुति में क्या लिखा है? वही जो हम ऊपर लिख आये हैं।

एक-दो उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायेगी। एक वेदमन्त्र में लिखा है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यजु० १३-४)

मन्त्र का अन्वय इस प्रकार है—

अग्रे+भूतस्य+जातः+पतिरेक+आसीत्+हिरण्यगर्भः+समवर्तत। स+दाधार+पृथिवीम्+द्यामुत+इमाम्+कस्मै+देवाय+हविषा+विधेम।

इसका अर्थ है—सर्ग के पूर्व में प्राणियों को उत्पन्न करने वाला एक स्वामी था; तब सम्पर्क रूप में स्थित हुआ हिरण्यगर्भ बना। उसने इस पृथिवी और द्युलोक को धारण किया। ऐसे परमात्मा की भक्तिपूर्वक उपासना करें।

एक अन्य उदाहरण है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

(ऋ० १०-१२९-२)

उस समय (रचना से पूर्व) न मृत्यु थी न अमृत। (कुछ बनता बिगड़ता नहीं था) न दिन था न रात्रि (सूर्य नहीं था)। कुछ जानने योग्य नहीं था। एक गतिहीन शक्ति (latent form of energy) थी और एक अपने में स्थित (स्वधा) प्रकृति थी। इनके अतिरिक्त कुछ नहीं था।

इस मन्त्र का अभिप्राय ही सूत्र 'स्वाप्ययात्' में वर्णन किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आनन्दमयोऽभ्यासात् ।।१२।।

आनन्दमयः + अभ्यासात् ।

अभ्यास से अर्थात् उस (ब्रह्म) की बार-बार उपासना से (जीवात्मा) आनन्दमय हो जाता है ।

उपासना का अर्थ है समीप बैठना । परमात्मा तो सर्वत्र व्यापक है । अतः ब्रह्म के समीप बैठने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने में ही विद्यमान परमात्मा एवं प्रकृति, जिससे बने हुए शरीर में आत्मा रहता है, इन दोनों के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करे । ब्रह्म के समग्र रूप को भली-भाँति समझना ही ब्रह्म की उपासना है । बार-बार उपासना करने से जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है ।

ब्रह्म के अस्तित्व को जानना तो ज्ञान का विषय है । यह युक्ति से भी जाना जा सकता है, परन्तु उस ब्रह्म के समग्र स्वरूप को समझने के लिए ब्रह्म के समीप बैठकर उससे जुष्ट होना आवश्यक है । सूत्रकार का कहना है कि यह अभ्यास से होता है और बार-बार अभ्यास करने से ब्रह्म का समग्र ज्ञान होता है । तब जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है ।

ब्रह्म को जानने का अर्थ त्रिविध ब्रह्म को जानना है । जीवात्मा अपने को जाने, उस प्रकृति को जाने जो उसे अपने में बाँधे हुए है और परमात्मा को जाने, जो इस सम्पूर्ण जगत् का रचने वाला, पालन करने वाला और प्रलय करने वाला है। परमात्मा और प्रकृति तथा जीवात्मा का अपने विषय में पूर्ण ज्ञान, बार-बार समीप बैठने से ही होता है और तब जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है ।

परमात्मा और जीवात्मा का सामीप्य तो मनुष्य के हृदय की गुहा में होता है, परन्तु जीवात्मा कार्य-जगत् के रसास्वादन में इतना लीन होता है कि वह परमात्मा के समीप होने पर भी, उसकी ओर ध्यान नहीं देता ।

उपनिषद् इस विषय में कहता है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।।

(कठो० १-३-१)

सत्य का पालन करते हुए (सुकृत) मनुष्य लोक में अर्थात् मानव-शरीर में, गुहा में बैठे हुए परम स्थान में (अभिप्राय है शरीर के उच्च स्थान में) दोनों छाया और धूप की तरह हैं । ब्रह्म को जानने वाले, पंच महायज्ञ करने वाले गृहस्थी और अखण्ड ब्रह्मचर्य रखने वाले यही कहते हैं । अभिप्राय यह कि सब विद्वान् और कर्मयोगी यही कहते हैं ।

अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा मनुष्य के मस्तिष्क में, एक गुहा में इकट्ठे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं। वहीं दोनों में जुष्ट (योग) हो सकता है। इस योग को ही उपासना कहते हैं। इससे जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है।

इस सूत्र पर भाष्य लिखते समय स्वामी शंकराचार्य अपनी विशेष बुद्धि का परिचय देते हुए इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

इदमुच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्।' पर एवात्माऽऽनन्दमयो भवितुमर्हति। कुतः? अभ्यासात्। परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते।

अर्थात्—'आनन्दमयोऽभ्यासात्।' यह सूत्र कहा है। परम आत्मा ही आनन्दमय हो सकता है। कैसे? अभ्यास से। परम आत्मा में ही आनन्द शब्द का प्रयोग हुआ है। बहुत बार अभ्यास करने से······

यहाँ तक तो ठीक है। आत्मा-शब्द से जीवात्मा भी लिया जा सकता है, परन्तु स्वामीजी इसके आगे तैत्तिरीय उपनिषद् २-६, २-७, २-८ तथा २-९ के उद्धरण देते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् २-६ तथा बृ० उ० ३-९ और २-८ में ब्रह्म के लिए ही आनन्द शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः आप कहते हैं—

'आत्म ब्रह्मेति गम्यते।'

अर्थात्—आत्मा का अभिप्राय ब्रह्म ही है।

ब्रह्म आनन्दमय है। इससे ब्रह्म के आनन्दमय होने की बात कह रहे हैं। आपका कहना है कि केवल ब्रह्म को ही बार-बार आनन्दमय लिखा है। इस कारण उक्त सूत्र का अर्थ यह है कि शास्त्र में लिखा होने से यह मानना चाहिए कि वह आनन्दमय है।

परन्तु सूत्र में आनन्द परमात्मा के लिए नहीं है।

हमारा मत यह है कि 'उपासना के अभ्यास से जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है।' सूत्र का यह अर्थ है। स्वामीजी के लिए इस सरल सीधे अर्थ को स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि वह जीवात्मा एवं प्रकृति को अनादि तत्त्व मानते नहीं। वह मानते हैं 'एकमेव ब्रह्म द्वितीयोनास्ति।' अतः इस सूत्र में कौन उपासना करे? किसकी उपासना करे और कौन आनन्दमय होगा? वह इसका विचार नहीं कर सके।

जीव और परमात्मा के दो पृथक्-पृथक् तत्त्व होने के, हम वेद, उपनिषद् और गीता के प्रमाण दे चुके हैं। अतः हमारे लिए उक्त सूत्र के अर्थ में जीवात्मा के आनन्दमय हो जाना मानने में कुछ कठिनाई नहीं होती। हमारा मत है 'अभ्यासात्' का अभिप्राय शास्त्रों में बार-बार लिखा होना नहीं, वरन् बार-बार उपासना में परमात्मा से जुष्ट होना है, वैसे ही जैसे इस उपनिषद् में वर्णित है—

पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥

(श्वे० १-६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने को और प्रेरणा करने वाले को पृथक्-पृथक् मान, उससे जुष्ट (संयुक्त) हो अमृत (मोक्ष) पाता है।

अब तनिक उन प्रमाणों को भी देखें जो स्वामीजी ने इस सूत्र के भाष्य में दिये हैं। क्या उन प्रमाणों में जीवात्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया है ?

स्वामीजी तैत्तिरीय उपनिषद् के ब्रह्मवल्ली अध्याय का बार-बार उल्लेख करते हैं। अतः हम इस वल्ली के विषय में कुछ व्याख्या से यहाँ लिख दें तो स्वामीजी द्वारा उपस्थित भ्रम का निवारण हो जायेगा।

तैत्तिरीय उपनिषद् में तीन अध्यास (वल्लियाँ) हैं। प्रथम है शिक्षा वल्ली। इसमें उपनिषद्कार विद्यार्थी की शिक्षा का वर्णन करता है। इसमें वे अ-आ-इ-ई इत्यादि से लेकर शिक्षा का अन्त इस प्रकार करते हैं :

एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमुचैतदुपास्यम्॥

(तैत्तिरीय १-११-४)

अभिप्राय यह कि वर्णमाला से शिक्षा आरम्भ करके वेद, उपनिषद्, अनुशासन और उचित आचरण तक बताया है।

दूसरी वल्ली 'ब्रह्मवल्ली' है। इसमें ब्रह्म का उल्लेख है। ब्रह्म क्या है, इसका वर्णन किया है। इसके विषय में ही स्वामीजी बार-बार अपने शारीरिक भाष्य में लिखते हैं। इस पूर्ण वल्ली का अभिप्राय हम नीचे लिख देते हैं।

इस वल्ली में नौ 'अनुवाक' हैं। प्रथम अनुवाक है—

ओं ब्रह्मविदाप्नोति परम्……

ब्रह्म को जानने वाले परम्-पद पाते हैं।

वल्ली का आरम्भ ही यह प्रकट करता है कि ब्रह्म और उसके जानने वाले पृथक्-पृथक् हैं। यह स्पष्ट है कि जानने वाला ब्रह्म से पृथक् है।

आगे परम् का अर्थात् परमातमा का वर्णन करते हुए लिखा है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।'

जो ब्रह्म को सत्य, अनन्त ज्ञानयुक्त, परम् व्योम की गुहा में स्थित मानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को भोगता है।

यहाँ भी, अनन्त ज्ञानयुक्त सबकुछ देखने वाले को जो ब्रह्म के साथ रहता हुआ सब कामनाओं को भोगने वाला है, उसको परमात्मा से पृथक् माना है।

इसके आगे इन कामनाओं को भोगने वाले का वर्णन किया है। यह पुरुष है अर्थात् प्राणी है।

यहाँ और इस वल्ली के आगे के अनुवाकों में बार-बार ये शब्द आये हैं—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका अर्थ है कि उस तथा इस आत्मा से।

यहाँ उस और इससे अभिप्राय केवल मात्र यह है कि पुरुष जिसकी व्याख्या की जाने वाली है, उसमें दो पदार्थों का संयोग है। उस और इस। इसके साथ 'आत्मनः' शब्द आया है। इससे यह स्पष्ट है कि उसका अभिप्राय किसी अनात्म पदार्थ से है। निस्सन्देह वह प्रकृति ही हो सकती है।

लिखा है कि उस तथा इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आपः, आपः से पृथिवी, पृथिवी से वनस्पतियाँ, वनस्पतियों से अन्न, अन्न से रेतस् तथा रेतस् से पुरुष। अतः वह पुरुष अन्न रसमय है। अर्थात् अन्न का सार रूप है।

शब्द हैं···**स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।**

अभिप्राय यह कि पुरुष के शरीर के बनने में प्रकृति और परमात्मा कारण हैं। प्रकृति उपादान कारण है और आत्मा निमित्त कारण है।

दूसरा अनुवाक इस प्रकार है—

शरीर को एक कोष माना गया है। कोष का अभिप्राय है खोल (sheath)। इसे अन्नमय कोष कहा है। यह कहा है कि पृथिवी पर जितने भी प्राणी हैं, सब अन्न से पैदा होते हैं। पैदा होने पर जीवित रहते हैं और अन्त में इस अन्न में ही लीन हो जाते हैं। अभिप्राय यह कि शरीर का अन्त उन तत्त्वों में होता है जो अन्न को उत्पन्न करते हैं। अतः अन्न प्राणियों का (ज्येष्ठ) मुख्य स्रोत है। यह सबकी औषधि है। यहाँ अन्न से अभिप्राय है पंचमहाभूत।

इसके अन्त में कहा है—

येऽन्नं ब्रह्मोपासते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति।

जो अन्न ब्रह्म की उपासना करता है, वह सम्पूर्ण अन्न को पाता है।

यहाँ अन्न को ब्रह्म कहा है। अन्न त्रिविध ब्रह्म का एक स्वरूप है। इसमें प्रकृति का अंश है, जीवात्मा भी और परमात्मा भी है। सब अक्षर होने से ब्रह्म हैं।

अगले अनुवाक के प्रथम मन्त्र में उसी वाक्य का प्रयोग किया है, जिसका प्रथम अनुवाक के अन्त में किया है।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।

उस और इस अन्न के रसमय होने से इसमें भी एक सार (आत्मा) है। वह प्राणमय है।

अन्न का रस प्राण माना है और इसको अन्नमय से दूसरा कहा है।

आगे प्राणमय कोष का वर्णन किया है। प्राणमय कोष का रूप पुरुष शरीर जैसा ही है। इसका अर्थ है कि प्राण पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस कोष का भी शिर, पीठ, दक्षिण तथा उत्तर पक्ष है। पुरुष (शरीर) की भाँति इसके अवयव हैं।

प्राण का अर्थ श्वास लेते समय अथवा छोड़ते समय की वायु नहीं है। इसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ है कि शरीर से कार्य कराने वाली शक्ति। जब तक शरीर कार्य करता है, यह जीवित माना जाता है। अतः प्राण को आयु भी कहा है।

लिखा है—**'ये प्राणं ब्रह्मोपासते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति।'** जो प्राण ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे आयु प्राप्त करते हैं।

जहाँ अन्न को ब्रह्म माना है, वहाँ प्राण को भी ब्रह्म माना है। प्राण प्रकृति से प्राप्त परमात्मा की शक्ति का रूप होने से यह भी ब्रह्म है।

तीसरा अनुवाक भी इसी प्रकार आरम्भ होता है—

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।

उससे और इस प्राण ब्रह्म से पृथक् एक और आत्मा (सार) मनोमय है।

अब मनोमय कोष के लक्षण वर्णन करते हैं। मनोमय कोष भी पुरुष शरीर में व्यापक है। उसका स्वरूप पुरुष शरीर के समान है। इसके भी शिर, पीठ, दक्षिण-उत्तर इत्यादि पक्ष हैं।

इस कोष को भी ब्रह्म माना है। लिखा है—

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

जब वाणियाँ (इन्द्रियों के विषय; वाणी एक उदाहरण के रूप में है) मन को अप्राप्त होकर लौट जाती हैं, तब ब्रह्म के आनन्द को जानता हुआ मन डरता नहीं। उस (मन) का यही शरीर में रहने वाला आत्मा है। यह इस कारण कि मन जन्म-जन्मान्तर तक जीवात्मा के साथ रहता है।

इसके आगे फिर वही लिखा है—**'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः।'**

उस और इस मनोमय कोष से एक अन्य और उसके भीतर विज्ञानमय कोष है।

वह भी पूर्ण शरीर में रहता है। उसका स्वरूप पुरुष शरीर की भाँति है। उसके अवयव शरीर की भाँति हैं। उसके भी सिर, दक्षिण-उत्तर पक्ष और पीठ हैं।

पाँचवें अनुवाक में विज्ञानमय कोष का उल्लेख है। यह बुद्धि है। इससे धर्म का विस्तार होता है। कर्मों का भी विस्तार होता है। सब देव (इन्द्रियाँ) बुद्धि को अपना बड़ा (ज्येष्ठ) मानती हैं। इसका भी स्वरूप बताया है।

इसके आगे पुनः—**'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः।'**

इस और उस विज्ञानमय कोष से अन्य और भीतर एक आनन्दमय कोष है। वह भी पुरुष शरीर के स्वरूप का है। इत्यादि।

इस आनन्दमय कोष की पीठ ब्रह्म की ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये पाँच अनुवाकों का संक्षेप में वर्णन है। ये पाँचों कोष हैं। किसके? यह प्रश्न है। निस्सन्देह जीवात्मा के। परमात्मा तो इन कोषों से बाहर भी पूर्ण जगत् एवं ब्रह्माण्ड में व्यापक है। परन्तु यहाँ शरीर से अभिप्राय है।

आनन्दमय कोष भी पुरुष की भाँति पीठ, दक्षिण-उत्तर पक्ष इत्यादि रखता है। पुरुष की भाँति अवयव रखता है।

स्वामीजी ने इस उपनिषद् के चार उद्धरण दिये हैं। २-६, ७, ८, ९ और ३-६।

यहाँ पहले (तैत्ति० २-६) की व्याख्या दे रहे हैं।

(असन्नेव स भवति) असत् न इव=असत् की भाँति नहीं। स भवति, वह होता है; अर्थात् वह विनष्ट नहीं होता। (असद् ब्रह्मे ति चेत्) यदि वह ब्रह्म नहीं होता; ('अक्षरं ब्रह्म' (भ० गी०) का अभिप्राय है) (अस्ति ब्रह्मे ति चेत् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति) यदि कहो कि ब्रह्म—अक्षर है तो ऐसा ज्ञानी लोग जानते हैं; (तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य) जैसे पूर्व के कोषों को लिखा है, वैसे ही इस शरीर का भी आत्मा है।

(अथातोऽनुप्रश्नाः) इस पर एक छोटा-सा प्रश्न है। (उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती ३) कोई अविद्वान् मरने पर मोक्ष पद में जाता है क्या? (आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित् समश्नुता ३उ) कहो क्या विद्वान् मरने पर ब्रह्मलोक में जाता है? (अविद्वान् नहीं, विद्वान् जाता है) यह उत्तर है।

इससे यह स्पष्ट है जैसे कि ऊपर वर्णन किया है कि शरीर का आत्मा अन्न है, अन्न का आत्मा प्राण है, प्राण का मन है, मन का आत्मा विज्ञान (बुद्धि) है, और बुद्धि का आत्मा आनन्द है। इन सबमें रहने वाला आत्मा (जीवात्मा) है, जीवात्मा अज्ञानी होने पर ब्रह्म को नहीं पाता। ज्ञानी होने पर ब्रह्म को पाता है। यहाँ सब स्थान पर आत्मा का अर्थ सार है।

इस अन्तिम आत्मा को कुछ लोग परमात्मा मानते हैं। हमारा मत है कि यह जीवात्मा है। आनन्दमय कोष तो स्थान है। उसकी पुच्छ ब्रह्म है, परन्तु उसमें रहता आत्मा है। यह उस कोष का स्वामी है, परन्तु यह ब्रह्म को तब पाता है जबकि ज्ञानयुक्त हो जाता है। अन्यथा ब्रह्म को नहीं पाता।

आगे स्पष्ट किया है।

(सोऽकामयत) वह कामना करता है। (बहु स्यां प्रजायेयेति) बहुत प्रजायें (सन्तान) उत्पन्न करूँ। (स तपोऽतप्यत) वह तपस्या=प्रयत्न करता है। (स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च) प्रयत्न करने से जो कुछ भी है, वह सब निर्माण करता है।

(तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्) उस=परिवार, सम्प्रद इत्यादि की सृष्टि कर वह उसमें ही लीन हो जाता है और फिर वैसा संसारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही बन जाता है। (निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च) कहे जाने योग्य अथवा न कहे जाने योग्य, आश्रित, अनाश्रित, ज्ञानयुक्त, ज्ञानरहित, सत्य, असत्य हो गया। जो कुछ वह हुआ, विद्वान् उसे सत्य ही कहते हैं।

हमारा निश्चित मत है कि यह वर्णन जीवात्मा का है, जब वह शरीर में प्रवेश करता है। परमात्मा का क्यों नहीं? यह इस कारण कि ब्रह्म वल्ली के आदि से संगति बैठायें तो यही प्रकट होता है कि ब्रह्म (परमात्मा) से किसी अतिरिक्त का उल्लेख हो रहा है। आरम्भ में ही लिखा है (ब्रह्मविदाप्नोति परम्) ब्रह्म को जानने वाला परम् महान् है। उसी ब्रह्म को जानने वाले के विषय में यह ब्रह्म (वल्ली) कही है।

पग-पग कर यह वल्ली मनुष्य का विश्लेषण करती चली जाती है। शरीर, प्राण, मन, बुद्धि निस्सन्देह वह ब्रह्म को जानना चाहता है अथवा जान लेता है।

अब आगे देखिये, सातवाँ अनुवाक इस प्रकार है।

लिखा है—

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति।

(असद्वा इदमग्र आसीत्) यह पहले असत् (क्षर) था। 'इदम्' अर्थात् पुरुष का शरीर। यह अन्नादि से बना है और यह अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों से बना है। इस (शरीर) में आने वाले को हमने जीवात्मा बताया है। छठे अनुवाक से यही सिद्ध होता है।

सातवें अनुवाक में इसे असत् लिखकर आगे लिखा है—(ततो वै सदजायत) तब वह सत् (अक्षर) हो जाता है। कारण यह कि उसमें, छठे अनुवाक के अनुसार, जीवात्मा प्रतिष्ठित होता है, जो सत् है। वह आत्मा स्वयं (आनन्दमय कोष में) प्रतिष्ठित होता है। इसी में (तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत) वह सुकृत अर्थात् भले काम करने वाला कहा जाता है।

यहाँ भी भाषा कुछ ढीली प्रतीत होती है, जब यह कहा है कि (तदात्मानं स्वयमकुरुत) उस आत्मा ने स्वयं अपना निर्माण किया। कुछ आचार्य तत् से परमात्मा का अर्थ लेते हैं और निर्माण का अर्थ प्रकट होना मानते हैं, परन्तु अगले ही पाद में बात स्पष्ट कर दी गयी है। वहाँ लिखा है कि इससे वह 'सुकृत' कहा जाता है। परमात्मा को अकर्ता माना है। यह जीवात्मा है जो शरीर में आकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुकृत करता है। 'स्वयं कुरुत' का अभिप्राय यह है कि वह अपने को आत्मवान् बना लेता है। वह (ब्रह्मविदाप्नोति) ब्रह्म को जानने वाला माना जा सकता है। अपने को आत्मवान् कर लेता है।

(यद्वै तत्सुकृतम् रसो वै सः) जो वह सुकृत रूप है, वह ही रस (आत्मा) है। जब वह सुकृत करने वाला होता है, तब वह उस (प्रथम पाँचों कोषों) का सार हो जाता है।

(रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति) रस को पाकर आनन्दी (आनन्द भोगने वाला) हो जाता है। (को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्) कौन प्राण लेने वाली सत्ता और कौन अपान लेने वाला होता है? (यदेष) जो वह (आकाश) आनन्द में (न स्यात्) नहीं होता। अर्थात् शरीर जो साँस लेता है, वह आनन्द कोष में नहीं आता (एष ह्येवान्दयाति) वह ही आनन्दित करता है। (यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते) जब यह इस अदृश्य, शरीर रहित, अकथनीय, अविनाशी में अभय हो प्रतिष्ठा को पा लेता है, (अथ सोऽभयं भवति) तब वह अभय हो जाता है।

इस अनुवाक का अर्थ यह है कि जीवात्मा जब आनन्दमय कोष में पहुँच आनन्दी हो जाता है, तो वह सुकृत हो जाता है। तब वह अदृश्य, अशरीरी, अनिर्वचनीय, अक्षर, अभय परमात्मा में जुष्ट हो जाता है। और जुष्ट होकर वह भी अभय हो जाता है।

अब आठवें अनुवाक में परमात्मा के लक्षण लिखे हैं।

(भीषास्माद्वातः पवते) उस (परमात्मा) के भय अर्थात् आदेश से वायु चलती है। यहाँ वायु का अभिप्राय है सब प्रकार की गतियाँ। (भीषोदेति सूर्यः) उसी के आदेश से सूर्य उदित होता है। (भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति) उसी के भय से अग्नि, मेघ काम करते हैं। पाँचवीं मृत्यु उसी की आज्ञा से दौड़ती आती है।

स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः।

आठवें अनुवाक में उस आनन्द की तुलना की है, जो मानवी आनन्द कहलाता है। इसे सुख कहते हैं। इस आनन्द की तुलना गन्धर्वों के आनन्द से की है। गन्धर्व संगीत-विद्या के ज्ञाताओं को कहते हैं और यह लिखा है कि यह आनन्द वेद ज्ञान करने वाले श्रोत्रि के समान हैं। इसी प्रकार गन्धर्वों के आनन्द की तुलना देव गन्धर्वों और पितरों के आनन्द से की है। इनके आनन्द के अनुभव की देवताओं के आनन्द से और देवताओं की कर्म-देवों के आनन्द से तुलना की है। कर्म-देव उनको कहते हैं जो कर्म से देवत्व प्राप्त करते हैं। कर्म-देवों के आनन्द की तुलना देवों के आनन्द और इन्द्र के आनन्द से की है। बृहस्पति का अर्थ उस ज्ञानी से है, जो ब्रह्म-ज्ञान का ज्ञाता हो। ब्रह्म-ज्ञानी के आनन्द की तुलना प्रजापति के आनन्द से और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी तुलना परमात्मा के आनन्द से की है। परमात्मा का आनन्द समाधिगत आत्मा को मिलता है।

नवाँ अनुवाक है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति। एतँ ह वाव न तपति। किमहँ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानँ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानँ स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥ (तैत्ति० २-९)

जिसकी वाणियाँ (इन्द्रियों के विषय) मन को प्राप्त न होकर लौट आती हैं, वह विद्वान् ब्राह्मण कहलाता है। वह किसी से नहीं डरता। वह इस बात से सन्तप्त नहीं होता कि उसने साधु कर्म किया है अथवा पाप कर्म। जो ऐसा जानता है उसे ये (पाप-पुण्य) दोनों ही स्पर्श तो करते हैं (परन्तु प्रभावित नहीं करते)। वही जानता है।

इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि जीवात्मा परमात्मा के साथ जुष्ट होकर ब्राह्मण कहलाता है, वह ईश्वरीय आनन्द का भोक्ता हो जाता है।

इतना लम्बा उद्धरण देने का तात्पर्य यह है कि स्वामी शंकराचार्यजी तैत्तिरीय उपनिषद् की इस वल्ली को कई रूपों में उद्धरित करते हैं। अतः यहाँ पूर्ण वल्ली का अभिप्राय बताना उचित समझा गया।

यह ठीक है कि आनन्दमय तो परमात्मा ही है। साथ ही यह भी ठीक है कि जीवात्मा जब परमात्मा से जुष्ट होता है तो उस परमात्मा के आनन्दमय कोष में पहुँच जाता है। इसके लिए इन्द्रियों के विषयों को मन से पृथक् करने की आवश्यकता है। यह स्थिति योगाभ्यास से प्राप्त होती है, न कि शास्त्र में लिखित वर्णन के अध्ययन से।

स्वामी शंकराचार्य ने लिखा है—

कुतः ? अभ्यासात्। परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते।

(श० भा० सू० १२)

कैसे ? अभ्यास से। (आगे तैत्तिरीय २-६ का वचन है) इसका अर्थ हम ऊपर कर आये हैं। बहुत अभ्यास करने से। यहाँ अभ्यास का अर्थ योगाभ्यास से है।

इससे दो बातों का पता चलता है। एक यह कि इस आनन्दमय कोष में आने वाला कोई भी क्यों न हो, वह परमात्मा से भिन्न है। दूसरा यह कि केवल ज्ञान से ब्रह्मत्व प्राप्त नहीं होता। इसके साथ योग का अभ्यास करना आवश्यक है। यह ठीक है कि योगाभ्यास से भी ज्ञान-उपलब्धि होती है, परन्तु अभ्यास ज्ञान से पृथक् बात है। उपासना अर्थात् योगाभ्यास कर्म है। यह ही ज्ञान को प्राप्त कराता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैत्तिरीय २-६ से एक बात और विदित होती है। वह यह कि पाप-पुण्य का मोक्षात्मा को स्पर्श होता है, परन्तु प्रभाव नहीं होता। अभिप्राय यह कि ब्रह्मलीन आत्मायें भी पाप-पुण्य कर्म करती हैं, परन्तु निर्लेप भाव से।

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥१३॥

विकार शब्दात्+न+इति+चेत्+न+प्राचुर्यात्।

विकार वाचक (मय शब्द) का प्रयोग नहीं। यदि नहीं तो क्या है? यह तो प्राचुर्यता का अर्थवाचक है।

पूर्व के सूत्र में 'आनन्दमय' का अर्थ आनन्दवत् नहीं है। मय शब्द से ऐसा अर्थ लिया जाता है, परन्तु सूत्रकार कहता है कि यह नहीं। यहाँ (पूर्व सूत्र में) मय प्राचुर्यता अर्थात् परिपूर्णता का वाचक है।

पूर्व सूत्र का अभिप्राय है उपासना के अभ्यास से (जीवात्मा) आनन्दमय हो जाता है। आनन्दमय का अर्थ लिया है अतिशय आनन्द (अर्थात् परमात्मा) से जुष्ट हो जाता है।

पूर्व पक्ष वाले ने यह समझा है कि परमात्मा को आनन्दमय लिखा है। अर्थात् वह आनन्दवत् है। सूत्रकार कहता है कि यह बात गलत है। सूत्र में मय शब्द का अर्थ आनन्द से परिपूर्णता लेना चाहिए।

एक बात विचारणीय है कि ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या में कुछ भाष्यकार यह आवश्यक मानते हैं कि किसी उपनिषद् वाक्य का उद्धरण देना चाहिए। चाहे इस उद्धरण की संगति वहाँ बैठे अथवा न बैठे।

यह स्वभाव इस कारण बना है कि स्वामी शंकराचार्य के प्रचण्ड प्रचार के कारण यह विख्यात हो गया है कि ब्रह्मसूत्र तो वेदान्त वाक्यों को सूत्रवत् पिरोने के लिए हैं। अतः सूत्र के साथ वेदान्त वाक्य अवश्य देने चाहिए। उनकी दृष्टि में वेदान्त का अर्थ उपनिषद् है। यह सब भ्रम स्वामी शंकराचार्य का फैलाया हुआ है और जो लोग अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करते, वे सूत्र में निहित युक्ति को प्रकट तो कर नहीं सकते और अपनी बात को उपनिषद् वाक्य से सिद्ध करने लगते हैं।

वास्तव में सूत्र उपनिषद् वाक्यों अथवा वेद में अध्यात्म वाक्यों से सर्वथा पृथक् हैं। ये स्वतः युक्ति पर आधारित हैं। यह वेदादि शास्त्रों की श्रेष्ठता है कि जो कुछ दर्शनशास्त्र युक्ति से सिद्ध करते हैं, वह वेदादि शास्त्रों में भी मिलता है।

इस सन्दर्भ में हम श्री ब्रह्म मुनि के भाष्य का उदाहरण देना चाहते हैं। इसी सूत्र की व्याख्या में आप अष्टाध्यायी का एक सूत्र (४-३) देकर यह कहते हैं कि—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"प्रकृति नाम की जड़ वस्तु आनन्द शब्द से कही जाती है। उसका विकार आनन्दमय हो सकता है। आनन्द प्रकृति है। जैसे 'आनन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतो-मुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः (माण्डूक्य-५)। यहाँ आनन्द भुक् आनन्द प्रकृति नामक वस्तु का भोक्ता भक्षक अर्थात् फल पिता पालक है।"

हमारा यह कहना है कि अष्टाध्यायी में कुछ भी लिखा हो। वह वेदान्त ग्रन्थ नहीं, परन्तु माण्डूक्य-५ में यह नहीं लिखा कि प्रकृति आनन्द का नाम है।

माण्डूक्य उपनिषद् में ब्रह्माण्ड की चार अवस्थायें लिखी हैं। उस ब्रह्माण्ड में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों अव्यक्त रूप में रहते हैं। इसकी प्रथम अवस्था है जाग्रत। जब जगत् बन जाता है, जगत् कार्य करता है। यह ब्रह्म-दिन की अवस्था कहलाती है।

दूसरी अवस्था है स्वप्न अवस्था। इसमें परमात्मा अन्तः प्रज्ञः होता है। अर्थात् उसका ज्ञान अन्तर्मुखी होता है। यह उषा काल अर्थात् जगत् उत्पत्ति से पूर्व का काल कहा जा सकता है।

तीसरी अवस्था 'माण्डूक्य-५' में वर्णित है। वहाँ लिखा है—

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।

(यत्र सुप्तो) जिस सोयी अवस्था में जीवात्मा (न कंचन कामं कामयते) कुछ भी कामना नहीं करता; (न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्) न कुछ भी स्वप्न देखता है, ऐसी सुषुप्ति अवस्था होती है। (सुषुप्त स्थान एकीभूतः) उस सोये स्थान में एक हो जाते हैं। (कौन एक हो जाते हैं? प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा) अर्थात् तीनों घुल-मिल जाते हैं। (प्रज्ञानघन) जीवात्मा बुद्धि युक्त और परमात्मा (आनन्दमयो) आनन्द से परिपूर्ण (आनन्दभुक्) आनन्द का भोग करने वाला। (चेतोमुखः) चैतन्य स्वरूप की (प्राज्ञस्तृतीयः पादः) प्राज्ञवान यह तीसरी स्थिति है।

यह उपनिषद् परमात्मा के विषय में ही लिखा गया है। चार स्थितियाँ तो ब्रह्माण्ड की हैं, परन्तु परमात्मा उनको उत्पन्न करने वाला है। यह हम इस कारण कहते हैं कि इसी उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में लिखा है—

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं···

'ओं' यह अक्षर ही सबकुछ है और यहाँ उसी का वर्णन है। माण्डूक्योपनिषद को शंकर-पंथी वेदान्त का स्रोत मानते हैं। इस विषय पर हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ हमारा केवल मात्र इतने से प्रयोजन है कि स्वामी ब्रह्म मुनिजी का कथन कि इस (माण्डूक्य-५) में प्रकृति का आनन्दमय होना लिखा है, यह उपयुक्त नहीं है। आनन्दमय तो परमात्मा ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आनन्दमय वह स्थान है, जहाँ गुहा में जीवात्मा और परमात्मा का साक्षात्कार होता है। जब साक्षात्कार होता है तो, यहाँ कहा है कि 'एकीभूतः प्रज्ञानघन'। प्रज्ञानघन जीवात्मा को कहा है। वह आनन्दमय कोष में जाने से पहले विज्ञानमय कोष में होता है। वहाँ रहने वाले जीवात्मा को प्रज्ञानघन कहा है। वह प्रज्ञानघन जीवात्मा आनन्दमय कोष में उपस्थित 'ओमित्येतदक्षरमिदं' अक्षर ओं से एकीभूत हो जाता है। इसे ही जुष्ट होना कहते हैं। एकीभूत का अर्थ है मिश्री की भाँति जल में घुल जाना।

इस सूत्र (ब्र० सू० १-१-१३) का अभिप्राय है कि आनन्दमय का अर्थ आनन्दवत् नहीं है वरन् आनन्द की प्राचुर्यता से युक्त है। 'मय' प्रत्यय प्राचुर्यता के अर्थों में समझना चाहिए।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥१४॥

तत्+हेतु+व्यपदेशात्+च।

और इसमें हेतु के उपदेश (कथन) से।

पूर्वोक्त (१-१-१२) सूत्र में लिखा है कि बार-बार अभ्यास करने से आनन्दमय हो जाता है। इस सूत्र में लिखा है कि परमात्मा तो आनन्दमय है ही। उसके आनन्दमय होने में हेतु नहीं। अतः हेतु यह है कि जो पहले आनन्दमय नहीं, वह आनन्दमय हो। अतः अभ्यास करने से परमात्मा का आनन्दमय होने की बात नहीं। यह जीवात्मा के विषय में है।

इस सूत्र में यह कहा है कि आनन्दमय होने में हेतु के कथन को समझ लेना चाहिए। अभिप्राय यह कि परमात्मा के अतिरिक्त कोई है जो आनन्दमय होना चाहता है। उसे ही आनन्दमय करने के हेतु अभ्यास की योजना है।

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥१५॥

मान्त्रवर्णिकम्+एव+च+गीयते।

मन्त्रों में वर्णित अर्थात् प्रतिपादित भी है और गाया भी गया है।

यहाँ दर्शनाचार्य ने युक्ति से सिद्ध की गई बात को कहा है कि वेदों में भी ऐसा ही प्रतिपादित है और गाया गया है।

युक्ति से क्या सिद्ध किया है? वह यह कि जीवात्मा जब परमात्मा से युक्त होता है तो वह आनन्दित हो जाता है। यह इसलिए कि परमात्मा आनन्दमय है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसका आनन्दमय होना हेतुमय है। हेतु है दूसरों (जीवात्माओं) को आनन्दित करना।

दर्शनाचार्य कहता है कि वेदमन्त्रों में भी इसी प्रकार गाया गया है।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निद ँ सञ्च वि चैति सर्व ँ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥

(यजु० ३२-८)

(वेनः) मेधावी विद्वान् (पश्यत्) देखते हैं, (सत्) उसे (निहितं गुहा) गुहा में स्थित। कैसा देखते हैं? (सत् यत्र विश्वम् भवति एकनीडम्) वह सत् स्वरूप अर्थात् अक्षर है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व (जगत्) एक घोंसले की भाँति टिका है। (तस्मिन् इदम्) उसमें यह जगत् (सम् एति च वि एति च) मिल जाता है और जिससे यह प्रकट हो जाता है। (स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु) वह विभु एक रस व्यापक प्रजाओं अर्थात् सृष्टि के पदार्थों में ओत-प्रोत है।

अनेक वेद-मन्त्र दर्शनाचार्य द्वारा कही बात को सिद्ध करने के लिए उदाहरण के रूप दिये जा सकते हैं। एक अन्य मन्त्र इस प्रकार है—

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृळहा चिदारुजे वसु ॥

(ऋ० ४-३१-२)

अर्थात्—(कः त्वा) वह कौन है (सत्यो मदानां मंहिष्ठः) सत्य पुरुषों को आनन्दित करने वाला और उन पर कृपा करने वाला। (मत्सत्) हमें आनन्द से युक्त करता है। (दृळहा वसु अरुजे चित्) जो दृढ़ है, धन-धान्य प्राप्त कराता है और चैतन्यता प्रदान करता है। वह सत्य स्वरूप परमात्मा है।

अथर्ववेद का एक मन्त्र है—

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥

(अथर्व० २-१-५)

(परि विश्वा भुवनानि) विश्व के सब नक्षत्रादि से परे अर्थात् सूक्ष्म में अथवा त्यागकर (आयम् ऋतस्य तन्तुं विततं दृशे) आया हूँ सत्य नियमों के ताँतों को जो विस्तृत है और दुखःकर। (समाने योनौ वस् एरयन्त) समान योनियों अर्थात् उद्-गम स्थानों में विचरते हुए (यत्र देवा) जहाँ देवा अर्थात् दिव्य गुणयुक्त योगी जन (अमृतम् अनशानाः) अमृत के आनन्द को भोगते हैं।

स्वामी शंकराचार्य ने भी इस सूत्र के ऐसे ही अर्थ किये हैं। जो विशेष बात स्वामीजी ने की है, वह यह कि इस सूत्र के भाष्य में भी संहिताओं (ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व) का प्रमाण नहीं दिया। यद्यपि सूत्र में स्पष्ट मन्त्र का शब्द है, परन्तु स्वामीजी के विचार में मन्त्र केवल उपनिषद् ग्रन्थों में ही हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह आर्ष ग्रन्थों की परम्परा में है कि ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व ईश्वरीय ज्ञान है और उपनिषदादि ग्रंथ ऋषियों तथा मुनियों के वचन हैं। ऋचायें (ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व) ईश्वरीय वाणी हैं। यह सर्वत्र माना गया है।

उदाहरण के रूप में अथर्ववेद में ही इस प्रकार कहा गया है—

यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन् । सामानि यस्य
लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।।

(अथर्व० १०-७-२०)

जिससे ऋक् वेद प्रकट हुआ; जिससे यजुः वेद कहा गया; जिसके लोम साम वेद हैं और जिसके जीवन का रस अर्थात् सार अथर्व वेद है; उसे स्कम्भ अर्थात् पूर्ण सृष्टि का आश्रय कहा है। वह अत्यन्त सुखमय है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार कहा है—

यो ब्रह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।।

(श्वे० उ० ६-१८)

अर्थ है—जिसने सबसे आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न किया और जिसने उसके लिए वेदों को कहा है, वह देव जो मेरी बुद्धि को प्रकाशित कर रहा है, मैं मुमुक्ष उसकी शरण में आता हूँ।

मनुस्मृति में भी यही बात लिखी है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ।।

(मनु० १-२३)

अर्थ है—उसे सनातन ब्रह्म (परमात्मा) ने अग्नि, वायु, आदित्य से तीन (ऋक्, यजुः, साम) वेद उत्पन्न किये यज्ञ की सिद्धि के लिए। अर्थात् इस लोक में मानव कल्याण के लिए।

मन्त्र वेद वाक्यों को कहते हैं। दर्शनाचार्य का यही कहना था कि युक्ति से कही बात वेदों में भी कही और गायी गयी है, परन्तु स्वामीजी वेद प्रमाण छोड़कर अन्य ग्रन्थों का, जो मनुष्यकृत हैं, प्रमाण दे रहे हैं।

अतः यहाँ सन्देह करने में पर्याप्त स्थान है कि स्वामी शंकराचार्य का ज्ञान वेद तक नहीं था और वे जो कुछ वेदों के विषय में कह गये हैं, वह उस काल में सुनी-सुनाई बात थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेतरोऽनुपपत्तेः ।।१६।।

न+इतरः=अनुपपत्तेः ।

किसी दूसरे में (आनन्दमयता) नहीं । क्योंकि इस (आनन्द) की (उपपत्ति) दृष्टिगोचर नहीं होती ।

इस सूत्र में दो शब्द व्याख्या के योग्य हैं । एक 'इतरः' है । इसका अर्थ है कोई दूसरा । दूसरा किससे ? जिसका उल्लेख ऊपर किया जा रहा है । अर्थात् परमात्मा से दूसरा ।

हमारा मत है कि सूत्र (१-१-२, ३, ४) तो त्रिविधं ब्रह्म के सम्बन्ध में हैं । अन्य आचार्य ब्रह्म को त्रिविधं नहीं मानते । उनकी दृष्टि में ब्रह्म का अर्थ परमात्मा मात्र है ।

स्वामी शंकराचार्य तो परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ मानते ही नहीं । वह ब्रह्म के अर्थ केवल परमात्मा करते हैं और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत् पदार्थ मानते ही नहीं । इस बात का हम खण्डन कर चुके हैं । इसके साथ ही, यदि वहाँ ब्रह्म में प्रकृति और जीवात्मा को भी सम्मिलित कर लें तो हमारा मत मानने से अनेक स्थानों पर उपनिषद् के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं । जीवात्मा और प्रकृति के अनादि होने के प्रमाण भी हम दे चुके हैं । युक्ति भी इसी बात को मानती है ।

इन सूत्रों में ब्रह्म केवल परमात्मा मानें अथवा प्रकृति और जीवात्मा भी मानें, यह अपने-अपने मन की बात है । हमने क्यों त्रिविधं ब्रह्म को इन सूत्रों में ला बैठाया है, यह हमने इन सूत्रों की व्याख्या में बताया है ।

सूत्र १-१-५ से १-१-१५ तक में उस ब्रह्म का उल्लेख है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है । यहाँ जीव और प्रकृति का उल्लेख नहीं, परन्तु इन सूत्रों से जीवात्मा तथा प्रकृति की असिद्धि प्रतीत नहीं होती ।

अब 'न+इतरः' शब्द से पुनः चेतन परमात्मा को ही आनन्दमय बताते हुए लिखा है कि अन्य ऐसा कोई नहीं ।

इससे चेतन परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य की उपस्थिति का संकेत मिलता है । परमात्मा के अतिरिक्त कोई है जो आनन्दमय नहीं ।

सूत्र में दूसरा शब्द है उपपत्ति । इसके अर्थ बहुत विस्तृत हैं । मोनियर विलियम्स इसके अर्थ इस प्रकार लिखते हैं—

उपपत्ति—

happening, occuring, becoming visible, appearing, taking place, production, effecting, accomplishing.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थों की एक दूसरी श्रेणी भी है—

proving of right, resulting, cause, reason, ascertained as demolished conclusion, proof, evidence, argument.

आगे लिखा है कि वेदान्त में इस शब्द के अर्थ हैं—

fitness, propriety, possibility.

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनुपपत्ति के कौन-से अर्थ उक्त सूत्र में लिए जायँ ?

श्री ब्रह्म मुनि 'अनुपपत्तेः' से अर्थ लेते हैं अयुक्तता अर्थात् युक्ति से रहित होने के।

श्री उदयवीर शास्त्री इसके अर्थ लिखते हैं 'उपपाद' न किये जाने से। ब्रह्म से अन्य जीवात्मा आनन्दमय नहीं; क्योंकि (उपपत्ति) युक्ति द्वारा उनका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। आप यह भी लिखते हैं—

उपपत्ति का अर्थ युक्ति सहित प्रमाण ही मानना चाहिए।

श्री स्वामी शंकराचार्य द्वारा किया गया अर्थ और उस पर विवेचना पृथक् लिखेंगे।

उक्त दो आचार्यों के कथन से यह प्रतीत होता है कि उपपत्ति का अर्थ युक्ति तो है ही, साथ ही प्रमाण भी हो सकता है। कोषकार ने happening, occuring अर्थात् (शास्त्र में) होना अथवा आना लिखे हैं।

हमारा मत है कि यहाँ भी, इससे पूर्व के सूत्र की भाँति युक्ति से अर्थ नहीं। जैसे पूर्व के सूत्र में लिखा है कि मन्त्रों (संहिताओं) में परमात्मा को आनन्दस्वरूप लिखा है, वैसे ही इस सूत्र में यह लिखा है कि शास्त्र में प्रमाण न होने से यह सिद्ध है कि दूसरा आनन्दमय नहीं है।

अन्य शास्त्रों के प्रमाण हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ हम स्वामीजी का इस सूत्र पर अभिमत लिख देना चाहते हैं। स्वामीजी ने लिखा है—

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। नेतरः इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात् ? अनुपपत्तेः। आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते—'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च' (तै० २-६) इति। तत्र प्राक्शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानं, सृज्यमानानां च विकाराणां स्रष्टुरव्यतिरेकः, सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते॥

अर्थात्—और इस कारण भी कि आनन्दमय परमात्मा ही है, इतर नहीं। इतर का अर्थ है कि ईश्वर से अन्य संसारी जीव। आनन्दमय शब्द से जीव का अभिधान नहीं है; क्योंकि उसमें आनन्दमयत्व की उपपत्ति नहीं है। आनन्दमय को प्रस्तुत कर उसने कामना की कि मैं बहुत प्रजाओं में हो जाऊँ। सो उसने तप किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और तपस्या करने से यह सब सृजन किया। ऐसी श्रुति है (तैत्ति० २-६)। वहाँ (इस श्रुति में) शरीरादि की उत्पत्ति से पहले कामना, सृजमान विकारों का सृष्टा से अव्यतिरेकता (अभेद) एवं सब विकारों की सृष्टि, परमात्मा के अन्य से उत्पन्न नहीं होती।

यहाँ स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है, वह कुछ भी सूत्र में नहीं है। न ही सूत्र में लिखी बात को सिद्ध करता है। सब कुछ असंगत है।

यह तो ठीक है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य आनन्दमय नहीं; परन्तु इसे न तो युक्ति से सिद्ध किया है और न ही प्रमाण से।

आपने प्रमाण दिया है (तैत्तिरीय २-६) सोऽकामयत्।

इस उद्धरण का अर्थ, हम तैत्तिरीय ब्रह्मवल्ली का अभिप्राय लिखते हुए वर्णन कर आये हैं। वहाँ हमने लिखा है कि पाँच कोषों में रहने वाला जब परमात्मा से जुष्ट होता है तो वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। कोषों में रहने वाला और परमात्मा से जुष्ट होने वाला परमात्मा से भिन्न है। उसे भी सत् (अक्षर) माना है। वह प्राणी नहीं हो सकता।

स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं कि इतर से जीव (संसारी जीव अर्थात् शरीरधारी मनुष्य) माना है। यह मनुष्य सत् नहीं है। शरीर क्षर है। अतः शरीर में आत्मा ही अक्षर है। इसलिए इतर् से अर्थ मनुष्य नहीं, वरन् जीवात्मा ही है।

सबसे विचित्र बात यह है कि स्वामी शंकराचार्यजी कहते हैं कि परमात्मा आनन्दमय है; क्योंकि लिखा है कि उसने कामना की कि प्रजाओं को उत्पन्न करूँ और अनेक प्रजाओं की सृष्टि करता है। भला प्रजाओं की सृष्टि करने से उसके आनन्दमय होने का सम्बन्ध है क्या? बुद्धि इन दो बातों (प्रजाओं के उत्पन्न करने और आनन्दमय होने) में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं देखती। इस कारण हम कहते हैं कि स्वामीजी ने सूत्र का भाष्य करते हुए जो (तैत्ति० २-६) उद्धरण दिया है, वह असंगत है।

सबसे प्रबल प्रमाण है कि तैत्ति० २-७ में जीवात्मा का उल्लेख है, परमात्मा का नहीं। यह उसी में लिखे से सिद्ध होता है। इसका अर्थ और अभिप्राय हम ऊपर लिख आये हैं। वह इस प्रकार है—

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।

यह पहले असत् (शरीरधारी क्षर) था। तब वह सत् (अक्षर) हो गया। वह आत्मा स्वयंभुः हुआ। इस होने से उसे सुकृत कहते हैं।

अर्थात्—शरीर छोड़कर अक्षर हो जाने को सुकृत माना है। इससे परमात्मा में लीन होने का अवसर होता है। जिसे इस वल्ली के आरम्भ में 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' लिखा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे इसी अनुवाक में लिखा है।

यद्वै तत्सुकृतम् रसो वै सः। रस ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।

वह जब सुकृत हुआ, उसका रस (सार) ही है। रस प्राप्त होने पर वह आनन्दयुक्त हो जाता है।

बात स्पष्ट है कि जब ब्रह्मवेत्ता शरीर छोड़कर शुद्ध, निर्मल, अक्षर जीवात्मा रह जाता है, तब वह सुकृत है। यह सुकृत किया हुआ जीवात्मा ही आनन्दमय कहलाता है। निस्सन्देह यह परमात्मा नहीं वरन् जीवात्मा है जो शरीर त्यागकर परमात्मा में लीन हो जाता है।

अतः उक्त सूत्र का अभिप्राय यह है कि आनन्दमय परमात्मा ही है, जीवात्मा नहीं है। इतर् आनन्दमय नहीं, शास्त्र-प्रमाण न होने से।

भेदव्यपदेशाच्च ॥१७॥

भेदव्यपदेशात्+च।

और भेद बताने से भी।

अभिप्राय यह कि जहाँ-जहाँ शास्त्र में परमात्मा को आनन्दमय बताया है, वहाँ उसे (जीवात्मा से) पृथक् बताया है।

उक्त उदाहरण में भी ऐसा ही प्रकट होता है कि आत्मा सन्तान उत्पन्न करता है। पहले रेतस् से शरीर निर्माण होता है; फिर कोई जीवात्मा उसमें जा बैठता है। यही भेद है।

ऋग्वेद १-१६४-२० में इसका उल्लेख है। श्वेताश्वतर १-६,७ में और १-९ में भी इसका उल्लेख है।

जीवात्मा और परमात्मा में भेद युक्ति से भी सूत्रकार ने बताया है। इसे अगले सूत्र में देखिये।

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१८॥

कामात्+च+न+अनुमान+अपेक्षा।

अनुमान की अपेक्षा नहीं।

अर्थात्—अनुमान से भी (आत्मा और परमात्मा में) भेद प्रकट होता है, जीवात्मा का आनन्द की कामना रखने से। कामना वही करता है, जिसके पास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छित वस्तु नहीं होती। जीवात्मा आनन्द की कामना करता है। अर्थात् वह आनन्दमय नहीं है।

यह कहा जाता है कि आत्मा सुख की उपलब्धि चाहता है, आनन्द की नहीं। कामना सुख की होती है।

उपनिषद्कार (तैत्तिरीय) ब्रह्मवल्ली के आठवें अनुवाक में लिखता है—

सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।

यह उस आनन्द पर विचार है (अर्थात् वर्णन है)। मनुष्य युवा हो श्रेष्ठ एवं पठित हो शिष्ठतायुक्त, सुदृढ़ और बलवान् हो। उसके पास धन इतना हो कि पृथिवी भर जाये। यह मानुषी आनन्द है।

अभिप्राय यह कि यह सुख है। यौवन, शिष्ठता, लम्बी आयु, विद्वत्ता, पुरुषार्थ, शिक्षा और अतुल धनराशि, इनकी प्राप्ति से मानवी आनन्द मिलता है।

मानवी आनन्द और ईश्वरीय आनन्द में अन्तर मात्रा में है। यह कहा है कि मानवी आनन्द से सौ गुणा अधिक गान्धर्व आनन्द है। इससे सौ गुणा अधिक देव गान्धर्व आनन्द होता है। देव गान्धर्व से सौ गुणा अधिक आनन्द पितरों का है। उससे सौ गुणा अधिक ज्ञानज देवताओं का आनन्द है। इनसे कर्म करने वाले देवों का आनन्द है।

इसी प्रकार देवों से इन्द्र का, इन्द्र से बृहस्पति का, बृहस्पति से प्रजापति का और प्रजापति से ब्रह्म का आनन्द सौ-सौ गुणा अधिक बताया है।

इस सबका अर्थ यह है कि मानवी आनन्द (सुख) भी उसी श्रेणी का है, जिस श्रेणी के अन्य आनन्द हैं। अन्तर मात्रा में है। ब्रह्मानन्द मानवी-आनन्द से करोड़ों गुणा अधिक है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'चाकामहतस्य' अर्थात् यह कामनारहित हो। निष्काम रहते हुए हो।

इसका अर्थ यह है कि मानवी आनन्द (सुख) भी कामना रहित हो, तब ही वह वास्तविक आनन्द है।

संक्षेप में, सुख भी जब निष्काम जीवन व्यतीत करते हुए मिले तो वह आनन्द है। यद्यपि ब्रह्मानन्द से बहुत कम है।

इसीलिए कहा है कि जीवात्मा आनन्द की कामना करता है। अर्थात् वह आनन्दमय नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ।।१९।।

च+अस्मिन्+अस्य+तत्+योगं+शास्ति ।

और इसमें उसका वह योग होता है । ऐसा शास्त्र में लिखा है ।

'इसमें' का अभिप्राय है परमात्मा में । अस्य—जीवात्मा का; यह योग बताया है कि जीवात्मा आनन्दमय नहीं । जीवात्मा परमात्मा से योग की इच्छा करता है। ऐसा 'शास्ति'=शास्त्र में लिखा है ।

इन (२ से १९) सूत्रों में ब्रह्म की स्थापना की गयी है । अभिप्राय यह कि ब्रह्म है । ऐसा मत प्रतिष्ठित किया गया है ।

सूत्र संख्या दो, तीन और चार में यह बताया है कि ब्रह्म सत् है । वह अक्षर है । यह तीन प्रकार का है ।

परन्तु तीनों में भेद भी है । उनमें पहला भेद चैतन्य और जड़ता में है । यह सूत्रकार ने सूत्र ५, ६, ७, ८, ९ और १० में वर्णन किया है । उनमें यह कहा है कि आत्म-तत्त्वों और जड़-तत्त्वों में अन्तर है ।

सूत्र ११ में यह लिखा है कि जगत् के पदार्थों में समानता होने से जगत् का कर्ता एक ही है । इसके उपरान्त सूत्र १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८ तथा १९ में आत्म-तत्त्वों, अभिप्राय यह कि परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर बताया है । युक्ति से भेद बताया है और फिर शास्त्र प्रमाण का भी उल्लेख किया है ।

स्वामी शंकराचार्य की कठिनाई यह है कि उन्होंने एक मिथ्या अयुक्ति-युक्त मत पहले स्वीकार कर लिया कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सत् (अनादि तथा अक्षर) नहीं; तब वह पूर्ण वेदान्त शास्त्र में ऐसी बातें लिखते चले गये, जो सूत्रकार के मत के अनुकूल नहीं, सूत्रों में वर्णित भी नहीं और वैदिक शास्त्रों में भी उपलब्ध नहीं । ऐसा करने के लिए उनको अपना पूर्ण कथन अयुक्ति-युक्त बनाना पड़ा है ।

स्वामी शंकराचार्य का सांख्य के प्रणेता कपिल से तथा वेद संहिताओं से विरोध भी इसी कारण है कि वे उनके मत का प्रतिपादन नहीं करते । स्वामीजी अपने मत का समर्थन उपनिषदों में ढूंढ़ते हैं । वहाँ पर भी, जब और जहाँ उनके मत का स्पष्ट विरोध मिलता है, वह अर्थों में खींचातानी करने लगते हैं ।

उदाहरण के रूप में तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्म वल्ली में स्पष्ट रूप में शरीर और जीवात्मा को आनन्दमय ब्रह्म से पृथक् माना है । वहाँ लिखा है कि पाँच कोष हैं । अन्नमय मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय । जिस-जिस कोष में जीवात्मा रहता है, वैसा ही वह हो जाता है । इसी उपनिषद् के सातवें अनुवाक में लिखा है—

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां बिन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(यदा) जब (ह्येवैष) ही यह (एतस्मिन्) इस (अदृश्य) अदृश्य में अभिप्राय है अव्यक्त में (अनात्म्ये) अनात्म में अर्थात् जो (अनिरुक्त) अनिवर्चनीय है (अनिलयेन) आश्रय रहित है, वह (अभयं प्रतिष्ठां विन्दते) अभय अर्थात् स्थिर प्रतिष्ठा पा लेता है, (सो अभयं) वह अभय हो जाता है।

कौन अभय हो जाता है ?

इसका उत्तर नहीं बना तो स्वामी शंकराचार्य अर्थों में खींचातानी करने लगे। 'सः' का अर्थ स्वामीजी ने अपने तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में साधक किया है। वहाँ वह प्रश्न उठाते हैं—

कदासावभयं गतो भवति ? उसका स्वयं उत्तर देते हैं—**साधको यदा नान्यत्पश्यत्यात्मनि चान्तरं भेदं न कुरुते तदाभयं गतो भवतीत्यभिप्रायः।**

कब वह अभय गति वाला होता है ? स्वामीजी कहते हैं, 'जब साधक अन्य कुछ नहीं देखता और अपने आत्मा में किसी प्रकार का अन्तर भेद नहीं करता, तब अभय गति का अभिप्राय है।'

स्वामीजी ने 'सः' का अर्थ विकृत कर साधक कर दिया। वेदादि शास्त्रों में जीवात्मा को साधक कहा है, परन्तु प्रश्न तो ज्यों-का-त्यों ही रहा कि क्या साधक परमात्मा से पृथक् है ? तभी तो वह अवस्था विशेष में अपने और उसमें अन्तर न देखकर अभय होता है। यह इस प्रकार है कि जब किसी स्वामी का सेवक स्वामी से अपने को अभिन्न मानता है तो स्वामी की रक्षा का आश्रय पा वह निर्भय हो जाता है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि स्वामी और सेवक एक ही हैं।

साधक कहिए अथवा जीवात्मा, वह परमात्मा से भिन्न है और जब वह अपने को परमात्मा के आश्रय कर देता है तो वह निर्भय हो जाता है।

हमारा यह विचारित मत है कि स्वामी शंकराचार्य मिथ्या सिद्धान्त पर अपने ज्ञान को आधारित कर रहे हैं। होना यह चाहिए था कि सिद्धान्त ज्ञान पर आधारित होता। यदि कोई सिद्धान्त ज्ञान के विपरीत बन गया है तो सिद्धान्त का नवीकरण होना चाहिए था, न कि ज्ञान को विकृत कर मिथ्या सिद्धान्त का प्रतिपादन।

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मवल्ली का उद्धरण प्रस्तुत कर स्वामीजी ने भूल की है। कारण यह कि इस उद्धरण से स्वामीजी के मत का प्रतिपादन नहीं होता। यहाँ ब्रह्म को प्राप्त करने वाले को ब्रह्म से पृथक् माना है। उसे ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए उन कोषों को छोड़ना पड़ता है जो अन्नमय, मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय हैं और आनन्दमय कोष में प्रविष्ट होना पड़ता है। इसमें प्रविष्ट होकर वह उन कोषों में पूर्ण मानवी आनन्द को भी प्राप्त कर लेता है; क्योंकि उससे कई लक्ष गुणा अधिक आनन्द वह प्राप्त कर लेता है और इस (१-१-१९) सूत्र में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रकार कहता है कि शास्त्र में भी यह वर्णन है कि आत्मा के परमात्मा से योग में आनन्द की प्राप्ति होती है।

श्री स्वामी शंकराचार्य ने उदाहरण इसी बात का दिया है, परन्तु इस सूत्र को और उसमें दिये उद्धरण को अपने सिद्धान्त 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव ना परः' के विपरीत देख इन दोनों के अर्थों में खींचातानी कर दी है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री ने अपने वेदान्त भाष्य में इस सूत्र की व्याख्या में स्वामीजी के इस (तैत्तिरीय ब्रह्मवल्ली के) उद्धरण के अर्थों को विकृत करने का विस्तार से खण्डन किया है।

स्वामीजी ने एक अन्य व्यर्थ का विवाद उत्पन्न कर दिया है। वह यह कि आनन्दमय ब्रह्म से पृथक् है। क्योंकि ब्रह्म को आनन्दमय का पुच्छ लिखा है। इस सब विवाद को अनावश्यक समझ हम यहाँ उसका विस्तृत उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

हमारा केवल इतने मात्र से प्रयोजन है कि इस उद्धरण में जीव तथा ब्रह्म में पृथकता उल्लिखित है और स्वामीजी ने उसको छुपाने का यत्न किया है। होना यह चाहिए था कि वेद (संहिताओं) में से वह कोई प्रमाण देते जिससे यह सरलता से सिद्ध हो जाता कि सूत्र के अर्थों का समर्थन वेद में उपलब्ध है। यजुर्वेद में यह कहा है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥

(यजु० ३२-११)

सब भूतों, सब लोकों, सब दिशाओं-प्रदिशाओं को जानकर अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर सत्य परमात्मा की प्रथम उत्पन्न वाणी का ज्ञान प्राप्त कर जीवात्मा परमात्मा में प्रवेश कर लेता है (अर्थात् उससे युक्त हो जाता है)।

इसी प्रकार ऋग्वेद में भी लिखा है—

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत्कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्॥

(ऋग्वेद ७-८६-२)

मैं अपनी इस देह से उसका कब साक्षात् करूँगा? कब मैं उसे वरण करने योग्य हृदय में होऊँगा? कब वह कोपरहित होकर मेरी प्रार्थना को स्वीकार करेगा और कब मैं शुभ-चित्त होकर उस परम आनन्दमय को प्राप्त करूँगा?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

अन्तः + तत् + धर्म + उपदेशात् ।

अन्तस् में उपस्थित अर्थात् सबके भीतर व्यापक परमात्मा के धर्मों का वर्णन कर रहे हैं।

प्रथम १६ सूत्रों में त्रिविधं ब्रह्म के अस्तित्व की सिद्धि, अन्तर, परमात्मा की जड़ से विलक्षणता और अन्त में परमात्मा की जीवात्मा से विलक्षणता का वर्णन कर अब परमात्मा के धर्मों का वर्णन किया जा रहा है।

अन्तः शब्द से अभिप्राय है सबमें व्यापक और वह परमात्मा ही है। यह जीवात्मा नहीं हो सकता। कारण यह कि वह सबके भीतर व्यापक नहीं है। अतः परमेश्वर के ही धर्मों का वर्णन किया जा रहा है।

सूत्रकार अपने आशय को अगले सूत्र में स्पष्ट करता है।

भेदव्यपदेशाच्चान्य ॥२१॥

च + भेदव्यपदेशात् + अन्यः ।

और व्यवहार में भेद से यह दूसरा है।

जिसको अन्तः कहा है वह जीवात्मा से व्यवहार में दूसरा है। अन्तः के धर्मों का वर्णन हो रहा है, जीवात्मा के नहीं। यहाँ स्पष्ट रूप में यह स्वीकार किया है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई है, जिसके विषय में भूल की जा सकती है। इस कारण उसके धर्मों का उल्लेख हो रहा है।

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥२२॥

आकाश + तत् + लिङ्गात् ।

आकाश उसका लिङ्ग है।

यहाँ आकाश शब्द से पाँचभौतिक आकाश नहीं मानना चाहिए। उस आकाश की उत्पत्ति तो प्रधान से हुई है। प्रधान से महत्, महत् से अहंकार, तदनन्तर अहंकार से पंच महाभूतों में आकाश। वह परमात्मा का लक्षण नहीं हो सकता।

वस्तुतः आकाश से यहाँ अभिप्राय है कि वह विस्तृत असीम अवकाश (space) जिसमें परमात्मा व्याप्त है। क्योंकि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है, इस कारण यह माना जाता है कि स्थान, जहाँ परमात्मा व्याप्त है, वह भी परमात्मा की भाँति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनन्त है। इसका अन्त नहीं। अतः परमात्मा और यह आकाश पर्यायवाचक माने जाते हैं। वस्तुतः आकाश तो स्थान है परमात्मा उसमें व्याप्त पदार्थ है। आकाश का कोई अंश परमात्मा के बिना नहीं। अतः आकाश परमात्मा का लिंग माना है।

स्वामी शंकराचार्य ने यहाँ भी यह पूर्व पक्ष उठाया है कि आकाश शब्द से भूताकाश लेना चाहिए। पूर्व पक्ष में आकाश से भूताकाश लेने में युक्ति यह दी है कि यदि यह नहीं लेंगे तो आकाश शब्द अनेकार्थ वाचक हो जायेगा। साथ ही यह कहा है कि आकाश शब्द का अर्थ भूताकाश ही प्रसिद्ध है।

यह पूर्व पक्ष की युक्ति थोथी है। संस्कृत भाषा तथा वैदिक भाषा में अनेक शब्द हैं जो अनेकार्थ वाचक हैं। साथ ही प्रसिद्ध अर्थ का अभिप्राय यह नहीं कि दूसरे अर्थ हैं ही नहीं। जहाँ जो अर्थ उपयुक्त लगें, वही लेने चाहिए। जो वस्तु हमारे समीप है और बार-बार हमारे प्रयोग में आती है, उसका नाम प्रसिद्ध हो जायेगा। इस पर भी दूसरी वस्तु भी है।

परन्तु विस्मय तो यह है कि इस पूर्व पक्ष का उत्तर स्वामीजी अयुक्तिसंगत दे रहे हैं। स्वामीजी लिखते हैं—

प्राप्ते ब्रूमः—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम्। कुतः? तल्लिङ्गात्। परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति। परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा। ननु भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वं दर्शितम्।

अर्थात्—ऐसा (पूर्व पक्ष) प्राप्त होने पर हम कहते हैं। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' में आकाश शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करना युक्त है। क्योंकि उसका लिंग है। इसे परमात्मा का लिंग ग्रहण करने में 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' प्रमाण है। परब्रह्म से ही भूतों की उत्पत्ति होती है, यह वेदान्तों में मर्यादा है। साथ ही भूताकाश से ही वायु इत्यादि भूतों की क्रम से उत्पत्ति दिखाई है।

यह सब कुछ ठीक होते हुए भी पूर्व पक्ष का उत्तर नहीं। उत्तर तो यह है कि वेद और उपनिषद् में अनेक शब्द हैं जो अनेकार्थ वाचक हैं। दूसरे यह कि विख्यात् और अविख्यात् होने से कोई अर्थ निःशेष नहीं हो जाता। यह है पूर्व पक्ष की युक्तियों का खण्डन। यदि पूर्व पक्ष वाला आपके वेद तथा उपनिषद् को प्रमाण न माने तो क्या किया जायेगा?

पूर्व पक्ष के उक्त खण्डन के उपरान्त पक्ष का समर्थन यह है कि भूताकाश प्रकृति की उपज है। साँख्य के अनुसार प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार और अहंकारों से पंचमहाभूत—ऐसा उत्पन्न हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति से इन भूतों की उत्पत्ति के विषय में मनुस्मृति में लिखा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानऽव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ (मनु० १-५,६)

अर्थात्—यह सब कुछ तम में लीन, अज्ञात, चिह्नरहित, तर्क से परे, अविज्ञेय और सर्वत्र सोये हुए के समान था ।

तब स्वयम्भू भगवान् जो अव्यक्त और अपरिमित शक्ति वाला तथा अन्धकार को दूर करने वाला है, उसने इस संसार को प्रकट करते हुए इन महाभूतादि को पैदा किया ।

इससे भूत आकाश परमात्मा का लक्षण नहीं, वह परमात्मा से निर्मित पदार्थ है। आकाश के अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी हैं। जब पंचमहाभूत नहीं थे तब क्या परमात्मा का एक लिंग नहीं रहा मानना होगा ?

भूताकाश और परमात्मा के लिंग-आकाश में अन्तर है कि भूताकाश जगत् का एक अंश होने से सर्वव्यापक नहीं। यह सीमा वाला है और परमात्मा का लिंग-आकाश असीम है ।

स्वामी शंकराचार्यजी कहते हैं कि आकाश शेष चारों भूतों का उत्पत्ति स्थान है और परमात्मा भी सबकुछ का उत्पत्ति स्थान होने से आकाश उसका पर्याय-वाचक है। यह युक्ति नहीं। यथा—बैल गोवंश का उत्पत्ति स्थान होने से और गधा गधा वंश का उत्पत्ति स्थान होने से पर्यायवाचक नहीं हो सकते। न ही मोहन का पुत्र गौतम और गौतम का पुत्र कृष्ण होने से मोहन और कृष्ण पर्यायवाचक हो सकते हैं ।

ठीक बात को भी ठीक ढंग से न बता सकने का कारण है स्वामीजी को सांख्य दर्शन का ज्ञान न होना। स्वामीजी ने सांख्य के प्रणेता कपिल मुनि को अनीश्वर-वादी माना है। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि स्वामीजी को जैसे ऋक् आदि वेदों का ज्ञान नहीं था, वैसे ही सांख्य का ज्ञान भी नहीं था ।

इस स्थान पर इतना लिख देना उचित है कि इस सूत्र के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य ने एक वेद-मन्त्र का उद्धरण भी दिया है। मन्त्र है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

(ऋ० १-१६४-३९)

यहाँ व्योम शब्द परमात्मा का वाचक है। इस मन्त्र के अर्थ हैं— वेद-मन्त्रों में वर्णन किये गए परम-व्योम (परमात्मा) में सब नक्षत्रादि विश्व-देवता स्थित हैं। जो उस परमात्मा को नहीं जानता, वह वेद के अर्थ को क्या समझेगा ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उपासना करता है, वह ही विद्वान् समझा जाता है।

यह एक (कदाचित् एक आध और भी) वेद का उद्धरण स्वामीजी के लेखों में दिखाई दिया है। जहाँ सूत्र १-१-१५ में 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' मन्त्र में लिखा होने पर भी वेद मन्त्र से कोई प्रमाण नहीं दिया जा सका।

सूत्र का अर्थ है कि आकाश परमात्मा का लिंग है। लिंग का अर्थ गुण नहीं। जैसे अग्नि का लिंग धुआँ है; अर्थात् धुएँ से अग्नि का ज्ञान होता है। इसी प्रकार आकाश के सर्वत्र होने से सर्वव्यापक परमात्मा का ज्ञान होता है। आकाश परमात्मा का निवास स्थान है।

अत एव प्राणः ॥२३॥

इसी प्रकार प्राण भी परमात्मा का लक्षण है।

प्राण का अर्थ है, गति उत्पन्न करने वाला। कार्य करने की सामर्थ्य को प्राण कहते हैं। परमात्मा से कार्य-जगत् की उत्पत्ति हुई है। अतः यह कार्य करने की सामर्थ्य रखता है।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्व ११-४-१)

यह सबकुछ जिसके वश में है (उस) प्राण के लिए नमस्कार हो। जो स्वयम्भू है, सबका ईश्वर है, जिसमें सबकुछ प्रतिष्ठित है।

और भी—

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

(कठो० २-३-२)

जो कुछ यह सब विस्तृत जगत् है (प्राण एजति) प्राण से क्रियावान् हो रहा है, वह महान् भय, उठे हुए वज्र के समान है। जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।

अतः प्राण का अर्थ कर्म करने का सामर्थ्य है। परमात्मा परम सामर्थ्यवान् है। इस कारण प्राण उसका लिंग है। वास्तव में सब प्राकृतिक पदार्थों में और जीवों के शरीर में भी कार्य करने का सामर्थ्य उस परमात्मा का ही माना जाता है। इस कारण जीवों को भी प्राणी माना है। प्राण के अर्थ साँस लेने तथा छोड़ने वाला वायु नहीं। यह वायु प्राणरूपी सामर्थ्य से चलता है; इस कारण इसे भी प्राण कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब प्राकृतिक पदार्थ तथा जीवों के शरीर भी प्राण से कार्य करते हैं और वह प्राण भी ईश्वर के सामर्थ्य का ही सूचक है। ईश्वर का सामर्थ्य (प्राण) कैसे प्राकृतिक पदार्थों में काम करता है ? यह प्रश्न है। यह कहा जाता है कि प्रकृति अपने गुणों के बल पर कार्य करती है।

यह ठीक है, परन्तु गुणों का बल भी तो परमात्मा के बल से ही प्रकट हुआ है। यह सांख्य-सिद्धान्त है कि प्रकृति के प्रत्येक कण (परमाणु) में तीन गुण (सत्त्व, रजस् तथा तमस्) साम्यावस्था में विद्यमान रहते हैं। प्रकृति गुणों की परस्पर सन्तुलित अवस्था है। इनका सन्तुलन परमात्मा के सामर्थ्य से ही टूटता है। सन्तुलन के न होने से ही गुण, कार्य करने लगते हैं। इनका कार्य तब तक चल सकता है, जब तक इनका सन्तुलन टूटा रहता है। परमात्मा ही प्रकृति के परमाणु के अन्तर्गत गुणों को पुनः सन्तुलित करने का सामर्थ्य रखता है। अतः वह ही सब चराचर पदार्थों में कार्य का सामर्थ्य देने वाला है।

अतएव प्राण परमात्मा का लक्षण है। इसे परमात्मा का स्वरूप भी कहते हैं।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥२४॥

ज्योतिः+चरणाभिधानात्।

छन्दों में ज्योति भी परमात्मा का लक्षण माना है।

ज्योति का अर्थ प्रकाश एवं ज्ञान है। चरणों में अर्थात् वेद-छन्दों में लिखा गया ज्योतिः शब्द परमात्मा का लक्षणस्वरूप है।

जैसे आकाश परमात्मा नहीं। आकाश परमात्मा का निवास स्थान होने से परमात्मा का लक्षण होता है; इसी प्रकार प्राण परमात्मा नहीं। परमात्मा का सामर्थ्य परमात्मा का लक्षण (चिह्न) है। अतः प्राण परमात्मा का लक्षण है। इसी प्रकार ज्योतिः परमात्मा नहीं है, परन्तु ज्योति सदा और सर्वत्र परमात्मा के कारण विद्यमान होने से परमात्मा का लक्षण है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सूत्रकार परमात्मा के लक्षण बता रहा है।

उदाहरण के रूप में वेद मन्त्र है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंङ्कल्पमस्तु ॥

(यजु० ३४-१)

जागते हुए देव (आत्मा) का (मन) दूर आता जाता है और उस देव (आत्मा) के सोये हुए का (मन) भी वैसा ही करता है। अभिप्राय यह कि जागते अथवा सोये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा का मन भटकता रहता है। वह दूर स्थित ज्योति वालों में ज्योति वाला एक मात्र मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।

और भी देखिए—

अयं होता प्रथमः पश्येतममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३वर्धमानः॥

(ऋ० ६-९-४)

अर्थात्—यह ही सबसे उत्तम सुखों को देने वाला है। इसका साक्षात्कार करो। मरणशीलों में यह अमर ज्ञानस्वरूप है।

अतः अनेक स्थलों पर ज्योति शब्द प्रकाश एवं ज्ञान के लिए आया है और परमात्मा को ज्ञानस्वरूप माना है। प्रकाश को भी परमात्मा का लक्षण माना है।

भगवद्गीता में भी इस प्रकार लिखा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(भ० गी० १३-१७)

ज्योतियों में भी वह ज्योति है। वह अन्धकार से दूर कहा जाता है। वह ज्ञानस्वरूप, जानने के योग्य और ज्ञान से जाना जाने योग्य सबके हृदय में स्थित है। प्रकाश और ज्ञान परमात्मा के लक्षण हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक बात स्पष्ट की है—

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योति।

(छा० ३-१३-७)

परम उच्च देव लोक में विश्व की पीठ पर जो ज्योति प्रकाशित है, वह ही सब उत्तम स्थानों पर प्रकाशमान् है। वह ही इस लोक में पुरुष में उपस्थित है।

अभिप्राय यह है कि ज्योति सब स्थान पर एक ही है और वह उस परमात्मा का ही स्वरूप है। अतः ज्योतिः भी परमात्मा का लक्षण है।

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम्॥२५॥

छन्दो+अभिधानात्+न+इति+चेत्+न+चेतः+अर्पण+निगदात्+हि+तथा+दर्शनम्।

चेत् (यदि) छन्दों में कहा गया है, ऐसा नहीं। क्योंकि (वहां) चित्त को अर्पण करना कहा है। यही बात दर्शनशास्त्र में कही गयी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्व सूत्र में 'चरणाभिधानात्' ऐसा वाक्य है। शंका की जा रही है कि यह कोई युक्ति नहीं कि वेदों में कहा गया है कि ज्योति उसका लक्षण है। इससे यह माना नहीं जा सकता।

जो लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वे जगत् में प्रकाश की उत्पत्ति प्रकृति के गुणों से मानते हैं। इस कारण ये लोग शंका करते हैं कि वेद में लिखा होने से स्वीकार नहीं किया जा सकता। सूत्रकार कहता है कि 'न सही।' मत मानो। वहाँ इस ज्योति में चित्त को लगाने के लिए लिखा है। वही बात दर्शनशास्त्र में युक्ति से वर्णन की गयी है।

अधिकांश भाष्यकारों ने इस सूत्र के अर्थ स्पष्ट रूप में नहीं लिखे। वे बता नहीं सके कि शंका क्या है और फिर उसका उत्तर क्या दिया गया है? उक्त व्याख्या हमने अपने विचार से की है।

शब्दों के अर्थों से हमने यही समझा है और यही बात ठीक प्रतीत होती है। पूर्व सूत्र (१-१-२४) में 'चरणाभिधानात्' लिखा है। इसका अर्थ है कि वेदों के पदों में ऐसा प्रतिष्ठित है। वर्तमान सूत्र (१-१-२५) में यह शंका उठा दी है 'छन्दोऽभिधानात् च इति चेत् न'। यदि वेदों में लिखा कहो तो स्वीकार योग्य नहीं। क्यों स्वीकार नहीं? इस कारण कि शंका करने वाला वेदों को प्रमाण-ग्रन्थ नहीं मानता। वह नास्तिक है।

इसपर सूत्रकार उत्तर देता है 'न तथा'—यह इस प्रकार नहीं। अर्थात् वेद में ज्योति को परमात्मा का स्वरूप बताया है। वहाँ परमात्मा का ऐसा वर्णन कर चित्त को उसके अर्पण करने के लिए लिखा है, परन्तु 'तथा हि दर्शनम्' इसी प्रकार दर्शनशास्त्र में भी सिद्ध कर चुके हैं। अर्थात् यही बात कि ब्रह्म ही पूर्ण जगत् का रचने वाला है, हम युक्ति से भी सिद्ध कर चुके हैं।

हमारा मत यह है कि दर्शनशास्त्र स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। वेदादि शास्त्रों में लिखा तो वही है जो दर्शनशास्त्र सिद्ध कर चुके हैं, परन्तु दर्शनशास्त्र स्वतन्त्र शास्त्र है। वैदिक दर्शनशास्त्र वेदादि शास्त्रों में वर्णित सच्चाइयों को ही सिद्ध करते हैं। इसी कारण वेदादि का उल्लेख किया जा रहा है।

नास्तिक की शंका का समाधान दर्शनशास्त्र में है। जब जगत् का कर्ता परमात्मा सिद्ध हो गया तो सूर्यादि में ज्योति का कर्ता भी तो वही सिद्ध है।

जब प्रकृति के गुणों में सन्तुलन टूटता है अर्थात् उनकी साम्यावस्था भंग होती है तो जगत् की रचना होती है। यह सम्यावस्था भंग होती है ईश्वर की करनी से। अन्य कौन कर सकता है? और जगत् के सूर्य का कितना प्रकाश है और ब्रह्माण्ड में तो इस सूर्य से भी सहस्रों गुणा अधिक प्रकाशमान सूर्य विद्यमान हैं। इतना प्रकाश, इतनी शक्ति तो किसी अद्वितीय 'पुरुष' में ही हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी को परमात्मा के नाम से स्मरण किया जाता है। इसी कारण उसके लिए यह कहा है—**एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म।**

यहाँ पुनः यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आकाश, प्राण, ज्योति परमात्मा के लक्षण हैं। ये परमात्मा नहीं हैं। ये गुण भी नहीं हैं। गुण गुणी के साथ रहते हैं। लक्षण अर्थात् चिह्न पदार्थ से पृथक् भी दिखाई देते हैं। साथ ही लक्षणों को प्राप्त कर लेने से ही पदार्थ की प्राप्ति सम्भव नहीं। उदाहरण के रूप में सूर्य का प्रकाश, विद्युत में ऊर्जा, अग्नि में ताप, मनुष्य में ज्ञान परमात्मा से प्राप्त होते हैं, परन्तु इनकी प्राप्ति से परमात्मा की प्राप्ति नहीं मानी जाती।

एक वैज्ञानिक आण्विक शक्ति का नियन्त्रण कर, उससे कार्य का संचालन करता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह परमात्मा को नियन्त्रण में कर उससे कार्य ले रहा है। यद्यपि यह सत्य है कि उसने शक्ति पर अधिकार प्राप्त किया है, परन्तु यह अधिकार परमात्मा के अधिकार का सूचक नहीं। कोयला जलाकर ताप से स्टीम इंजन चलाना और आण्विक शक्ति से मशीनों को चलाना, एक ही श्रेणी के कार्य हैं। शक्ति पर अधिकार प्राप्त किया गया है। यह शक्ति परमात्मा द्वारा मूल प्रकृति से मुक्त (release) हुई कही गई है। उसके एक अति न्यून अंश पर मनुष्य का अधिकार हो गया है। यह अधिकार परमात्मा पर अधिकार का सूचक नहीं।

अतः इस सूत्र का अर्थ केवल नास्तिकों का समाधान करना है कि वेद के नाम से भयभीत होने की बात नहीं। 'तथा ही दर्शनम्।' इसी प्रकार दर्शनशास्त्र में युक्ति से सिद्ध कर चुके हैं।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥२६॥

भूतादि+पाद+व्यपदेशः+उपपत्तेः+च+एवम्।

भूतादि का अभिप्राय जगत् है। जड़ और चेतन के ये पाद कहे गए हैं और उपपत्ति (युक्ति) से भी ऐसा ही प्रकट होता है।

ऊपर के सूत्र में बताया है कि यदि वेद को प्रमाण नहीं मानते तो दर्शनशास्त्र (युक्ति) से भी तो हम ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध कर चुके हैं।

यह विश्व (पृथिवी नक्षत्रादि) जिसे सूत्र में भूतादि कहकर वर्णन किया है, इनको चरण (पग) ही कहा है। परमात्मा की कर्तृत्व शक्ति में भूत इत्यादि चरण मात्र हैं। इस जगत् की रचना में तो कई पग हैं।

सूर्यादि को देवता माना है। ये भूतों से अगला पग है। इससे भी आगे अन्य पग हैं। यह जगत्-रचना में युक्ति की जा सकती है। इस प्रकार ज्योति इत्यादि लक्षण भी उस परमात्मा के कर्तृत्व में पग हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी शंकराचार्य इस सूत्र के भाष्य में पाद का अर्थ गायत्री छन्द के पाद कहते हैं। यह अशुद्ध है।

अतः हमारा कहना यह है कि गायत्री उक्त सूत्र (वे० द० १-१-२६) से सम्बन्धित नहीं।

यह आशय सूत्र का नहीं है। इसमें लिखा है कि परमात्मा की शक्ति (ज्योति) का एक पाद भूतादि (जड़ चेतन) जगत् में है। दूसरे पादों का यहाँ (सूत्र में) उल्लेख नहीं, परन्तु संकेत है कि दूसरे पाद देवतागण हैं और अन्तिम पाद (दिव्य) ब्रह्मलोक में है। ये पाद हैं छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार।

यहाँ पाद का अभिप्राय भी समझ लेना चाहिए। परमात्मा ने सृष्टि को रचा है। रचने में कई पग (stages) पर कार्य हुआ है। प्रथम पग है जड़-चेतन जगत्। दूसरा पग है सूर्यादि देवता, तीसरा पग है ब्रह्मलोक।

श्री स्वामीजी द्वारा ब्रह्मसूत्र—१-१-२६ में जो पाद वर्णन किये हैं, उनका गायत्री के पादों से समन्वय कर सूत्रार्थ में भ्रम फैला है।

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।।२७।।

उपदेश + भेदात् + न + इति + चेत् + न + उभयस्मिन् + न + अपि + अविरोधात्।

कथन (के ढंग) में भेद से; यदि कहो तो भेद नहीं। दोनों में विरोध भी नहीं है।

उपनिषद् ग्रन्थों में तथा अन्य अनेक स्थानों पर परमात्मा से सृष्टि और परमात्मा की सृष्टि का भिन्न-भिन्न विभक्तियों में वर्णन मिलता है। सूत्रकार का कहना है कि इस वर्णन के भेद से अर्थों में भेद नहीं पड़ता। परस्पर विरोध भी नहीं है।

उक्त विभक्तियों में भेद से अर्थों में भेद की सम्भावना तो है ही। यह सूत्रकार ने बताया है कि अर्थों में भेद नहीं पड़ता, परन्तु सूत्रकार का एक अन्य भी अभिप्राय है जो प्रायः भाष्यकारों की दृष्टि में नहीं आया।

उपनिषदों में अनेक स्थलों पर ऐसा वर्णन मिलता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। उदाहरण के रूप में उपनिषद् वाक्य हैं—

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। (माण्डूक्य० १)

इसका अर्थ है—ओं जो यह अक्षर है, वही सबकुछ है। सब भूत, भविष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वर्तमान उसका ही व्याख्यान है। सब ओंकार ही है। अन्य भी, जो इन तीन कालों से परे है, वह भी ओंकार ही है।

इसका अर्थ यह है कि ओंकार अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। परन्तु एक अन्य उपनिषद् में लिखा है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥

(श्वेताश्वतर० १-९, १०)

इन दोनों मन्त्रों का भावार्थ इस प्रकार है —

ज्ञानवान् और अज्ञानी दो अजन्मा हैं। एक ईश्वर है और दूसरा अनीश्वर है। एक अन्य अजन्मा है, जो भोग करने वाले के भोग के निमित्त है। विश्वरूप आत्मा तो अनन्त है। वह अकर्ता (भोग नहीं करने वाला) है। जब मनुष्य यह जान जाता है कि ये तीनों ब्रह्म हैं तो वह जान जाता है।

नाशवान् कार्य जगत् और अविनाशी (जीवात्मा) और हरि, ये तीन हैं। कार्य-जगत् और आत्मा (जीवात्मा) इन दोनों पर जो एक देव शासन करता है, इस देव का चिन्तन करने से सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।

आगे और भी लिखा है—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।

(श्वेताश्वतर० १-१२)

भोग करने वाला, भोग्य-सामग्री और प्रेरणा देने वाला सब तीन प्रकार का ब्रह्म कहा है।

अतः माण्डूक्य उपनिषद् के मन्त्र संख्या १ तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऊपर लिखे मन्त्रों में अर्थभेद प्रतीत होता है। सूत्रकार का कहना है कि यहाँ अर्थ-भेद नहीं है। कैसे भेद नहीं है? यह इन उपनिषदों के भाष्यकार अपने-अपने मत से बताते हैं। हमने भी बताया है कि माण्डूक्योपनिषद् में जहाँ परमात्मा को ही सबकुछ कहा है, वह परमात्मा को निमित्त कारण मानकर ही कहा है। वहाँ प्रधान और जीवात्मा का विरोध नहीं है। परमात्मा इन दोनों पर शासक होने से सबकुछ है, ऐसा माना है। श्वेताश्वतर में तीनों के गुणों में समानता और भेद का वर्णन किया है।

सूत्रकार उक्त सूत्र से यह प्रकट करते हैं कि यह भेद परस्पर विरोध प्रकट नहीं करता।

इस और पूर्व के सूत्र को देने का प्रयोजन नास्तिकों, शास्त्र पर शंका करने वालों का समाधान करना है। सूत्रों में संकेत है। भाष्यकारों का कर्तव्य था कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे इस दिखाई देने वाले भ्रम की व्याख्या और निराकरण करते। अधिकांश भाष्यकार विभक्तियों का उल्लेख कर ही रह गये हैं। वे तो हैं ही, परन्तु वास्तविक बात अन्य है।

स्वामी शंकराचार्य भी इसी भ्रम में फँस गये हैं। इस भ्रम में फँसने का कारण यह है कि दर्शनशास्त्र के सूत्रों को वेदान्त-वाक्यों की व्याख्या में समझ पूर्व सूत्र (१-१-२६) में एक उद्धरण देकर, उस उद्धरण में सप्तमी और पंचमी के चक्कर में वह फँस गये हैं। वास्तविकता यह है कि सूत्रकार ने किसी भी उपनिषद् वाक्य तथा अन्य किसी शास्त्र के वाक्य का उल्लेख नहीं किया। सूत्रकार ने तो सिद्धान्त उपस्थित किये हैं। जब सूत्र कहा था, तब उसके मन में कौन-सा वाक्य था, कहा नहीं जा सकता।

सिद्धान्त यह है कि कहीं-कहीं परमात्मा को ही सबकुछ माना है और कहीं जीवात्मा और प्रकृति को भी अजन्मा और अनादि माना है। यह भेद है जिसके विषय में सूत्रकार कहता है कि अर्थ-भेद नहीं। ये परस्पर अविरोधी हैं।

कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी शंकराचार्य भाष्य करते हुए यत्र, तत्र, संगत-असंगत उद्धरण देते रहे हैं और फिर उनकी संगति बैठाने के लिए सूत्रार्थों में खींचातानी करने लगे हैं।

अतः हमारा मत है कि सूत्र में 'उपदेशभेदान्नेति' का अभिप्राय है प्रकृति, आत्मा, परमात्मा को जो भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा गया प्रतीत होता है, उनमें भेद नहीं है। एक पदार्थ के व्याख्यान में, दूसरे के वर्णन के अभाव से उसका विरोध नहीं होता।

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥२८॥

प्राणः + तथा + अनुगमात्।

इसी प्रकार प्राण भी अनुगम होने से।

जैसे ज्योति है, वैसे भी प्राण है। हमने बताया है कि ज्योति परमात्मा नहीं है। परमात्मा का लक्षण है। जहाँ शास्त्र में ज्योति को परमात्मा लिखा है अथवा प्राण को परमात्मा लिखा है, वहाँ यही समझना चाहिए जो अनुगम (संगति से ठीक) है।

स्वामी शंकराचार्य तथा उनके अनुगामी भाष्यकार सूत्र पढ़ते ही किसी उपनिषद् वाक्य का उद्धरण देने को लालायित हो जाते हैं। सूत्रकार के मन में सूत्र कहने के समय वही उपनिषद् वाक्य उपलक्ष्य था यह कहना कठिन है। अतः उचित तो यह है कि सूत्र की युक्तियुक्त व्याख्या की जाए। आवश्यक हो तो कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण दिया जाए। यत्न यही होना चाहिए कि व्याख्या स्वयं में ऐसी सामान्य और विस्तृत हो कि वह वाक्य पर युक्त हो सके। ब्रह्मसूत्रों के शंकर भाष्य और अधिकांश अन्य भाष्यों में ऐसा प्रकट करने का यत्न किया गया है, मानो सूत्रकार ने उपनिषद् वाक्यों पर ही अपने सूत्र कहे हैं।

सूत्रकार ने ऐसा कहीं उल्लेख नहीं किया है। संकेत भी नहीं किया। अतः हमारा मत है कि सूत्र युक्तियाँ हैं। प्रायः ब्रह्मसूत्र (परमात्मा, जीवात्मा, एवं प्रकृति के) रहस्य को स्पष्ट करने के लिए लिखे गये हैं। कहीं-कहीं नास्तिकों के शास्त्र वर्णित सिद्धांतों पर शंकाओं को दूर करने का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसे स्थानों पर भी सैद्धान्तिक स्पष्टता ही है।

उक्त सूत्र पर भाष्य आरम्भ करते ही स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं —

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्ययायिका—'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' इत्यारभ्याम्नाता। तस्यां श्रूयये—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति।

अर्थात्—दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन युद्ध और पराक्रम से इन्द्र के प्रिय धाम-स्वर्ग को गया। कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् में इन्द्र और प्रतर्दन की आख्यायिका कही गयी है। उसमें 'स होवाच्च प्राणोऽस्मि' इन्द्र ने कहा कि मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ। उस मेरी आयु तथा अमृत रूप से उपासना कर—इत्यादि।

क्या यह उद्धरण सूत्रकार के मन में था? हमारा मत है कि नहीं था। कारण यह है कि सूत्र के अर्थों से इसकी संगति नहीं बैठती।

सूत्र स्पष्ट है। तथा=इसी प्रकार, प्राणः=प्राण है। अनुगमात्=अनुगामी होने से।

किसका अनुगामी? परमात्मा का। अर्थ है कि प्राण परमात्मा की प्रेरणा पर कार्य करता है। अतः प्राण से भी ब्रह्म का अभिप्राय समझा जा सकता है।

जैसे तुलसीकृत रामचरितमानस तुलसी की अनुगामी (विचारानुकूल) होने से दोनों एक ही माने जा सकते हैं। इसपर भी तुलसी पृथक् है और रामचरित मानस पृथक् है।

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥२९॥

न+वक्तुः+आत्मोपदेशात्+इति+चेत्+अध्यात्म+संवन्धभूमा+हि +अस्मिन्।

वक्ता की आत्मश्लाघा के लिए यह नहीं। अध्यात्म सम्बन्धी प्रकरण में यदि न आया होता :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह वाक्य कि प्राण ब्रह्म (परमात्मा) का वाचक है, मनुष्य आत्मश्लाघा के लिए भी कह सकता है। मनुष्य प्राणी कहलाता है। इसमें प्राण (कार्य करने का सामर्थ्य) रहता है। अतः यदि प्राण परमात्मा है और मनुष्य का जीवन प्राण रहने तक माना जाता है तो प्राणी परमात्मा है ऐसा मनुष्य आत्मश्लाघा के लिए कह सकता है। सूत्रकार कहता है कि नहीं। यदि यह होता तो अध्यात्म के प्रसंग में प्राण का प्रयोग न होता।

अभिप्राय यह है कि प्राणी में प्राण जीवन तक रहता है। अतः संशय करने वाले के मत से शास्त्र में प्राण शब्द आदि-अन्त वाले पदार्थ के लिए माना जाएगा। सूत्रकार का कहना है कि नहीं। क्योंकि प्राण अध्यात्म के प्रसंग में आया है। अध्यात्म है अक्षर का ज्ञान।

अब इसके उदाहरण दिये जा सकते हैं। अथर्ववेद में एक प्राण सूक्त (अथर्व० ११-४) है। इसमें प्राण परमात्मा है। और प्राण क्यों है, इसका विस्तार से वर्णन है।

इस सूत्र का प्रथम मन्त्र है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(अथर्व० ११-४-१)

जिसके वश में सबकुछ है, उस प्राण के लिए नमस्कार हो। जो स्वयम्भू है, सबका ईश्वर है, जिसमें सब प्रतिष्ठित हैं।

स्पष्ट है कि यहाँ प्राण परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है।

इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में लिखा है कि (स्तनयित्नवे) जैसे स्तन से दूध निकलता है, वैसे ही सुखों की वर्षा करने वाला प्राण (अथर्व० ११-४-२) है।

इसी प्रकार एक अगले मन्त्र में लिखा है **'स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः'** (११-४-३) मेघों द्वारा ओषधियों का पालन करने वाले प्राण हों। प्राण का विशेष प्रयोजन भी वर्णन किया है। (**प्र वीयन्ते गर्भान्दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते**) (अथर्व० ११-४-३) गर्भ धारण कराने में एवं बहुविध प्रजाओं की उत्पत्ति में विशेष रूप में प्राण सहायक होता है।

और आगे अथर्व० ११-४-६ में कहा है **'अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्'** भरपूर वर्षा से सिंचित ओषधियाँ प्राण रूप परमात्मा से कहती हैं कि **'आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः'** आप उन्हें (ओषधियों को) आयु देते हैं। वे हम सबको सुगन्धित पुष्प प्रदान करती हैं।

इस प्रकार इसी सूक्त में एक स्थान पर लिखा है **'नमस्ते प्राण विद्युते'** (११-४-२) बिजली में प्राण (शक्ति) तुम हो और हम तुमको नमस्कार करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि प्राण शब्द जहाँ अध्यात्म प्रसंग में आया है, वहाँ परमात्मा का वाचक है। साथ ही परमात्मा को प्राण इस कारण कहा है, क्योंकि यह सर्वशक्तिमान् है और शक्ति ही प्राण है। प्राण परमात्मा का लक्षण है।

प्राणी में भी प्राण (शक्ति) ईश्वर का ही दिया हुआ है। यह अन्न (ओषधियों) से प्राप्त होता है और अन्न में प्राण परमात्मा ही डालता है।

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥३०॥

शास्त्रदृष्ट्या + तुः + उपदेशः + वामदेववत् ॥

शास्त्र की दृष्टि के उपदेश को (शास्त्र माना जाता है), **जैसे वामदेव** (का **कथन है।**)

प्राणवान् परमात्मा को प्राण ही कहा जाता है, वैसे ही जैसे वामदेव जैसे शास्त्र दृष्टा के उपदेश को शास्त्र ही माना जाता है।

गुणी गुण से जाना जाता है। इसी प्रकार का पदार्थों का ज्ञान उनके लक्षणों से होता है। लक्षण को ही लिङ्ग कहते हैं।

न्याय-दर्शन में यह सूत्र है—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।

(न्या० १-१-१०)

अर्थात्—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान (चेतना) ये आत्मा के लिङ्ग (लक्षण) हैं।

जैसे यहाँ सुख, दुःख, इच्छा इत्यादि जीवात्मा नहीं, वरन् ये आत्मा के लिङ्ग हैं, इसी प्रकार आकाश, प्राण, ज्योति इत्यादि परमात्मा के लिङ्ग हैं।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात ॥३१॥

जीव + मुख्यप्राण + लिङ्गात् + न + इति + चेत् + न + उपासा + त्रैवि-ध्यात् + आश्रित्वात् + तद्योगात्।

जीवात्मा का मुख्य लिंग प्राण होने से यहाँ (जीवात्मा का अर्थ) नहीं। (यदि होता तो) त्रिविध उपासना का आश्रय का प्रसंग न होता।

सूत्र १-२९ की व्याख्या में हमने अथर्व वेद के प्राण सूक्त का उदाहरण दिया है। वहाँ प्राण परमात्मा का सूचक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवात्मा में भी प्राण लिंग है। न्याय-दर्शन में प्राण का पर्याय 'प्रयत्न' लिखा है, परन्तु उक्त (अथर्व वेद तथा अन्य ऐसे ही) प्रसंगों में प्राण परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। सूत्रकार कारण यह देता हैं कि वहाँ उपासना का प्रसंग है। तीन प्रकार में किसी भी प्रकार की भी उपासना का प्रसंग हो, वहाँ प्राण से परमात्मा का ही अर्थ लेना चाहिए।

इसके साथ वेदान्त दर्शन का प्रथम पाद समाप्त होता है।

इस पाद में तीन सूत्र (२,३,४) ब्रह्म की सिद्धि में हैं। हमने अपना मत व्यक्त किया है कि त्रिविध ब्रह्म से ही इनका अभिप्राय है। इसमें प्रमाण हमने दिया है। साथ ही हमारा यह मत है कि उपनिषदादि ग्रन्थों में ब्रह्म शब्द इन तीन में से किसी एक, दो अथवा तीनों (परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति) के लिए माना जा सकता है। यह किसके लिए है ? प्रसंगानुसार देखना चाहिए। इन सूत्रों में परमात्मा को निमित्त कारण के रूप में, प्रकृति को उपादान कारण के रूप में और जीवात्मा को भोक्ता के रूप में स्वीकार कर 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि का अर्थ सर्वथा युक्तियुक्त है।

जिस द्वारा जन्म, जिससे और जिसके लिए हुआ है, वह ब्रह्म है, ऐसा मानना ठीक रहेगा। अन्य भाष्यकारों का विरोध नहीं, वरन् वर्णन करने में एक विशेषता के रूप में ही यह है।

सूत्र ५, ६, ७ परमात्मा अर्थात् परम चेतन तत्त्व की व्याख्या में हैं।

सूत्र ८, ९, १० परम चेतन तत्त्व की जड़ तत्त्व (प्रधान) से भिन्नता को दर्शाने के लिए हैं।

सूत्र ११, १२, १३, १४, १५ में यह बताने का यत्न किया है कि जो कुछ पूर्व के सूत्रों में युक्ति से सिद्ध किया है, वह वैदिक शास्त्रों में भी लिखा है।

सूत्र १६, १७, १८, १९ परमात्म-तत्त्व और आत्म-तत्त्व (जीवात्मा) में भेद वर्णन करते हैं।

सूत्र २० में यह लिखा है कि परमात्मा, जो सबके भीतर व्यापक है, उसके धर्मों का आगे वर्णन होगा।

सूत्र २१ में यह बताया है कि जिसके धर्मों का आगे वर्णन होगा, वह जीवात्मा से भिन्न है।

सूत्र २२, २३, २४ में ब्रह्म के तीन लक्षण लिखे हैं। आकाश से सर्वव्यापकता का लक्षण है। प्राण से सर्वशक्तिमान् का अभिप्राय है और ज्योति से सर्वान्तर्यामी, सर्वत्र, ज्ञानवान् का प्रयोजन है। ये परमात्म-तत्त्व के मुख्य लिंग हैं।

सूत्र २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१ में बताया गया है कि वेदादि शास्त्रों में ऐसे ही लक्षण परमात्मा के हैं। नास्तिकों के कुछ संशयों का भी निवारण किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमने यत्र-तत्र श्री स्वामी शंकराचार्य के भ्रममूलक भाष्य का उल्लेख किया है और उसमें भ्रम को स्पष्ट करने का यत्न किया है। जितने उद्धरण हमने स्वामीजी के भाष्य में से दिये हैं, केवल वे ही सब भ्रममूलक नहीं, अन्य भी हैं, परन्तु स्थानाभाव के कारण कुछ का ही उल्लेख हो सका है।

स्वामी शंकराचार्य परवर्ती अनेक भाष्यकारों ने पूर्णतः उनकी भाष्य शैली का ही अनुकरण किया है। उनकी शैली है कि सूत्र ग्रन्थ वेदान्त वाक्यों (उपनिषदादि ग्रन्थों) को, मणियों को सूत्र में बाँधने की भाँति हैं। स्वामीजी के प्रचार का प्रभाव इतना प्रबल हुआ है कि अन्य भाष्यकारों ने आँखें मूँदकर स्वामीजी का, पूर्णरूपेण अथवा आंशिक रूप में अनुकरण किया है।

हमारा मत उनसे भिन्न है। हम दर्शनशास्त्रों को ऐसा नहीं समझते, जैसा कि श्री स्वामीजी ने माना है। हमारा मत यह है कि वैदिक दर्शनशास्त्र युक्ति अर्थात् अनुमान-प्रमाण से वैदिक सिद्धान्तों को सिद्ध एवं स्पष्ट करने के लिए लिखे गए हैं। अतः सूत्र का अर्थ वर्णन करने के लिए उपनिषदादि ग्रन्थों की साक्षी आवश्यक नहीं, वरन् वैदिक सिद्धान्तों की सत्यता को सिद्ध करने के लिए दर्शन-शास्त्र स्वतन्त्र प्रमाण देते हैं। ये सूत्र उनके लिए ही लिखे गए हैं जो वेदादि ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानते।

प्रत्येक सूत्र एक युक्ति प्रस्तुत करता है और वह युक्ति वेदादि शास्त्रों में वर्णित सिद्धान्तों का समर्थन करती है।

इस बात के लिए ही शास्त्र और मन्त्रों इत्यादि की ओर संकेत है।

——

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Central Library
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
167943
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

द्वितीय पाद

प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में ब्रह्म में दो आत्म तत्त्वों की परस्पर समानता, भेद और सम्बन्ध के विषय में लिखा है। हमारा यह मत है कि सूत्र शुद्ध, सरल और अकाट्य युक्तियाँ हैं। इस पाद के अध्ययन से भी यही सिद्ध होता है।

श्री स्वामी शंकराचार्य इस द्वितीय पाद के लिखने का प्रयोजन यह लिखते हैं—

अर्थान्तरप्रसिद्धानां च केषांचिच्छब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतुप्रतिपादनेन कानिचिद्वाक्यानि स्पष्टब्रह्मलिंगानि संदिह्यमानानि ब्रह्मपरतया निर्णीतानि। पुनरप्यन्यानि वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिंगानि संदिह्यन्ते—किं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्त्याहोस्विदर्थान्तरं किंचिदिति। तन्निर्णयाय द्वितीयतृतीयौ पादावारभ्येते।

अर्थात्—कुछ शब्दों के प्रसिद्ध ऐसे अर्थ जो ब्रह्म के अतिरिक्त हैं, उनको ब्रह्म के हेतु ही बताने से एवं कुछ ऐसे वाक्य हैं, जिनमें ब्रह्म लिंग तो स्पष्ट है, परन्तु सन्देह होता है कि वे ब्रह्म विषयक हैं अथवा नहीं, उनका निर्णय करने के लिए सूत्र हैं। फिर भी अन्य वाक्य हैं कि वे स्पष्ट ब्रह्म लिंग वाले नहीं हैं और उन पर सन्देह किया जाता है कि वे स्पष्ट ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं अथवा किसी दूसरे अर्थ का। इस निर्णय के लिए दूसरे और तीसरे पाद का आरम्भ किया जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी शंकराचार्य वेदान्त दर्शन का और साथ ही उसके प्रथम अध्याय के दूसरे और तीसरे पाद का वह प्रयोजन नहीं मानते, जो हमने ऊपर वर्णन किया है। वे समझते हैं कि कई उपनिषद् वाक्य अस्पष्ट हैं और उनके, स्पष्ट रूप से संशयरहित अर्थ करने के लिए ये सूत्र लिखे गये हैं।

हमारा मत इसके विपरीत है। हम समझते हैं कि न तो उपनिषद् वाक्य अस्पष्ट हैं और न ही उनके अर्थ लगाने में कहीं भ्रम हो रहा है। आर्ष परम्परा यह है कि उपनिषादादि ग्रन्थ मनुष्यकृत हैं। उनमें भूल हो सकती हैं; परन्तु भूल जानने की कसौटी वेद हैं, ब्रह्मसूत्र नहीं। वैसे उपनिषद् इतने अस्पष्ट और अशुद्ध नहीं कि उनको स्पष्ट करने के लिए दर्शनशास्त्रों की आवश्यकता पड़े। दर्शनशास्त्र तो सूत्रवत् हैं। यदि कहीं अस्पष्टता अथवा भूल है तो उसको ईश्वरीय ज्ञान वेद से संशोधित किया जा सकता है। दर्शनशास्त्रों का प्रयोजन भिन्न है और वह प्रयोजन हम ऊपर कह चुके हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब हम इस दर्शनशास्त्र के प्रथम अध्याय के दूसरे पाद का भाष्य करते हैं। इसमें हम बतायेंगे कि स्वामी शंकराचार्य इस शास्त्र के प्रयोजन से ही अनभिज्ञ थे। यह शास्त्र वेदान्त वाक्यों की अस्पष्टता को सुधारने के लिए नहीं, वरन् उन वेदान्त वाक्यों की सत्यता को युक्ति से सिद्ध करने के लिए हैं।

दर्शन स्वतः अपने मत को सिद्ध करने वाले ग्रन्थ हैं। यह सत्य है कि उन सिद्ध किए जाने वाले सिद्धान्तों को दर्शनाचार्य ने वेदादि शास्त्रों से ही ग्रहण किया है, परन्तु उन सिद्धान्तों को बिना शास्त्र का आश्रय लिये ही सिद्ध किया है।

इसका एक प्रमाण तो हम वे० द० १-१-२५ की व्याख्या में दे आये हैं। वहाँ दर्शनाचार्य ने कहा है कि वेदादि शास्त्र को प्रमाण नहीं मानते तो न मानो, परन्तु हम 'दर्शन' युक्ति (logic) से भी तो वही बात सिद्ध कर रहे हैं।

एक अन्य भी संकेत है जो यही प्रकट करता है कि दर्शनशास्त्र स्वतन्त्र शास्त्र हैं। वेदान्त दर्शन में कहीं भी किसी वेदान्त वाक्य की ओर संकेत नहीं। उल्लेख तो है ही नहीं।

यह तो वैदिक ग्रन्थों की श्रेष्ठता और सत्यता का प्रमाण है कि जो श्रेष्ठ युक्ति से सिद्ध होता है, वह वेदादि शास्त्रों में भी पाया जाता है;

हम जहाँ कहीं भी उपनिषदादि शास्त्र का उद्धरण देते हैं, हमारा उससे अभिप्राय: यह है कि वेदादि शास्त्र जिस सत्य का निरूपण करते हैं, उसी को दर्शनशास्त्र युक्ति से सिद्ध करते हैं।

इस द्वितीय पाद में परमात्मा तथा जीवात्मा के सम्बन्ध में ही लिखा है।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।।१।।

सर्वत्र+प्रसिद्ध+उपदेशात्।

सब स्थान पर प्रसिद्ध के कहे जाने से।

क्या प्रसिद्ध है? वह जगत् ही प्रसिद्ध है। हम देखते हैं, सुनते हैं, अनुभव करते हैं कि जगत् है।

जगत् है। यदि यह बन-बिगड़ रहा है तो इसके बनाने-बिगाड़ने वाला भी कोई है। यह किससे बना है? यह भी सिद्ध है कि कुछ है, जिससे यह बना है। साथ ही इसके बनने में क्या प्रयोजन है? यह भी हम देखते हैं।

वही पहले कही गयी बात है कि परमात्मा इस जगत् को बनाने वाला अर्थात् निमित्त कारण है। जड़ प्रकृति इसका उपादान कारण है और जीवात्माओं के भोग के लिए इसका निर्माण हुआ है।

इस सूत्र के एक अन्य प्रकार से भी अर्थ किये गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वत्र=सब स्थानों पर, प्रसिद्ध उपदेश से। इस अर्थ में और ऊपर दिये अर्थों में अन्तर यह है कि ऊपर है प्रसिद्ध उपदेश से, परन्तु इसमें है सर्वत्र उपदेश से।

दोनों के भावों में अन्तर नहीं है। इसमें युक्ति यह है कि मुख्य शब्द है सर्वत्र। इसका अर्थ है कि सब स्थानों पर, अथवा सर्वत्र से अर्थ है सब शास्त्रों में वर्णित। हमारा यह मत है कि यहाँ अभिप्राय है लोक में सर्वत्र। वैसे शास्त्रों में भी जगत् की ही चर्चा सर्व प्रसिद्ध है।

चाहे तो यह कहें कि लोक में सर्वत्र प्रसिद्ध बात की चर्चा से और चाहे यह कहें कि सर्वत्र लोक में प्रसिद्ध चर्चा से। दोनों का समाधान एक ही होगा।

जो सर्वत्र प्रसिद्ध बात है अथवा जिसकी प्रसिद्ध चर्चा है, वह प्रसिद्ध बात जगत् के विषय में है अथवा वह बात प्रसिद्ध जगत् के विषय में है।

अतः कथन से यह प्रसिद्ध कैसे है? प्राणी जो इस पृथ्वी पर रहता है, वह जो कुछ देखता, सुनता, स्पर्श इत्यादि करता है और अनुभव करता है, वही तो प्रसिद्ध है। अतः यह प्रसिद्ध है कि जगत् है। इसके कारण, दोनों निमित्त और उपादान भी सिद्ध हैं और यह भी प्रसिद्ध है कि मनुष्य और अन्य प्राणी हैं, जो इस जगत् के स्वादिष्ट फलों का भोग करते हैं।

अतः तीन पदार्थों की उपस्थिति इस जगत् में होनी सिद्ध है। निमित्त कारण परमात्मा, उपादान कारण प्रकृति और जगत् में भोक्ता जीवात्मा। केवल एक शंकराचार्य ही हैं जो यह मानते हैं कि यह जगत् मिथ्या है, परन्तु वह भी इसको युक्ति से मिथ्या सिद्ध नहीं कर सके। उपनिषदों के वाक्यों के भ्रान्त अर्थ करके ही वह यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं। सीधी सरल बात को नहीं मानते कि जगत् सत्य है। यह बना है। अतः इसके बनाने वाला (कुम्हार की भाँति) निमित्त कारण है और (मिट्टी की भाँति) उपादान कारण भी है। वह प्रकृति है। इस लोक में रहने वाले प्राणी भी हैं।

यह है इस सूत्र का भावार्थ।

कुछ भाष्यकारों ने प्रसिद्ध बात ब्रह्म मानी है। हमारा इसमें यह मत है कि सूत्रकार का यह आशय नहीं। यदि ब्रह्म प्रसिद्ध अर्थात् भली-भाँति सिद्ध किया हुआ होता तो फिर ब्रह्मसूत्रों के लिखने की आवश्यकता ही न रहती।

सूत्रकार स्पष्ट (प्रत्यक्ष) बात से ब्रह्म की सिद्धि चाहता है। इस कारण उसने कहा है कि बात के प्रसिद्ध उपदेश से अथवा प्रसिद्ध बात के उपदेश अर्थात् कथन से ब्रह्म की सिद्धि होती है और वह स्पष्ट प्रत्यक्ष बात है जगत्।

महाभारत में एक प्रसंग मिलता है जब इस प्रकार का एक प्रश्न यक्ष द्वारा युधिष्ठिर से पूछा गया। प्रश्न है 'का वार्त्ता'? बात अर्थात् चर्चा किस बात की है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठर ने कहा—

अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥
(महा भा० वन० ३१३-११८)

अर्थात्—इस महा मोह रूपी कड़ाहे में भगवान् काल समस्त प्राणियों को मास तथा ऋतुओं की करछी से उलट-पुलटकर सूर्य रूपी अग्नि में एवं रात-दिन के ईंधन से राँध रहा है। यही वार्त्ता है।

अतः प्रसिद्ध बात जगत् है और उसके कथन से ब्रह्म की सिद्धि होती है। इस पाद में प्रथम सूत्र का यह अर्थ हमने अपने विचार से किया है। सूत्र के अर्थ करने में किसी वेदान्त वाक्य की सहायता की आवश्यकता नहीं।

सरल बात ही कही है कि—

जो सर्वत्र प्रसिद्ध है। उसके कथन से (ब्रह्म की सिद्धि होती है)।

प्रसिद्ध तो यही है कि हम हैं। वह जगत् है। यह बन और बिगड़ रहा है। इस प्रसिद्ध बात का अर्थ सूत्रकार ने यह बताया है कि इस जगत् का निमित्त कारण है, उपादान कारण है। और इसका प्रयोजन है जीवात्माओं को सुख और उनकी अनादि खोज, आनन्द की प्राप्ति के लिए अवसर प्रदान करना।

शास्त्र भी ऐसा ही मानते हैं तो यह एक पृथक् बात है। इससे शास्त्र की महिमा प्रदीप्त होती है, परन्तु सूत्र का अर्थ वही है जो हमने बताया है।

श्री ब्रह्म मुनि 'प्रसिद्धोपदेशात्' का अर्थ करते हैं, **'उपास्य रूप से प्रतिपादित किये हुए ब्रह्म का उपदेश होने से अन्यत्र संदिग्ध अथवा सन्देह युक्त स्थलों में केवल ब्रह्म ही उपास्य जानना चाहिए।'**

यह सर्वथा स्वामी शंकराचार्यजी का मत है।

हमारा इसमें यह कहना है कि 'उपदेशात्' के सरल अर्थ 'कहने से' को छोड़ उपास्य ब्रह्म को बीच में लाने, संदिग्ध स्थलों को लाकर खड़ा कर देने में कुछ भी प्रयोजन नहीं था। क्योंकि स्वामी शंकराचार्य ने यह लिखा था, अतः ब्रह्म-मुनिजी ने उसी भाव का उल्लेख कर देना उचित समझा है।

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥२॥

विवक्षित+गुणोपपत्तेः+च।

और कहे गये गुणों की स्पष्ट उपपत्ति से।

विवक्षित के अर्थ हैं स्पष्टता से कहना। उपपत्ति के अर्थ हैं उपस्थित होना।

प्रथम सूत्र के साथ इस सूत्र को मिलाने से यह अर्थ बनते हैं कि जगत् का होना सर्वत्र प्रसिद्ध है और यह प्रसिद्धि गुणों की स्पष्ट उपस्थिति से है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ गुण हैं जो हमें बाह्य इन्द्रियों से अनुभव होते हैं। कुछ गुण ऐसे हैं जो हम अपने अन्तःकरण से अनुभव करते हैं। कुछ ऐसे भी लक्षण हैं, जिनको हम अनुमान प्रमाण अथवा उपमान् प्रमाण से समझ पाते हैं। इन सबका सामूहिक अनुभव यह है कि जगत् है। यह निर्मित है, यह कार्य कर रहा है और इसका लय होगा। साथ ही इसके गुण भली-भाँति दिखाई देते हैं।

विवक्षित के अर्थ हैं कि स्पष्ट रूप से अनुभव में आने से। उपपत्तिः का अभिप्राय है समीप आ जाने से। अर्थात् समझ में आ जाने से।

प्रायः अन्य भाष्यकार इस सूत्र को उपनिषद् वाक्यों के स्पष्टीकरण में ही मानते हैं। उदाहरण के रूप में श्री स्वामी शंकराचार्य इस सूत्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं—

तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टाः सत्यसंकल्पप्रभृतयस्ते परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थितिसंहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात्परमात्मन एवावकल्पते। परमात्मगुणत्वेन च 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८-७-१) इत्यत्र 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इतिश्रुतम्।

अर्थात्—इसलिए जो गुण उपासना के लिए उपादेय के रूप में उपदिष्ट होते हैं, वे सत्य संकल्प प्रभृति परब्रह्म में उपपद्य हैं। सत्य संकल्प ही सृष्टि, स्थिति, संहार अपरिमित शक्ति से ही परमात्मा में कल्पित किये जाते हैं। परमात्मा पाप-रहित है। (छा० ८-७-१) यहाँ सत्यकाम और सत्य संकल्प परमात्मा के गुण-रूप में सुने जाते हैं।

इसका सरल भाषा में भाव यह है कि उपनिषद् वाक्य में जहाँ कहीं सत्य-संकल्प, सत्यकाम शब्द आये हैं, उसे परमात्मा के अर्थों में समझो। कारण यह कि इन्हीं गुणों वाले की उपासना अभीष्ट है।

यह बात तो ठीक है, परन्तु क्या यह सूत्र से प्रकट होती है? सूत्र में किसी भी उपनिषद् वाक्य का उल्लेख अथवा संकेत नहीं। न ही यहाँ उपासना का उल्लेख है।

सूत्र संख्या एक में यह लिखा है कि एक सर्वत्र प्रसिद्ध बात कही जाने से। दूसरे सूत्र में यह कहा गया है कि प्रसिद्ध क्यों है? यह प्रसिद्ध है स्पष्ट गुणों की विद्यमानता से।

स्वामीजी तथा उनकी परिपाटी के भाष्यकारों का यह कहना है कि उन गुणों की उपपत्ति केवल परमात्मा में ही हो सकती है और हम कह रहे हैं कि प्रसिद्ध बात है पूर्ण जगत् की। इस जगत् में गुण हैं परमात्मा के, जीवात्मा के और प्रधान (जड़ प्रकृति) के। बस इसी बात में अन्तर है।

उपासना के लिए अभी तक इन दो सूत्रों में कुछ भी उल्लेख नहीं। जगत् के गुणों की उपासना करें अथवा उसको जानकर क्या करें, यह अभी तक नहीं लिखा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपासना का अभिप्राय हम ऊपर लिख आए हैं और ब्रह्म के अर्थ हम कई बार बता चुके हैं।

भ० गी० ७-१, २, ३, ४, ५, ६ से यह स्पष्ट है कि पूर्ण जगत् का ज्ञान प्राप्त करने से ही कल्याण की आशा की जा सकती है। इसी को ब्रह्म की उपासना माननी चाहिए।

स्वामी जी ने छान्दोग्य (८-७-१) का उद्धरण दिया है। इस उद्धरण से भी तो वही बात प्रकट होती है, जो हमने कही है। उपनिषद्कार ने एक कथा के रूप में बात कही है।

एक बार देवताओं के राजा इन्द्र और असुरों के राजा विरोचन प्रजापति के पास यह जानने के लिए पहुँचे कि आत्मा क्या है ?

प्रजापति ने बता दिया कि जल के पात्र में अपना-अपना प्रतिबिम्ब देखो। बस वही आत्मा है।

इसका अर्थ दोनों भिन्न-भिन्न समझे। विरोचन यह समझा कि प्रतिबिम्ब तो शरीरादि वस्त्राभूषणों का था। बस वही आत्मा अर्थात् परमात्मा है। अत: असुर शरीर की पूजा (सजाने) में लग गये।

इन्द्र को इससे सन्तोष नहीं हुआ। प्रजापति ने उसे कुछ और अधिक बता दिया। परन्तु उसे इस पर भी सन्तोष नहीं हुआ। वह कई बार प्रजापति के पास गया। अन्त में प्रजापति से परम सूक्ष्म बात उसे बता दी। प्रजापति ने कहा—

आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा प्रजापते···सभां वेश्म प्रपद्ये— (छा० ८-१४-१)

निश्चय से आकाश (निराकार परमात्मा) ही है जो नाम और रूपों (जगत् के पदार्थों) को (निर्वहिता) चलाने वाला है। (ते यदन्तरा तद्ब्रह्म) वे अर्थात् भिन्न-भिन्न नामों और रूपों वाली वस्तुएँ जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है। वह (अमृत) अक्षर है। वह (जो चलाने वाला है) आत्मा है। हम उस प्रजापति की सभा अर्थात् संगत में उपस्थित हों···

इस वाक्य से सब बात समझ में आ जाती है और यह अन्तिम बात है जो प्रजापति ने इन्द्र को बताई। इस बात को सुनकर इन्द्र को सन्तोष हो गया।

इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास आत्मा के विषय में जानने के लिए गए थे। प्रजापति ने बताने का यत्न किया, परन्तु इन्द्र की समझ में तब तक नहीं आया जबतक प्रजापति ने यह नहीं बता दिया कि पूर्ण जगत् ब्रह्म है और उसपर नियन्त्रण करने वाला आत्मा है।

अब उपनिषद् के उस अंश को देखें, जिसका उद्धरण श्री स्वामीजी ने दिया है। वह इस प्रकार है—

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः···

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी मन्त्र के अन्त में लिखा है—

स सर्वा ँश्च लोकानाप्नोति सर्वा ँश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच। (छा० ८-७-१)

इसका अर्थ है कि जो आत्मा पापरहित है, अजर, अमर है, शोकरहित है, क्षुधा तथा पिपासा रहित है…इत्यादि, जो आत्मा को जान लेता है, उसका साक्षात् कर लेता है; वह सब लोकों को और सारे मनोरथों को प्राप्त कर लेता है। ऐसा प्रजापति ने कहा है।

स्पष्ट है कि जो इस आत्मा (परमात्मा) को जान लेता है। कौन जान लेता है? ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न-भिन्न हैं और फिर सब लोकों और मनोरथों को प्राप्त कर लेता है तो लोक और मनोरथ भी भिन्न हैं।

यह निर्विवाद है कि ज्ञाता, ज्ञेय और लोक तीन पदार्थ हैं। प्रश्न केवल यह रह जाता है कि परमात्मा जिसे ज्ञेय का नाम दिया है केवल वह ही जानने योग्य है अथवा पूर्ण ब्रह्म (निमित्त कारण, उपादान कारण और जीव) सबकुछ जानने योग्य हैं। उल्लिखित उपनिषद् के प्रवक्ता का अभिप्राय है कि आत्मा (परमात्मा) जानने योग्य है। भाष्यकारों ने इसके साथ 'ही' शब्द अपने पास से लगा दिया है। उपनिषद् के शब्द हैं 'सोऽन्वेष्टव्यः' वह जानने योग्य है। इसके अतिरिक्त और 'कुछ नहीं'। यह यहाँ नहीं लिखा।

यह बात यजुर्वेद (४०-१४) में लिखी है कि विद्या और अविद्या दोनों को जानना चाहिए। अविद्या के ज्ञान से मृत्यु को पार किया जा सकता है और विद्या को जानने के लिए अमृत प्राप्त किया जा सकता है।

परन्तु सूत्रार्थों के साथ यह सब असंगत है। सूत्रार्थ तो यह है कि सर्वत्र प्रसिद्ध बात के कहने से (ब्र० सू० १-२-१) और (वह सर्वत्र प्रसिद्ध) उसके स्पष्ट दिखाई देने वाले गुणों से उपमेय होता है (सिद्ध होता है)।

वह सर्वत्र प्रसिद्ध पूर्ण दृश्य-अदृश्य जगत् है। इससे अधिक प्रसिद्ध और सिद्ध अन्य कुछ भी नहीं। सूत्रकार का अभिप्राय है कि मूल में परमात्मा, जीवात्मा और जड़ (प्रधान) तीनों प्रसिद्ध हैं। परन्तु…

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥३॥

अन्+उपपत्तेः+तु+न+शारीरः।

(कुछ गुण) अनुपस्थित होने से शरीर शरीरधारी नहीं है।

क्या नहीं है? इसी विषय में स्वामी शंकराचार्य और प्रायः भाष्यकार कहते हैं 'उपास्य नहीं है'। अभी तक के तीनों सूत्रों में उपास्य शब्द लाकर इस सूत्रों की संगति उपनिषद् से लगाने का यत्न किया गया है। यह अकारण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषद् का जो उद्धरण श्री स्वामी शंकराचार्य तथा अन्य भाष्यकारों ने दिया है, वह छान्दो० (८-७-१) का है और वहाँ उपासना शब्द नहीं है। वहाँ जानने योग्य आत्मा (परमात्मा) तो लिखा है, परन्तु केवल वह ही जानने योग्य है, ऐसा नहीं लिखा।

अतः हमारा मत है कि सूत्र में उपासना का अर्थ यदि जानने से लिया जाये तो इस सूत्र के अर्थ इस प्रकार बनते हैं—

कुछ गुणों की अनुपपत्ति (अनुपस्थित) होने से शरीरी नहीं है, (वह जिसमें वे गुण हैं)। अभिप्राय यह कि जो सर्वत्र प्रसिद्ध है उसके कुछ गुण शरीरी में न होने से वे उन गुणों वालों से पृथक् हैं। यहाँ जगत् में तीन पदार्थ की भिन्नता प्रकट कर दी है।

देखिए, सूत्र के उपरान्त सूत्र में कैसे संगति बैठती चली जाती है। प्रसिद्ध बात बताने से (प्रथम सूत्र) जो बात स्पष्ट गुणों से दिखाई देती है, (दूसरा सूत्र) कुछ गुण न होने से वह शरीरी नहीं है।

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥४॥

कर्म+कर्तृ+व्यपदेशात्+च।

और कर्म तथा कर्ता के (भिन्न-भिन्न) कहे जाने से।

कर्म है 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः' (भ० गी० ८-३) भूत (प्राणियों) के भाव (रूपादि) को उत्पन्न करने वाला और उनका विसर्ग (प्रलय) करने वाला कर्म है।

अभिप्राय यह कि जगत् का निर्माण, पालन और प्रलय कर्म है और इसके करने वाला कर्ता (परमात्मा) है।

(उपदेशात्) बताये जाने से।

अर्थात्—जो सूत्र ३ में लिखा है कि कुछ गुणों के अनुपस्थित होने से वह शरीरी नहीं है, जो उन गुणों के रखने वाला है। अब गुणों में भेद की ओर संकेत किया है। वह इस प्रकार से कि एक (जगत्) कर्म है, दूसरा (परमात्मा) कर्ता है। कार्य जगत् जिसमें प्राणी भी है, वह कर्म है और कर्ता परमात्मा है।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में क्रमवार परमात्मा और जीवात्मा में विलक्षणता का वर्णन किया गया है।

द्वितीय पाद के सूत्रों की व्याख्या में हमने प्रायः अन्य भाष्यकारों का बीच में उपासना को ले आने का खण्डन किया है। यहाँ परमात्मा और जीवात्मा में भेद प्रकट करते हुए कहा है कि कर्ता है परमात्मा। जीवात्मा कर्म का कर्ता नहीं। अर्थात् उस कर्म को करने में असमर्थ है, जिस कर्म की व्याख्या भगवद्गीता (८-३) में की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दविशेषात् ॥५॥

शब्द + विशेषात् ।

शब्द प्रमाण से भी परमात्मा और जीवात्मा में विशेषता से (भिन्नता बताई है) ।

उक्त चार सूत्रों में जगत्, उसमें परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति के विषय में और उनमें गुणों का भेद बताकर कह दिया है कि वेदादि शास्त्रों में भी ऐसा ही वर्णन किया हुआ है। क्या वर्णन किया है? यही कि परमात्मा जीवात्मा (शरीरी) से भिन्न है।

यहाँ शब्द प्रमाण के विषय में समझ लेना चाहिए। सामान्य रूप में शब्द प्रमाण से अभिप्राय है आप्त व्यक्ति का कथन। परन्तु कोई जन्म-मरण में फँसा हुआ व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता और उसके कथन में भूल हो सकती है। अतः शब्द प्रमाण का अर्थ सदा परमात्मा का कथन वेद ही लेना चाहिए।

सूत्र (ब्र० सू० १-२-१, २, ३, ४) में सिद्धान्त की बात कही है और फिर सूत्र संख्या पाँच में कह दिया है कि जो कुछ हमने ऊपर सिद्ध किया है, वह शब्द प्रमाण से भी सिद्ध होता है।

शब्द प्रमाण से हमारा अभिप्राय वेद प्रमाण ही है। उपनिषदादि ग्रन्थों को हम गौण प्रमाण मानते हैं। वे उस सीमा तक ही प्रमाण हैं जहाँ तक वे वेदानुकूल हैं।

अलंकारिक रूप में ऋ० १-१६४-२० में तो बताया ही है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। एक फलों को खाता है और दूसरा साक्षी मात्र है। इसी सूक्त का एक अन्य मन्त्र है —

न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

(ऋ० १-१६४-३७)

मन से सन्नद्ध हुआ (जन्म-जन्मान्तर में) चलने वाला मैं कौन हूँ, छुपा हुआ मैं नहीं जानता। जब मैं पहले ऋत् (ज्ञानकारण) इन्द्रियों से सम्बद्ध हुआ। इस वाणी के भोग अर्थात् सत्य ज्ञान को प्राप्त हूँ।

इससे अगले मन्त्र में उक्त संशय का उत्तर दिया है —

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यऽन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥

(१-१६४-३८)

वह (जीवात्मा) प्रकृति से संयुक्त होकर जन्म लेता है अर्थात् निकृष्ट योनियों अथवा उच्च योनियों में जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाश्वत अर्थात् आत्मा तथा नाशवान् अर्थात् देह इकट्ठे हो जाते हैं। (लोग) एक (देह) को जान लेते हैं और दूसरे आत्मा को नहीं जान पाते।

इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहाँ जीवात्मा और परमात्मा में भेद बताया गया है।

स्मृतेश्च ॥६॥

स्मृतेः+च।

और स्मृतियों में भी यही बात बताई गई है।

क्या बताई गई है ? यही कि जीवात्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं।

स्मृति से अभिप्राय मनुष्य-कृत ग्रन्थों से है। श्री स्वामी शंकराचार्य इस सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए भगवद्गीता का प्रमाण देते हैं।

प्रश्न है कि क्या स्पष्ट करने के लिए उद्धरण दिया है ? निस्सन्देह जो ऊपर के सूत्रों में कहा है। ऊपर के सूत्रों में कहा है कि प्रसिद्ध वस्तु की चर्चा से पता चलता है कि उसके गुण मूल पदार्थों के गुण हैं, परन्तु कुछ गुण शरीरी में नहीं पाये जाते। कर्म और कर्ता के गुण शरीरी (जीवात्मा) में नहीं हैं।

परन्तु स्वामीजी उदाहरण देते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(भ० गी० १८-६१)

सब प्राणियों के हृदय-देश में ईश्वर रहता है। सब प्राणी शरीर रूपी यन्त्र में बँधे हुए मेरी शक्ति से भ्रम में फँसे रहते हैं।

पूर्व के सूत्रों में कही बात से किंचिन्मात्र भी इसकी संगति नहीं।

आचार्य उदयवीर शास्त्री ने स्मृति में से निम्न प्रमाण दिया है—

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥ (मनु० ८-९१)

अर्थात्—न्यायाधीश साक्षी को कहता है कि हे भले आदमी, यदि तुम ऐसा मानते हो कि तुम अकेले थे जब तुमने पाप किया था, तुमको किसी ने देखा नहीं। यह ठीक नहीं। तुम्हारे हृदय में नित्य विराजमान परमात्मा पुण्य-पाप को देखता है।

इससे भी अधिक स्पष्ट मनुस्मृति का यह प्रमाण है—

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः॥
यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्ति विमुञ्चति॥

(मनु० १-५४, ५५, ५६)

अर्थात्—जब एकाएक प्रलय होती है तब उस परमात्मा में सब प्राणी लीन हो जाते हैं। तब सब प्राणियों की जीवात्मा संसार से निवृत्त होकर सुख से सोता है।

जब जीवात्मा चिरकाल तक इन्द्रियों के साथ तमोभूत रहने के उपरान्त अपना कर्म करना छोड़ देता है, तब यह शरीर में से निकल जाता है।

जब यह अणुमात्र होकर स्थावर अथवा चर प्राणियों के बीजों में प्रवेश करता है तब (नवीन) प्रकृति के सम्पर्क में आकर (पूर्व) देह को छोड़ देता है।

जीवात्मा का इन्द्रियों के भोग भोगते हुए थककर शरीर छोड़ना और फिर अणु रूप हो बीच में प्रवेश कर नये स्थावर अथवा चर प्राणी के शरीर में जाना तथा प्रलय के समय प्राणी के शरीर का तो परमात्मा में लीन हो जाना और जीवात्मा का सुखपूर्वक सोना, उसका परमात्मा से पृथकता का वर्णन ही है।

स्वामी शंकराचार्य एक उदाहरण देते हैं बृहदारण्यक उपनिषद् का (३-७-२३)। इसमें भी पूर्ण सातवाँ खण्ड देखें तो एक भिन्न ही बात दिखाई देगी।

बृहदारण्यक ३-७ के १ से २३ मन्त्र तक पढ़ें तो पता चलेगा कि यह परमात्मा के लिए नहीं लिखे। वहाँ कथा इस प्रकार है: एक बार अरुणी के पुत्र उद्दालक ने याज्ञवल्क्य मुनि को कहा कि क्या वह उस सूत्र के विषय में जानता है, जिससे पूर्ण जगत् संचालित होता है! यदि नहीं जानता तो वह ब्राह्मणों के लिए लाई गौओं को ले जाकर पाप करेगा। (३-७-१) याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह जानता है कि वह कौन-सा सूत्र है, जिससे जगत् संचालित हो रहा है।

याज्ञवल्क्य ने बताया कि सुनो, **'स होवाच वायुर्वै गौतम**···

हे गौतम! वह वायु है। (बृ० उ० ३-७-२)

वायु परमात्मा को उसी प्रकार कहते हैं कि जैसे आकाश परमात्मा को कहते हैं। आकाश परमात्मा नहीं, वह परमात्मा का लिंग है। यह हम ऊपर प्रथम पाद (सूत्र १-२-२२) की व्याख्या में बता चुके हैं। इसी प्रकार वायु परमात्मा नहीं। यह परमात्मा का लिंग है। यह परमात्मा की सामर्थ्य है, जैसे अग्नि है। इससे पूर्ण जगत् में गति सम्पन्न होती है। यह सामर्थ्य परमात्मा की है।

इसी को कहा है कि यह पृथिवी में है। पृथिवी से बाहर भी है, पृथिवी इसे नहीं जानती। पृथिवी इसका शरीर है। (बृहद० ३-७-३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों का नाम लेकर बताया है। यहाँ ध्यान देने के योग्य है कि पृथिवी, अपः, अग्निः, दिशा, सूर्य और भौतिक वायु है। (बृहद० ३-७-१ से १४ पर्यन्त)

प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यह लिखा है—

'यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।' इस पद से विभ्रम उत्पन्न हुआ है, परन्तु पूर्व के भाव को देखें तो भ्रम नहीं रहता। इस पद का अर्थ है कि (यमा इति एवं त आत्मान्तर्यामी अमृतः), यमा है यह जो अन्तर्यामी अमृत है। दो शब्द यहाँ विशेष आये हैं। यमा है संचालन करने वाला, चलाने वाला, नियन्त्रण करने वाला। अन्तर्यामी के अर्थ साधारण भाषा में आत्मा के लिये जाते हैं, परन्तु आत्मा इस कारण लिए जाते हैं कि वह भी भीतर से शरीर का संचालन और नियन्त्रण करता है। यहाँ वायु भी यही करती बतायी है। अतः इस स्थान पर अन्तर्यामी से अर्थ वायु है।

मोनियर विलिमय ने अन्तर्यामी के अर्थ 'soul' के अतिरिक्त यह भी लिखा है, 'Checking or regulating the internal feelings'.

अतः हमारा मत है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में एक तो यह लिखा है कि वायु वह सूत्र है, जिससे जगत् संचालित होता है। साथ ही यह भी लिखा है कि सब गतिशील पदार्थों में वायु है। वायु उनके बाहर भी है। वे पदार्थ वायु को नहीं देखते। वे वायु का शरीर हैं। अभिप्राय यह कि जगत् वायु नहीं। जगत् वायु से पृथक् है।

प्रत्येक मन्त्र के अन्त में लिखा है (यमा) वह जो जगत् का संचालन करती है, वही है जो तुम्हारा (उद्दालक का) भीतर से नियन्त्रण कर रही है। वह भीतर अक्षर है अथवा वायु अमर है। कुछ भी हो। यहाँ परमात्मा का उल्लेख नहीं।

इसी खण्ड के मन्त्र १४ के उपरान्त लिखा है, **'इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ।'**

अभिप्राय यह कि ३ से १४ तक तो देवताओं (अन्तरिक्ष के दिव्य पदार्थों के विषय में लिखा है और अब अधिभूतों (प्राणियों) के विषय में लिखेंगे।

प्राणी के विषय में भी वैसा ही लिखा है कि वायु उनमें है। वायु उनसे बाहर भी है। प्राणी उनको नहीं जानते। वह ही सामर्थ्य है जो प्राणी के भीतर बैठी हुई उसका संचालन करती है।

मन्त्र १५ के अन्त में लिखा है, **'इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ।'**

यह प्राणियों के विषय में लिखा है। अब अध्यात्म के विषय में लिखेंगे। अध्यात्म से अभिप्राय आत्म तत्त्व के विषय में है।

अब आगे (बृहद० ७-३-१६ से २३ मन्त्र तक) यह लिखा है प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, मन, बुद्धि और रेतस् सब वायु से संचालित हैं। इनसे बाहर भी हैं, इनके भीतर भी हैं। प्राण, वाक् इत्यादि वायु नहीं। ये वायु का शरीर हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक मन्त्र के अन्त में वही बात लिखी है कि यही संचालक वायु तुम्हारे अन्तर्यामी भीतर से संचालन एवं नियन्त्रण करने वाली है। वह अक्षर है।

उपनिषद् में ध्यान देने योग्य बात यह है कि सब वस्तुओं के बाहर और भीतर वायु का होना कहा गया है। इससे स्पष्ट ही है कि वायु और संसार की वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं।

वायु को अमर इस कारण कहा है कि जिसकी यह सामर्थ्य है, वह अमर है।

कुछ भी हो। यह निश्चय है कि सूत्रों में इस संचालन और नियन्त्रण करने वाले का उल्लेख नहीं। वहाँ कर्ता (ब्र० सू० १-२-४) को कर्म (जगत्) से भिन्नता प्रकट करने के लिए लिखा है।

उपासना का शब्द इसमें भी नहीं है। यह सामर्थ्य की बात इस एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी। एक मोटरगाड़ी है। उस मोटर को चलाने की शक्ति पैट्रोल की है। चलाने वाले चालक और मोटर से यह भिन्न है। न तो मोटर पैट्रोल है, न ही चालक। इसी प्रकार जगत् है। इसमें देवता हैं, प्राणी हैं और आत्मा हैं। ये तीनों वह शक्ति (वायु) नहीं, जो जगत् (देवता, प्राणी तथा भीतर से संचालन करने वाली) की सामर्थ्य है। जगत्-रूपी मोटर में ड्राइवर जीवात्मा का यहाँ उल्लेख नहीं। यहाँ पैट्रोल का वर्णन है।

इस उपनिषद् के पूर्ण उद्धरणों को देने से हमारा प्रयोजन यह है कि ऊपर का सूत्र इनके विषय में नहीं है। वे पृथक् हैं।

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥७॥

(अर्भकौकस्त्वात् + तत् + व्यपदेशात् + च + न + इति + चेत् + न + निचाय्यत्वात् + एवं व्योम वत् + च)

और बहुत छोटे से स्थान वाला होने और वैसा कहे जाने से नहीं। यदि ऐसा कहा जाता तो यह ठीक नहीं और निश्चय (साक्षात्कार) होने से इस प्रकार आकाशवत् है।

यहाँ पुनः आत्मा और परमात्मा में भेद प्रकट किया है। आत्मा हृदय की गुहा में रहता है। गुहा बहुत छोटा-सा स्थान है और परमात्मा, आकाश की भाँति सर्वव्यापक है। दोनों में अन्तर है।

जीवात्मा का प्रभाव शरीर से बाहर नहीं दिखायी देता और परमात्मा का प्रभाव सर्वत्र है। अतः दोनों भिन्न-भन्न हैं। परमात्मा आकाश की भाँति सर्वव्यापक है। दोनों का साक्षात्कार तो उस छोटे-से स्थान गुहा में ही होता है। परमात्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वत्र होने से वहाँ भी होता है और जीवात्मा केवल वहीं रहता है। इस कारण दोनों वहाँ सम्पर्क में रहते हैं।

यह भेद इस प्रकार प्रकट किया गया है।

बहुत छोटे से स्थान में होने वाला कहे जाने से वह (छोटा) नहीं। जीवात्मा भी उस छोटे-से स्थान में रहता है। वह छोटा है। दोनों में भेद यह है कि वह आकाशवत् व्यापक दिखायी देता है (परन्तु जीवात्मा का प्रभाव शरीर से बाहर नहीं। अतः वे एक-दूसरे से भिन्न हैं।)

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥८॥

संभोगप्राप्ति + इति + चेत् + न + वैशेष्यात् ॥

यदि कहो कि सम्भोग प्राप्ति है (तो) नहीं। (कारण) विशेष गुणों से।

जब यह निश्चय हुआ कि हृदय की गुहा में जीवात्मा और परमात्मा साथ-साथ रहते हैं तो स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि जीवात्मा जब भोग करता है तो क्या वह भोग परमात्मा को भी प्राप्त होता है? यदि यह कहें कि साथ-साथ होने से समान रूप में दोनों द्वारा भोग हो सकता है। इसपर सूत्रकार कहता है कि नहीं। ऐसा नहीं होता। कारण यह कि दोनों के गुणों में विशेषता है।

क्या विशेषता है?

एक अज्ञ है और दूसरा ज्ञानवान् है। (श्वेताश्वत० १-९)। अज्ञानी सांसारिक भोगों में लिप्त हो जाता है, परन्तु जो सर्वज्ञ है, वह लिप्त नहीं होता।

केवल उपनिषद् के कहने से ही नहीं, वरन् यह प्रत्यक्ष है कि प्राणी में जीवात्मा सर्वज्ञ नहीं। उसको न तो कुछ दूर भूत की, न ही कुछ भविष्य काल की बात का ज्ञान होता है और परमात्मा के विषय में तो यह मानना ही पड़ता है कि वह त्रिकालज्ञ है, अपार ज्ञान का स्वामी है।

दोनों में भेद का यह स्पष्ट वर्णन स्वाभाविक रूप में स्वामी शंकराचार्य को चिन्तित करने वाली बात है। स्वामीजी मानते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त जीव है ही नहीं। तो फिर जब जीवात्मा भोग प्राप्त करता है तो परमात्मा क्यों नहीं? दोनों में, स्वामीजी के कथनानुसार, भेद नहीं।

इसपर भी स्वामीजी ने इस सूत्र में टेढ़ी-मेढ़ी युक्तियाँ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

स्वामीजी पूर्व पक्ष लिखकर कि जब जीव और ब्रह्म एक ही हैं और ये परस्पर सान्निध्य में रहते हैं तो फिर एक का भोग दूसरे को भी प्राप्त होना चाहिए, इस पूर्व पक्ष का आप जो उत्तर देते हैं, वह बहुत विचित्र है। आप लिखते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"न; वैशेष्यात्। न तावत्सर्वप्राणिहृदयसंबन्धाच्चिद्रूपतया च शारीरवद्ब्रह्मणः संभोगप्रसङ्गः; वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्त्ता भोक्ता धर्माधर्मादिसाधनः सुख-दुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वदि-गुणः एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य।"

अर्थात्—पूर्व पक्ष को अस्वीकार करते हुए आप कहते हैं, परमात्मा भोग नहीं करता। अर्थात् अपनी विशेषताओं के कारण सब प्राणियों के हृदय में सम्बन्ध से और चैतन्य रूप होने से, जीव के समान ब्रह्म में भोग प्राप्ति नहीं। (अपनी-अपनी) विशेषता के होने से। शरीरी और परमेश्वर में वैशेष्य है ही। एक कर्ता है, भोक्ता है, धर्म-अधर्म में साधन है और सुख-दुःखादि वाला है। दूसरा पहले से विपरीत पाप इत्यादि से रहित गुणों वाला है। इस प्रकार दोनों में विशेषता होने से एक भोग करता है, दूसरा नहीं।

यह है स्वामीजी महाराज की युक्ति। एक कर्ता है, भोक्ता है, धर्म-अधर्म में साधन है और दूसरा इसके विपरीत है। इस कारण एक भोक्ता है और दूसरा नहीं। यह थोथी युक्ति स्वामीजी ने दी है।

हमारा यह कहना है कि जीवात्मा और परमात्मा का हृदय की गुहा में सान्निध्य होने पर दोनों के कर्म समान नहीं; क्योंकि दोनों के गुणों में भिन्नता है। एक अज्ञानी है और दूसरा ज्ञानवान् है। व्यर्थ और हानिकर बातों को करना तथा वस्तुओं का भोग करना अज्ञान के लक्षण हैं।

स्वामीजी इस बात का भास तो करते हैं कि जीवात्मा अज्ञानी होने से भोग में फँस जाता है, परन्तु जीव और ब्रह्म को एक मान लेने के उपरान्त वे एक को ज्ञान-वान् और दूसरे को अज्ञानी नहीं मान सके। परस्पर-विरोधी गुण एक ही पदार्थ में नहीं हो सकते। अतः आपने एक अन्य विशेषण घड़ा है। आप लिखते हैं—

अथागृहीतं शारीरस्य ब्रह्मणैकत्वं, तदा मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्यो-पभोगः।

अब शरीरी का ब्रह्मा के साथ एकत्व अस्वीकार किया है तो मिथ्या ज्ञान के कारण शरीरी की भोग प्रवृत्ति है।

भला मिथ्या ज्ञान और अज्ञान में क्या अन्तर है? एक सर्वज्ञ मिथ्या ज्ञानी क्यों हो गया? क्या (स्वामीजी की मान्यता के अनुसार) एक-दूसरे की उपज नहीं हैं? सर्वज्ञ को मिथ्या ज्ञान नहीं होना चाहिए। वास्तव में यह मिथ्या पक्ष को सिद्ध करने का असफल प्रयास ही है।

आकाश कड़ाही के तल की भाँति गोल दिखाई देता है। यह ठीक है, परन्तु इसको ऐसा मानता तो वही है जो अज्ञानी है। पूर्ण ज्ञान रखने वाला जान जायेगा कि आकाश की गोलाई नहीं, वरन् यह उसकी दृष्टि की सीमा है जो आकाश को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा दिखा रही है। बालक की भाँति अज्ञानी ही इस मिथ्या भाग को सत्य स्वीकार करेंगे। प्रश्न यह है कि ज्ञानी मिथ्या ज्ञानी हुआ कैसे ?

अतः जीवात्मा अज्ञानी है और वह परमात्मा से भिन्न है जो सर्वज्ञ है। इसी कारण संसार का यह भोग करता है और परमात्मा नहीं करता।

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥९॥

अत्ता + चराचर + ग्रहणात्।

चर और अचर को खा जाने वाला होने से (परमात्मा में विशेषता है)।

चर और अचर (स्थावर और जंगम) प्राणियों के जीवन को समाप्त करने वाला परमात्मा ही है, जीवात्मा नहीं। यह सूत्र भी दोनों में भेद बताता है।

अत्ता का अर्थ खा जाने वाला, जैसे रोटी खाने वाला ग्रास-ग्रास कर खाता है, वैसे ही चराचर पदार्थों की आयु थोड़ी-थोड़ी कर समाप्त की जाती है। प्राणी का जीवन क्यों समाप्त होता है ? शरीर में घिसाई (wear and tear) होती है। वह उसके करने से होती है, जिसने शरीर में चलने की शक्ति उत्पन्न की है। यह वायु, जो परमात्मा का लिंग है, के कारण है। अतः जिसने चलने की सामर्थ्य दी है, उसने ही घिसाई बनाई है।

जीवात्मा यह चाहता है कि उसका शरीर सदैव चलता रहे। अपनी सामर्थ्यानुसार वह इसे चालू रखने का यत्न भी करता है, परन्तु अन्त में शरीर वृद्धता को प्राप्त होता है और वह समाप्त हो जाता है। यही अर्थ है खाये जाने का।

स्थावर-जंगम प्राणियों को खा जाने वाला ईश्वर है; जीवात्मा नहीं। यह बात भी दोनों में भेद बताती है। जीवात्मा शरीर में भोग करता हुआ सदा के लिए बना रहना चाहता है, परन्तु कोई उच्च स्तर की शक्ति है जिसने शरीर निर्माण किया था और वह ही इसमें ह्रास उत्पन्न कर रहा है। यह परमात्मा है। अतः दोनों में भेद है।

प्रायः भाष्यकारों ने यह अपना धर्म समझ रखा है कि प्रत्येक सूत्र की व्याख्या में किसी उपनिषद् के वाक्य का उद्धरण दें। यह बात ठीक होते हुए भी व्यर्थ है। उक्त युक्ति और संसार के अनुभव की विद्यमानता में उपनिषद् वाक्यों के प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। सूत्रार्थ प्रकट करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं। हाँ, वेदान्त-वाक्यों की महिमा गान करने के लिए कि वे सर्वथा युक्ति-युक्त होते हुए सत्य का निरूपण करते हैं, वेदान्त-वाक्यों का उल्लेख समझ में आ सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकरणाच्च ॥१०॥

प्रकरणात्+च ।

और प्रकरण से भी यही पता चलता हैं (कि परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है) ।

किस प्रकरण से ? जो चल रहा है ।

प्रकरण का अर्थ है पूर्वापर की संगति । यहाँ प्रकरण से अभिप्राय है कि इसी दर्शन में जो कुछ ऊपर लिखा गया है और जो कुछ आगे लिखा जाने वाला है ।

स्वामी ब्रह्म मुनि इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

'यहाँ प्रकरण परमात्मा के भोक्ता होने का नहीं है, किन्तु उसकी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए उसका जानना (प्राप्त करना) चल रहा है ।' यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती ।

अभिप्राय यह कि जीवात्मा की तुलना में परमात्मा की सामर्थ्य का उल्लेख सूत्रों में आ रहा है । यही प्रकरण है और इससे पता चलता है कि दोनों में भेद है ।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥११॥

गुहां+प्रविष्टौ+आत्मानौ+हि+तद्+दर्शनात् ।

गुहा में दो आत्मा प्रविष्ट हुओं के दर्शन करने से (यह पता चलता है कि दोनों में अन्तर है) ।

जहाँ तक सूत्र का सम्बन्ध है किसी प्रकार का विवाद नहीं, परन्तु शंकराचार्यजी तथा उनकी परिपाटी के लोग अपना कर्तव्य बना बैठे हैं कि सूत्र के सरल-सीधे अर्थों को स्पष्ट करने के लिए किसी उपनिषद् वाक्य का उद्धरण दें । उन उद्धरणों के देने से उपनिषद् वाक्य स्पष्ट होते हैं अथवा नहीं होते, हाँ ! सूत्रार्थों में भ्रम अवश्य पड़ जाता है ।

इस सूत्र के भाष्य में यही बात हुई है । सूत्र के अर्थ तो स्पष्ट हैं कि गुहा में दो आत्माओं के प्रविष्ट हुओं के दर्शन से परमात्मा और जीवात्मा में भेद प्रकट हो जायेगा ।

परन्तु स्वभावानुसार उक्त सूत्र के भाव से मिलता-जुलता कठोपनिषद् का एक मन्त्र दे दिया है । मन्त्र है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

(कठो० १-३-१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस मन्त्र के अर्थ हैं—(ऋतं) सत्य को (पिबन्तौ) पान करते हुए (सुकृतस्य लोके) सुकृतों से प्राप्त लोक (मानव देह) में (गुहां प्रविष्टौ) गुहा में प्रविष्ट हुए (परमे परार्धे) उच्च स्थान पर (छायातपौ) धूप और छाया के समान विद्यमान हैं। ऐसा ब्रह्मवादी पंच कर्म करने वाले गृहस्थी और (त्रिणाचिकेता) अखण्ड ब्रह्म का पालन करने वाले कहते हैं।

यह मन्त्र जिस प्रकार प्रकरण में आया है, वह ब्रह्मसूत्रों का प्रकरण नहीं। ब्रह्मसूत्र तो शुद्ध वैज्ञानिक एवं दार्शनिक (philosophical) दृष्टि से लिखे गये हैं। सूत्रकार तो एक-एक अक्षर विचारकर लिख रहा है। परन्तु उपनिषद् भक्ति-भाव से उत्प्लावित हो मनोद्‌गारों के बहते हुए वाक्य हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उपनिषद् की भाषा उतनी स्थिर और निश्चित अर्थयुक्त न हो, जितनी कि सूत्र की है।

यही बात इस मन्त्र में दिखाई देती है। स्वामी शंकराचार्यजी इस मन्त्र की भाषा की शिथिलता प्रकट करने में पूर्व पक्ष उपस्थित करते हैं। पूर्व पक्ष वाले के मन में जो संशय उत्पन्न होता है, उसका भी वर्णन किया है।

संशय यह है कि (१) गुहा का क्या अर्थ है ? यह कहाँ है ? गुहा का अर्थ शरीर है अथवा शरीर में कोई स्थान है ?

(२) दो कौन हैं ? मन्त्र में आत्मानौ शब्द नहीं। अभिप्राय यह कि ये दो आत्मा हैं, संदिग्ध है।

(३) ऋतं पिबन्तौ के अर्थ सत्य कृत्यों का पान करने वाले अर्थात् अच्छे कर्मों का फल भोगने वाले हैं। अतः इन दो में एक परमात्मा नहीं हो सकता।

(४) सुकृतस्य लोके—अच्छे कर्मों से प्राप्त लोक में। यह विशेषण भी परमात्मा का नहीं हो सकता।

(५) छाया और आतप से एक चेतन और दूसरा अचेतन लेना चाहिए। अतः दोनों आत्मा नहीं हो सकते।

ये सब शंकायें श्री स्वामीजी ने इस ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित की हैं। साथ ही पूर्व पक्ष यह दिया है कि ये दो जीवात्मा और परमात्मा नहीं हो सकते, वरन् ये बुद्धि और जीव हैं।

स्वामी शंकराचार्य ने इन संशयों का उत्तर अपनी युक्ति से शिथिल ढंग से दिया है। एक बात स्वामीजी ने भी की है कि इस मन्त्र में दो को जीवात्मा और परमात्मा ही माना है। आप लिखते हैं—

एवं प्राप्ते ब्रूम—विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्येयाताम्।

अर्थात्—ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं कि (इस प्रसंग में) जीवात्मा और आत्मा दोनों यहाँ कहने चाहिए।

यह ठीक है कि स्वामीजी जीव का अर्थ विज्ञानात्मा कहते हैं। विज्ञानात्मा से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका अभिप्राय परमात्मा का वह अंश है जो बुद्धि से लिप्त हो जाता है। इस विषय पर किसी अन्य स्थान पर लिखेंगे कि परमात्मा बुद्धि से लिप्त होकर जीव की संज्ञा में आ जाता है अथवा जीव परमात्मा से भिन्न है। इतना स्पष्ट है कि स्वामीजी गुहा में दो प्रविष्ट हुओं को जीव और परमात्मा मानते हैं।

यह नहीं कि हम उपनिषद् (कठो० १-३-१) को आत्मा और जीवात्मा के विषय में नहीं मानते। हमारा यह कहना है कि उपनिषद् वाक्य सूत्र के समर्थन में ठीक उद्धरण नहीं है।

सूत्र उपनिषद् वाक्य से अधिक स्पष्ट है। वहाँ दो आत्माओं का उल्लेख है। गुहा में प्रविष्ट हुओं का उल्लेख है और उनके दर्शन से सूत्रकार के विषय के प्रकरण का उल्लेख है।

विशेषणाच्च ॥१२॥

विशेषणात् +-च।

और विशेषण से। (स्पष्ट होता है।)

विशेषण से क्या स्पष्ट होता है? जो ऊपर के सूत्र (१-२-११) में कहा है।

हम यहाँ कुछ व्याख्या से विवेचना करना चाहते हैं। यह इस कारण कि इन सूत्रों से ही स्वामी शंकराचार्य अपने अद्वैतवाद की पुष्टि करते हैं।

स्वामीजी, जैसाकि हमने ऊपर बताया है, गुहा में दो आत्म तत्त्वों की उपस्थिति तो मानते हैं, परन्तु एक को ब्रह्म कहते हैं और दूसरे को विज्ञानात्मा अर्थात् बुद्धि। हमने पूर्व सूत्र (१-२-११) के भाष्य में स्पष्ट किया है कि वेद प्रमाण से दो आत्म तत्त्व, जीवात्मा और परमात्मा ही हैं। ऋग्वेद (१-१६४-२०) में 'द्वा सुपर्णा' परमात्मा और जीवात्मा को ही कहा है। जीवात्मा को वृक्ष के फल खाता प्रकट किया है, बुद्धि नहीं खाती, यह स्वाद लेती है परन्तु किसी दूसरे के लिए। यदि दूसरा केवल परमात्मा ही मानें तो बुद्धि परमात्मा के लिए वृक्ष के फलों का स्वाद लेता सिद्ध हो जायेगा और वेद ऐसा नहीं मानता।

बुद्धि अपने लिए कार्य नहीं करती, यह किसी दूसरे के लिए कार्य करती है। वह दूसरा ही आत्म तत्त्व जीवात्मा है।

अतः इस सूत्र का अर्थ बनता है कि दो आत्म तत्त्व अपने गुणों से स्पष्ट हैं। जीवात्मा और परमात्मा हृदय की गुहा में जो उपस्थित हैं वे दो हैं, एक नहीं। यही बात विशेषणों से विदित होती है।

विज्ञानात्मा और जीवात्मा की समानता और अन्तर में कोई प्रमाण नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया। विज्ञानात्मा का अभिप्राय बुद्धि है परन्तु यह शब्द जीवात्मा के स्थान पर नहीं है।

अगला सूत्र है—

अन्तर उपपत्तेः ॥१३॥

अन्तर+उपपत्ते।

अन्तर भेद युक्ति से है।

सूत्र १-२-१२ में तो कहा है कि दो हैं और यह विशेषणों से स्पष्ट होता है। और इस सूत्र (१-२-१३) में कह दिया है युक्ति से भी दोनों में भेद है। युक्ति क्या है? मनुष्य के शरीर में दो प्रकार के कार्य हो रहे हैं। एक प्रकार के कार्य हैं जो मनुष्य के अधीन हैं। जैसे हाथ-पाँव का हिलाना। मनुष्य चाहे तो इनसे काम ले सकता है और यदि न चाहे तो नहीं भी ले सकता।

परन्तु मनुष्य में कुछ अन्य भी कार्य हैं जो उसके नियन्त्रण में नहीं हैं। वह उनको रोकना चाहे तो भी रोक नहीं सकता। उदाहरण के रूप में हृदय की गति है। साँस का लेना है। रक्त संचालन अथवा भोजन का गले से नीचे से चलकर गुहा तक पहुँचना है। ये कार्य मनुष्य के अधीन नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि शरीर में दो आत्म तत्त्व कार्य कर रहे हैं।

इस युक्ति से भी स्पष्ट है कि हृदय की गुहा में दो आत्म तत्त्व स्थित हैं।

अगला सूत्र है—

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥

स्थानादि+व्यपदेशात्+च।

और स्थान इत्यादि के कहे जाने से।

दोनों आत्माओं के स्थान के विषय में अन्तर है। एक सर्वव्यापक है और दूसरा केवल शरीर में ही स्थित है। जो सर्वव्यापक है, वह परमात्मा है परन्तु जीवात्मा शरीर शरीर में भिन्न-भिन्न हैं।

मनुष्य में हृदय की गति परमात्मा के अधीन कार्य है। सब मनुष्यों में इसकी गति समान है। एक मिनट में ७२ बार होती है। थोड़ा-बहुत अन्तर होता है वह शरीर की अवस्था के कारण है। परन्तु जो हाथ-पाँव हिलाने वाली शक्ति है वह तो मनुष्य मनुष्य में सर्वथा भिन्न-भिन्न है। यदि एक मनुष्य रहा है तो दूसरा बैठा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है। कोई पूर्व को जा रहा है तो दूसरा पश्चिम को। कोई रोटी खा रहा है तो दूसरा दूध पी रहा है।

इस प्रकार शरीर में दो प्रकार के कार्य दो आत्म तत्त्वों से होते हैं।

जीवात्मा के कार्य भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न प्रकार और समय पर होते हैं। परन्तु परमात्मा के कार्य सब शरीरों में समान रूप से होते हैं। यह है अर्थ दोनों में स्थान भेद का।

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥१५॥

सुखविशिष्ट+अभिधानात्+एव+च।

सुख विशेष के कथन से भी यही प्रकट होता है।

प्रकट यह होता है कि हृदय की गुहा में दो आत्म तत्त्व हैं।

सुख विशेष का अभिप्राय है कि जब इन दोनों आत्म तत्त्वों में संयोग हो जाता है तो विशेष सुख प्राप्त होता है।

उदाहरण के रूप में शरीर की गतियाँ जो मनुष्य के अपने अधीन नहीं हैं, यदि ये सुचारु रूप से चलती रहें तो आत्मा को विशेष सुख प्राप्त होता है।

यहाँ सुख विशेष से आनन्द की प्राप्ति जो मुक्तावस्था में होती है उसका वर्णन नहीं है। यहाँ परमात्मा के शरीर संचालन में पूरा-पूरा सहयोग देने से जीवात्मा को जो विशेष सुख प्राप्त होता है उस सुख से ही अभिप्राय है।

कहा जा सकता है कि यह सुख बुद्धि को प्राप्त होता है। परन्तु बुद्धि तो जड़ है, उसे सुख-दुःख से कुछ भी सरोकार नहीं हो सकता। अतः दोनों आत्म तत्त्वों से ही अभिप्राय है।

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१६॥

श्रुतोपनिषत्क+गति+अभिधानात्+च।

और वेद तथा उपनिषद् के ज्ञाता के व्यवहार के कहे जाने से होती है।

वेद और उपनिषद् में हृदय की गुहा में दो आत्म तत्त्वों के होने की बात कही है। उपनिषद् (कठ० १-३-१) का उदाहरण ऊपर दिया है। वेद का उदाहरण है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥१॥

(ऋ० १-१६४-१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिप्राय है—सुन्दर वृद्धता को प्राप्त होने वाले शरीर में दो आत्म तत्त्व हैं। एक भोग भोगता है और दूसरा इन दोनों की रक्षा और पालन करता है।

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥१७॥

अनवस्थितेः+असम्भवात्+च+न+इतरः।

और (शरीर में सर्वत्र) होना असम्भव होने से यह दूसरा नहीं।

इस सूत्र में दो बातें समझने की हैं। एक तो 'इतरः' से अभिप्राय जीवात्मा से है। यह परमात्मा से दूसरा है। यह पूर्ण शरीर में उपस्थित नहीं। और परमात्मा का कार्य पूर्ण शरीर में होता।

जीवात्मा के उन अंगों का, जो इसके अधीन कार्य करते हैं सम्बन्ध मस्तिष्क से शिराओं (nurves) से बना होता है। हाथ, पाँवादि, कर्मेन्द्रियाँ और आँख, नाक, कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ जीवात्मा से सम्बन्ध रखती हैं। इन शिरा तन्तुओं के द्वारा। इनका nurves कहते हैं। परन्तु वे कलायें जो परमात्मा के प्रभाव के अधीन कार्य करती हैं उनका सम्बन्ध किसी शिरा इत्यादि के द्वारा मस्तिष्क से नहीं है। हृदय है, फुसफुस है, आँतों के भोजन की गति है। ये किसी प्रकार की शिराओं से कार्य नहीं करते।

यह अभिप्राय है इस सूत्र का।

जीवात्मा का सम्बन्ध इन्द्रियों से है शिराओं के द्वारा। यह इस कारण कि यह (जीवात्मा) अणु मात्र है। शरीर में व्यापक नहीं और परमात्मा व्योम में व्यापक होने से शरीर के प्रत्येक अंग में भी हैं। इस कारण यह शरीर में बिना शिराओं के कार्य करता प्रतीत होता है।

जो परमात्मा के कार्य शरीर में हो रहे हैं वे जीवात्मा द्वारा नहीं हो रहे। क्योंकि वह शरीर में सर्वत्र नहीं है।

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥१८॥

अन्तर्यामी+अधिदेवादिषु+तत्+धर्म+व्यपदेशात्।

अधि देवादि में अन्तर्यामी है। उन धर्मों के वहाँ कहे जाने से।

ऊपर के सूत्र में बताया है कि जीवात्मा शरीर में भी सर्वत्र नहीं है। परन्तु परमात्मा तो व्योम में सर्वत्र है। देवताओं का भी भीतर से नियमन करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कारण वह आत्म तत्त्व जो बिना सम्बन्ध के शरीर में कार्य कर रहे हैं, वह सर्वव्यापक होने से देवताओं को भी भीतर से संचालित करता है।

जैसे देवताओं को भीतर से नियमित करता है वैसे ही शरीर में भी हृदयादि अंगों को बिना प्रत्यक्ष सम्बन्ध के चलाता है।

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥१६॥

न+च+स्मार्तम्+अतत्+धर्माभिलापात्।

और यह मन नहीं है। धर्मों के कथन से।

स्मार्त शरीर के उस यन्त्र को मन अथवा मस्तिष्क कहते हैं जो स्मरण रखता है। सूत्रकार कह रहा है कि यह दूसरा भी नहीं है। क्योंकि उसके गुणों में इसके गुणों में अन्तर कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि शरीर की गुहा में जो दो हैं उनमें एक तो परमात्मा है और दूसरा मन नहीं। यह जीवात्मा है। गुण कहे जाने से पता चलता है। आत्म तत्त्व में ईक्षण करने की शक्ति है। कार्य को आरम्भ करने, चलाने और फिर बन्द करने की सामर्थ्य मन में नहीं है। मन केवल मात्र ज्ञान का संचय और कल्पना करता है। कार्य करने की सामर्थ्य जीवात्मा में ही है।

परमात्मा का कार्यक्षेत्र पूर्ण विश्व है और जीवात्मा का कार्यक्षेत्र केवल शरीर है। वह भी केवल वह शरीर जिसमें वह बैठा है।

स्वामी शंकराचार्य ने इस दूसरे को विज्ञानात्मा कहकर बुद्धि का नाम दिया है। यह शब्द यहाँ प्रयोक्त नहीं हुआ। साथ बुद्धि की शास्त्रोक्त कल्पना यह है कि यह परामर्शदाता है, कार्यकर्ता नहीं और इन सूत्रों से पता चलता है कि दूसरा कार्य कौन करता है।

भगवद्गीता में कहा है—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

(भ० गी० ३-४३)

अतः बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा को जानकर अपनी इन्द्रियों को वश में करें। यहाँ बुद्धि से आत्मा को श्रेष्ठ माना है। अतः पृथक् है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।।२०।।

शरीरः+च+उभयं+अ पि +हि+भेदेन+एनम्+अधीयंते ।

मन और शरीर (जीवात्मा) दोनों भी (नहीं परमात्मा) भेद उपस्थित होने से।

इस सूत्र में 'नहीं हैं' शब्द नहीं लिखे। क्योंकि पूर्व सूत्र की युक्ति ही चल रही है; इस कारण उस सूत्र का 'न' इसमें भी प्रयुक्त समझना चाहिए। उस सूत्र में कहा है कि स्मृति-यन्त्र अन्तर्यामी नहीं है। अब यह कहा है कि स्मृति-यन्त्र और जीवात्मा दोनों भी नहीं (वह शक्ति जो परमात्मा की कही गई है)।

जीवात्मा उस शक्ति का स्वामी नहीं, जिससे प्राणी की इन्द्रियाँ इत्यादि काम करती हैं। यह शक्ति परमात्मा की ही है। जीवात्मा भोगकर्ता है। भोग करने में शक्ति तो परमात्मा की ही है। हमने मोटर, पैट्रोल और ड्राइवर का उदाहरण दिया है।

यहाँ वही युक्ति दी जा सकती है जो हम ऊपर के दो सूत्रों में दे आये हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री 'उभयेऽपि' का अर्थ करते हैं कि वेदों की दोनों शाखाओं में जीवात्मा और परमात्मा का भेद वर्णन किया है। यह अर्थ असंगत नहीं है। स्वामी शंकराचार्य भी यही मानते हैं। इसपर भी हमारा मत है कि क्योंकि सूत्र १९ और २० सम्बन्धित हैं, इस कारण 'उभये' से अभिप्राय स्मृति-यन्त्र और शरीरी (दोनों) से है। यहाँ वेद की शाखा श्री उदयवीर शास्त्री द्वारा ले आने से भ्रम ही उत्पन्न होता है।

इन्द्रियों में और शरीरी में कार्य करने की शक्ति न तो स्मृति-यन्त्र (मन) की है और न ही जीवात्मा की। शक्ति ईश्वर की है। जीवात्मा उस शक्ति का प्रयोग करता है और मन जीवात्मा के प्रयोग में सहायक मात्र है। सूत्र के अर्थ हैं 'और शरीरी (जीवात्मा) तथा स्मृति-यन्त्र दोनों ही भेद से हैं।' इसको कहते हैं कि शरीर में कार्य करने की शक्ति परमात्मा की है।

इस स्थान पर स्वामी शंकराचार्य ने यह पक्ष, कि जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है, उठाया है। यद्यपि इस प्रश्न का सूत्र के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है; इसपर भी यह प्रश्न सूत्र के भाव से उत्पन्न हो सकता है। स्वामी शंकराचार्य इसको इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम्। कथं पुनरेकस्मिन्देहे द्वौ द्रष्टारावुपपद्येते ? यश्चायमीश्वरोऽन्तर्यामी, यश्चायमितरः शारीरः। का पुनरिहानुपपत्तिः ? 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवचनं विरुध्येत। अत्र हि प्रकृतादन्तर्यामिणोऽन्यं द्रष्टारं, श्रोतारं, मन्तारं, विज्ञातारं चात्मानं प्रतिषेधति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर से भिन्न अन्तर्यामी ईश्वर है। यदि यह है तो इस देह में दो द्रष्टा कैसे विद्यमान हो सकते हैं ? एक ईश्वर अन्तर्यामी और दूसरा शरीर का स्वामी जीव। इसमें अनुपपत्ति क्या है ? द्रष्टा (ईश्वर से) भिन्न नहीं। इस श्रुति वचन के विपरीत होगा। यहाँ (श्रुति में) प्रकृति (शरीर) के भीतर अन्तर्यामी के अतिरिक्त देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला, विज्ञाता आत्मा का विरोध किया है।

यह स्वामीजी ने पूर्व पक्ष दिया है। वह यह कि यदि द्रष्टा ईश्वर से जीव को भिन्न मानें तो श्रुति-विपरीत हो जायेगा; क्योंकि वहाँ शरीर के भीतर अन्तर्यामी के अतिरिक्त देखने, सुनने वाले का विरोध है। इसका उत्तर स्वामीजी इस प्रकार देते हैं—

···नियन्त्रन्तरप्रतिषेधार्थमेतद्वचनमिति चेत्—नः; नियन्त्रन्तराप्रसङ्गाद-विशेषश्रवणाच्च। अत्रोच्यते···अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। एको हि प्रत्यगात्मा भवति; न द्वौ प्रत्यगात्मानौ संभवतः। एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति। ततश्च ज्ञातृज्ञेयादिभेदश्रुतयः प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि संसारानुभवो विधिप्रतिषेधशास्त्रं चेति सर्वमेतदुपपद्यते। तथा च श्रुति—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यविद्याविषये सर्वं व्यवहारं दर्शयति। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इति विद्याविषये सर्वंव्यवहारं वारयति।

अर्थात्—नियन्त्रण से किसी दूसरे के प्रतिबन्ध का कथन है। यदि ऐसा कहें तो नहीं; क्योंकि यहाँ दूसरे नियन्ता का प्रसंग नहीं और किसी विशेष का श्रवण भी नहीं। यहाँ अविद्या से प्रस्थापित कार्य-कारण के निमित्त से शरीर के भीतर अन्तर्यामी से भेद कहा है। यह पारमार्थिक नहीं। वस्तुतः प्रत्यगात्मा एक ही है। दो प्रत्यगात्मा सम्भव नहीं। एक में ही भेद व्यवहार उपाधिकृत है। जैसे घट का आकाश और महाकाश और इससे ज्ञाता-ज्ञेय इत्यादि भेद श्रुति में, प्रत्यक्ष प्रमाण में, संसार अनुभव में, विधि प्रमिषेध शास्त्र में यह सब उपपन्न है। और श्रुति है 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पृश्यति' यह अविद्या विषय में सब व्यवहारों को दिखाती है और 'यत्र त्वस्य सर्व' यह श्रुति विद्या विषय में सब व्यवहार का निषेध करती है।

इस लम्बे उद्धरण को देने का कारण यह है कि स्वामी शंकराचार्य की कल्पना का पूर्ण उल्लेख इसमें आया है और हम उसका थोथापन यहाँ प्रकट करना चाहते हैं।

स्वामीजी ने जो पूर्व पक्ष उठाया है, वह संशय हो सकता है। यह पूर्व पक्ष इस प्रकार है कि जो ब्रह्मसूत्र (१-२-१८, १९, २०) में यह कहा गया है कि देवताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भीतर से नियमन करने वाला उसके धर्मों के उपदेश से वह (परमात्मा) है, वह प्राणी में स्मृति यन्त्र नहीं और न ही दूसरा (जीवात्मा) है।

इन सूत्रों से पूर्व-पक्षी कहता है कि यदि यह बात है तो जीव की उपस्थिति, जो शरीर का स्वामी माना जाता है, की क्या आवश्यकता है ? स्वामीजी कहते हैं कि शरीर के स्वामी (नियन्ता) से किसी दूसरे का अभिप्राय यदि है तो यह नहीं।

अर्थात् स्वामीजी पूर्व पक्ष को उपस्थित कर यह मान गये हैं कि नियन्त्रण करने वाला और स्वामी एक ही है। अर्थात् (अपने पुराने उदाहरण में) मोटर में पेट्रोल और ड्राइवर एक ही हैं।

स्वामीजी पूर्व पक्ष का उत्तर नहीं जानते थे। इसी कारण मान गये हैं और अपने मानने को सिद्ध करने के लिए आगे युक्ति और प्रमाण देते हैं। हम पहले स्वामीजी की अपने पक्ष की सफाई को देखेंगे; बाद में पूर्व पक्ष का अपना उत्तर देंगे।

स्वामीजी कहते हैं कि उपनिषद् वाक्यों में जहाँ नियमन करने वाला परमात्मा माना है, वहाँ किसी दूसरे नियन्ता का प्रसंग नहीं।

यह बात स्वामीजी ने उपनिषद् के अर्थ को न समझते हुए ही कही है। यद्यपि हम ऊपर बता आये हैं, परन्तु इस स्थान पर उसका संकेत कर देना चाहते हैं कि स्वामीजी उपनिषद् का अर्थ ठीक नहीं कर रहे। स्वामीजी का आशय (बृ० उ० ३-७) से है। वैसे तो बार-बार इन मन्त्रों में एक बात प्रकट की गई है। हम एक मन्त्र को ही लेकर स्पष्ट करेंगे। मन्त्र है—

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳ शरीरं, यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। (बृ० ३-७-२२)

जगत् के तथा प्राणी के भिन्न-भिन्न पदार्थों को लेकर यही बात कही गई है जो उक्त मन्त्र में विज्ञान के विषय में है।

विज्ञान का अर्थ बुद्धि है। यह कहा है जो बुद्धि में रहता हुआ बुद्धि से बाहर भी है, जिसे विज्ञान (बुद्धि) नहीं जानता, जिसका शरीर बुद्धि है, जो विज्ञान (बुद्धि) को भीतर से नियमन करता है, वह तुम्हारे आत्मा (जीवात्मा) में अन्तर्यामी अमृत (परमात्मा) है।

यहाँ आत्मा (जीवात्मा) को अमृत (परमात्मा) से भिन्न बताया है। शब्द है त+आत्मा+अन्तः+यामी+अमृतः। वह जीवात्मा के भीतर यामी (नियन्त्रण करने वाला) अमृत है।

कहीं किसी उपनिषद् में परमात्मा का ही उल्लेख हो सकता है और आत्मा का नहीं, परन्तु किसी के उल्लेख न होने से उसका अस्तित्व ही नहीं है, कहना अज्ञानता है।

इसके आगे स्वामीजी उक्त उद्धरण में कहते हैं कि अविद्या के कारण दो प्रत्यगात्मा दिखाई देते हैं। वास्तव में दो हैं नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कथन मात्र है। यह शास्त्र में कहीं नहीं मिलता कि एक के दो दिखाई देते हैं। ठीक तो यह होगा कि अविद्या के कारण दो के एक दिखाई देते हैं। दो कैसे हैं, यह हम आगे चलकर बतायेंगे। युक्ति और प्रमाण दोनों देंगे। परन्तु केवल कथन से, विद्या-अविद्या से क्या दिखाई देता है इसका निश्चय नहीं हो सकता।

स्वामीजी कहते हैं कि एक में ही व्यवहार भेद से भेद दिखाई देता है जैसे घटाकाश और महाकाश।

यह मिथ्या युक्ति है और मिथ्या वक्तव्य है। घड़े में आकाश और घड़े से बाहर के आकाश के व्यवहार में क्या अन्तर है? एक दूसरे का भाग है। यह स्पष्ट है कि दोनों के व्यवहार में कुछ भी अन्तर नहीं।

यह इस प्रकार है कि जैसे एक घड़े में जल भरा हो, उस जल में से एक गिलास में जल ले लें तो घड़े में जल के आकार और गिलास में जल के आकार में भेद हो जायेगा। इसपर भी घड़े के जल और गिलास वाले जल का व्यवहार, गुण एवं धर्म में किसी प्रकार का अन्तर नहीं। अतः दोनों जल, जल ही हैं और जल ही कहे जाते हैं। घटाकाश और महाकाश एक ही हैं। दोनों में अन्तर नहीं।

स्वामी जी कहते हैं कि ज्ञाता और ज्ञेय का भेद ही है। अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय दो नहीं हो सकते, अथवा दो नहीं हैं। यह कोई युक्ति नहीं है। इसका प्रमाण कहाँ है?

कोई प्रोफेसर इतिहास का ज्ञाता होने से स्वयं ही इतिहास नहीं होता। न लौह धातु का ज्ञाता लोहा होता है। ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न-भिन्न होते हैं। श्री स्वामीजी लिखते हैं कि घटाकाश और महाकाश में भेद ज्ञाता और ज्ञेय का है। इसी कारण हम कहते हैं कि स्वामीजी को तार्किक कहना उपयुक्त नहीं। स्वामीजी ज्ञाता और ज्ञेय के एक होने को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। हमें तो यह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता।

आप कहते हैं कि संसार अनुभव में, विधि प्रतिषेध शास्त्र में यह सब सिद्ध है। विधि प्रतिषेध का अर्थ क्रिया-प्रतिक्रिया (action and reaction) के हैं। परन्तु यह क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त यहाँ लागू नहीं होता। कारण यह कि क्रिया और प्रतिक्रिया की दिशा विपरीत होती है, परन्तु व्यवहार में समानता होती है। प्रतिक्रिया भी गति ही है। गति की प्रतिक्रिया स्थिरता (जड़ता) नहीं होती।

स्वामीजी संस्कृत भाषा के दो वाक्य उद्धरण के रूप में देते हैं। एक है, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति।' एक अन्य वाक्य आपने दिया है, 'यत्र त्वस्य सर्व…' ये दोनों वाक्य किसी प्रामाणिक ग्रन्थ के प्रतीत नहीं होते। ये युक्ति और वेद प्रमाण के भी विपरीत हैं।

स्वामीजी ने पूर्व पक्ष उठाया, परन्तु उसको बिना प्रमाण और युक्ति के मान लिया है। उस मानने के पक्ष में जो युक्तियाँ दी हैं, वे अशुद्ध हैं। प्रमाण गलत हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्व पक्ष का हमारा उत्तर है कि पहले प्रमाण लें। (ऋ० १-१६४-२०) में परमात्मा, आत्मा को भिन्न-भिन्न माना है। श्वेताश्वतर उपनिषद् १-९, १० में भी यही लिखा है। १-६, ७ में भी इसी का उल्लेख है। भगवद्गीता ७-४, ५, ६ में भी इसी प्रकार वर्णन है। भगवद्गीता १३-१९, २०, २१ में तथा १५-१६, १७, १८ में भी ऐसा ही वर्णन है।

ये और अन्य अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं, जहाँ जीवात्मा और परमात्मा में भेद वर्णित है और वहाँ यह नहीं लिखा कि अविद्या से दो दिखाई देते हैं।

अब तनिक सूत्रों की हमारी व्याख्या देखें तो पता चलेगा कि जिस बृहदारण्यक उपनिषद् (३-७-१ से १३ तक) के उद्धरणों पर स्वामीजी ने अपना भवन-निर्माण किया है, वह कल्पना मात्र ही है।

उसी उपनिषद् में अरुणि का पुत्र उद्दालक प्रश्न करता है कि वह कौन-सा सूत्र है, जिससे पूर्ण चराचर जगत् संचालित है? याज्ञवल्क्य कहता है कि वह 'वायु' है।

याज्ञवल्क्य कह सकता था कि वह ब्रह्म है, ईश्वर है अथवा आत्मा है। किन्तु उसने ऐसा नहीं कहा। वायु गति उत्पन्न करने वाली शक्ति है। यह ठीक है कि यह परमात्मा की शक्ति है, परन्तु यह परमात्मा नहीं है। परमात्मा तो शक्तिमान् है।

'वायु' जगत् का संचालन करती है। प्रश्न है परमात्मा क्या करता है? परमात्मा इस शक्ति के प्रयोग की दिशा और काल निश्चय करता है। इसको अंग्रेजी में कहते हैं decision and direction। निर्णय और दिशा-निर्धारण ज्ञानवान् ही कर सकता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (३-७) में परमात्मा का उल्लेख नहीं, वरन् परमात्मा की शक्ति वायु का उल्लेख है। परमात्मा जब चाहता है और जहाँ चाहता है, उस वायु का प्रयोग कर जगत् की रचना, पालन और प्रलय करता है।

यही बात प्राणी में बताई है। प्राणी के अंग-प्रत्यंग का संचालन वायु से होता है; परन्तु उस वायु की दिशा, स्थान और काल जीवात्मा निश्चय करता है।

उदाहरण के रूप में आँख में देखने की शक्ति वायु है। वह परमात्मा की शक्ति है; परन्तु आँखें क्या देखें, किधर देखें और कब देखें, इसका निश्चय जीवात्मा करता है 'decision and direction' जीवात्मा ही करता है।

इस पर भी जगत् में वायु से कार्य करने वाला परमात्मा है और प्राणी में वायु से कार्य करने वाला (परमात्मा से भिन्न) जीवात्मा है। यह इसका अर्थ है।

कुछ विद्वान् लोग यह कहते हैं कि शक्ति और शक्तिमान् एक ही हैं। हम यह नहीं मानते। यह न तो युक्ति से सिद्ध है और न प्रमाण से। देखिये, अग्नि में, विद्युत में, आणविक शक्ति ईश्वरीय है, परन्तु इसका प्रयोग मनुष्य करता है। कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे समुद्रयान अथवा कारखाने चलाते हैं, दूसरे इससे अस्त्र-शस्त्र युद्ध में प्रयोग कर सहस्रों-लाखों मनुष्यों की हत्या करते हैं। यदि शक्ति और परमात्मा एक ही मान लें तो प्रयोग में यह भेद नहीं हो सकता।

वही उद्धरण पेट्रोल और मोटर ड्राइवर का ले सकते हैं। पेट्रोल मोटर गाड़ी चलाता है, परन्तु ड्राइवर मोटर का प्रयोग मानवी सेवाओं के लिए कर सकता है अथवा डाका डालने के लिए भी कर सकता है। यदि पेट्रोल की शक्ति और परमात्मा एक होते तो डाका डालने के समय पेट्रोल निस्तेज हो जाता।

प्रमाण हम ऊपर वेद, उपनिषद् और गीता में से दे चुके हैं।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।।२१।।

अदृश्यत्वादि + गुणकः + धर्मोक्तेः।

अदृश्य इत्यादि गुणों वाला कहे गये धर्मों से (जानना चाहिए)।

स्वामी शंकराचार्य तथा अन्य भाष्यकार भी यह मानते हैं पर वहां हमने केवल जानना चाहिए लिखा है वहाँ ब्रह्म है। ऐसा वह लिखते हैं। इसमें, उनके विचार से अर्थ बन जाते हैं—

'अदृश्यत्व आदि गुणों वाला। कहे गये धर्मों से ब्रह्म मानना चाहिए।'

हमारा यह कहना है कि क्योंकि इस पूर्ण पाद में परमात्मा और जीवात्मा दोनों का वर्णन आ रहा है और दोनों में भेद बताते चले आ रहे हैं तो यहाँ दोनों में समानता अथवा भेद का वर्णन है। दोनों अदृश्य, इन्द्रियों से न पता चलने वाले, अर्थात् अव्यक्त हैं। इस पर भी धर्मों में भेद है।

यह ठीक है कि यहाँ दो का स्पष्ट उल्लेख नहीं। साथ ही यहाँ सूत्र में एक वचन है, इससे यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि यह परमात्मा के लिए ही है। धर्म तो दोनों के पृथक् हैं। अदृश्य दोनों ही हैं।

अतः हमारा यह कहना है कि जीवात्मा अथवा परमात्मा समान अव्यक्त गुण वाले हैं और पृथक्-पृथक् धर्मों वाले हैं। एक वचन का प्रयोग दोनों को चेतन तत्त्व मानकर किया गया है।

गुण तो अव्यक्त हैं और धर्म कर्म के साथ सम्बन्ध रखता है। दोनों ही ईश्वरीय शक्ति से अपने-अपने क्षेत्र में काम करते हैं। परमात्मा पूर्ण जगत् में और जीवात्मा केवल शरीर में। दोनों में कर्म का काल, दिशा और स्थान निश्चय करने का धर्म है। अर्थात् दोनों ईक्षण करने से चेतन हैं। परन्तु धर्म का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है।

गुण अव्यक्तता अर्थात् अदृश्यता है। स्वामी शंकराचार्य ने मुण्डकोपनिषद्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उद्धरण दिया है कि परमात्मा अदृश्य है। इसको अस्वीकार नहीं किया जाता, परन्तु परमात्मा ही अदृश्य है, यह वेदादि शास्त्रों से सिद्ध नहीं होता।

तीन अक्षर हैं। तीनों अव्यक्त हैं। ये गुण परमात्मा, जीवात्मा और प्रधान तीनों में हैं। इस पर भी तीनों एक नहीं हैं। कारण यह कि इनके कुछ अन्य गुण, धर्म और लक्षण हैं जिनसे इनकी भिन्नता सिद्ध होती है।

मुण्डकोपनिषद् के पूर्ण वाक्य से यहाँ सम्बन्ध नहीं, वह विषयान्तर है।

अतः अदृश्यत्व इत्यादि गुणों वाला अवयव कहे गये धर्मों से जानना चाहिए। जो गुण कर्मजन्य हैं, धर्म कहलाते हैं। अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा के धर्मों में अन्तर है। अतः अदृश्यत्वादि गुणों में समानता होने पर भी धर्मों (की विलक्षणता) से जानो।

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ।।२२।।

विशेषण+भेद+व्यपदेशाभ्यां+च+न+इतरौ।

और विशेषणों में भेद कहे जाने से दूसरे दो (जीवात्मा और प्रकृति) नहीं।

गुण और विशेषणों में क्या अन्तर है? जो गुणों में समान हैं, क्या वे विशेषणों में भेद रख सकते हैं और क्यों? यह इस सूत्र के पढ़ने से संशय उत्पन्न होता है।

पूर्व सूत्र में यह कहा है कि अदृश्यत्व आदि गुण वालों को कहे धर्मों से जानना चाहिए। अभिप्राय यह कि गुण समान होने से धर्म में भेद हो सकता है। यह हमने उक्त सूत्र की व्याख्या में बताया है कि जीवात्मा जगत् का संचालन नहीं कर सकता। इसको उत्पन्न तथा इसका प्रलय भी नहीं कर सकता। ईश्वर कर सकता है। अतः एक शक्तिहीन और दूसरा सर्वशक्तिमान् है। यह धर्मों में अन्तर है। जहाँ जीवात्मा अपने शरीर के कार्यों तथा शरीर द्वारा कार्यों की दिशा, काल और स्थान निश्चय कर सकता है, परन्तु जगत् के जन्म, पालन एवं मरण के विषय में जीवात्मा काल, दिशा और स्थान का निश्चय नहीं कर सकता।

वर्तमान सूत्र में लिखा है कि धर्मों के अतिरिक्त परमात्मा विशेषणों में भी दूसरे दो से भिन्न है। विशेषण इस प्रकार हैं—परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक है। जीवात्मा अणु समान होने से सर्वव्यापक हो नहीं सकता। वह सर्वज्ञ भी नहीं और न ही सर्वशक्तिमान् है। जड़ तो चेतन भी नहीं और अन्य विशेषण भी इसके साथ प्रयुक्त नहीं हो सकते।

जैसे धर्म उस गुण को कहते हैं जो कर्म करने में योगदान देता है, इसी प्रकार विशेषण उन गुणों से बनते हैं जो लक्षण उत्पन्न करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा का सर्वज्ञ होना गुण है। यह विशेषण भी है। इसमें कारण यह है कि सर्वज्ञता से जगत् के सुचारु रूप में संचालनादि के लक्षण प्रकट हुए हैं।

प्रकृति में अवस्थितत्व (inertness) है। यह जिस अवस्था और स्थिति में पड़ी हो, पड़ी रहती है। अपनी अवस्था तथा स्थान को बदल नहीं सकती। अतः प्रकृति का जड़त्व अर्थात् अवस्थितत्व गुण है और अक्रियता इसका लक्षण है। जड़त्व इसका विशेषण भी है।

विशेषणों में भेद होने से यह दूसरे दो (जीवात्मा तथा प्रकृति) नहीं।

विशेषणों का उल्लेख इसी पाद के सूत्र १-२-१२ में भी आया है। वहाँ गुहा में प्रविष्ट दो आत्म-तत्त्वों की तुलना की जा रही थी। यहाँ सामान्य रूप में तीनों अक्षर तत्त्वों जी तुलना हो रही है।

रूपोपन्यासाच्च ॥२३॥

रूप+उपन्यासात्+च।

और रूप का कथन होने से भी परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति में भेद है।

रूप से क्या अर्थ है? यह विशेष विचारणीय बात है। रूप से क्या नाक, कान इत्यादि का अभिप्राय है अथवा क्या इससे गोरा-काला अथवा लम्बे-चौड़े से अभिप्राय है?

कुछ भाष्यकार ऐसा ही मानते हैं, परन्तु यह अशुद्ध है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री सूत्र १-२-२१ के भाष्य में लिखते हैं, 'जीवात्मा यद्यपि अदृश्य, सूक्ष्म, नित्य और अव्यय, अपरिणामी है, पर वह अचक्षु-श्रोत्र तथा अपाणिपाद नहीं माना जाता। वह अगोत्र और अवर्ण भी नहीं। सर्ग के आदिकाल से जीवात्मा के साथ इन्द्रियाणि समस्त कारणों का सम्पर्क बराबर रहता है तथा देह धारण करने पर गोत्र (वंश) और वर्ण (ब्राह्मणत्वादि) की रेखा पर होकर ही जीवात्मा का मार्ग है'।

हमारा आचार्य उदयवीर जी से मतभेद है। ये अवयव जीवात्मा के नहीं। ये सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर के हैं। भले ही शरीर और जीवात्मा का सम्बन्ध एक दीर्घ काल के लिए हो, परन्तु शरीर शरीर है और जीवात्मा जीवात्मा। ये परस्पर परिवर्तित नहीं हो सकते।

जीवात्मा का भी स्वरूप है, परन्तु वह आँख, श्रोत्र, नेत्रादि नहीं। वह अन्य है। यह स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे।

आचार्य उदयवीरजी वर्तमान सूत्र (१-२-२३) का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

'(रूपोपन्यासात्) रूप का कथन होने से (च) भी। इस प्रसंग में आगे ब्रह्म के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विराट रूप का कथन होने से जीवात्मा और प्रकृति अदृश्यात्वदि गुण वाले नहीं माने जाने चाहिए।'

आचार्यजी इस सूत्र में रूपोपन्यास का अभिप्राय नहीं समझे।

रूप का अर्थ अंग-उपांग नहीं, वरन् उन गुणों से है जो लक्षण उत्पन्न करते हैं। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों में ऐसे गुण हैं जो विशेष और अपने भिन्न-भिन्न लक्षण उत्पन्न करते हैं। उनमें भेद होने से परमात्मा जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न है। इस सूत्र का अर्थ यह बनता है।

अब देखना यह है कि वे कौन-कौन से गुण व लक्षण हैं, जिनसे तीनों में भेद होता है? परमात्मा का स्वरूप है अग्नि स्वरूप अथवा वैश्वानरः। जीवात्मा का स्वरूप है अणुहीन, अज्ञानी तथा शक्तिहीन। और प्रकृति का स्वरूप है अक्रिय जड़वत्।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥२४॥

वैश्वानरः+साधारण+शब्दविशेषात्।

वह अग्नि जो पूर्ण विश्व में नायक है; सामान्य शब्द का विशेष अर्थ लेने से परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है।

पूर्व के सूत्र में रूपों का वर्णन है। वहाँ परमात्मा के रूप में अग्नि उसका एक स्वरूप वर्णन किया है। मुण्डकोपनिषद् में भी परमात्मा का शिर अग्नि कहा है। शिर इसलिए कहा है कि इसके द्वारा ही परमात्मा ने सम्पूर्ण जगत् में प्रवेश किया हुआ है। वहाँ अग्नि का अर्थ वह शक्ति है जो तेजोमय है। शक्ति जिससे तेज और ताप (प्रकाश) का प्रादुर्भाव होता है।

वर्तमान सूत्र में इसका, जो पूर्ण विश्व में व्यापक है, उल्लेख है। वैश्वानरः वह अग्नि है जो विश्व का आधार है। विश्व और अग्नि साधारण शब्द हैं, परन्तु इन साधारण शब्दों से विशेष अग्नि का अभिप्राय है। यह वह अग्नि नहीं, जिससे रोटी सेंकी जाती है अथवा जल गर्म किया जाता है। यद्यपि यह अग्नि भी पूर्ण जगत् में देखी जाती है और यह भी परमात्मा की शक्ति ही है, परन्तु वैश्वानर के विशेष अर्थ हैं। यह वह अग्नि है जो परमात्मा ने हिरण्यगर्भ में बीजारोपण करते हुए डाली थी और जिससे देवता, पृथिवी और द्युलोक बने थे।

इस विशेष अग्नि से परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है।

यों तो पूर्ण जगत् का प्रत्येक कार्य परमात्मा की शक्ति से ही चलता है, ऐसा हम ऊपर लिख चुके हैं, परन्तु उस शक्ति का कार्य किसी-न-किसी साधन द्वारा होता है। उदाहरण के रूप में लकड़ी जलने से ताप उत्पन्न होता है। है तो वह भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा की शक्ति का रूप ही, परन्तु लकड़ी जलाने वाले के द्वारा इसका प्रकटीकरण होता है। अतः यह परमात्मा के स्वरूप को प्रकट करने में वह स्पष्टता नहीं रखता जितना कि वह शक्ति जो हिरण्यगर्भ में बीज बनकर जगत् की रचना करती है। इस वैश्वानर अग्नि को प्रकट होने और कार्य करने में किसी दूसरे साधन की आवश्यकता नहीं। उस समय जब अचल, मृत-प्राय प्रकृति में सृष्टि-रचना आरम्भ होती है, तब परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष था नहीं। अतः वैश्वानर अग्नि परमात्मा के स्वरूप को प्रकट करती है। इस स्वरूप को देखकर परमात्मा के दर्शन होते हैं।

इसी कारण इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही दर्शनाचार्य ने परमात्मा की सिद्धि के लिए 'जन्माद्यस्य यतः' का उल्लेख किया है।

यहाँ इस सूत्र में वैश्वानर को अपनी विशेषता के कारण परमात्मा के स्वरूप का प्रतीक वर्णन किया है।

स्वामी शंकराचार्यजी इसको इस प्रकार वर्णन करते हैं। वे लिखते हैं कि जठराग्नि को भी वैश्वानर के शब्द से स्मरण किया है। इसका वह उदाहरण बृ० ५-९ से देते हैं।

यह सब ठीक है। इसी कारण सूत्रकार ने कहा है कि 'विशेषात्' विशेष अर्थों में जब प्रयोग किया जाए तो वह परमात्मा के स्वरूप की वाचक है।

स्वामीजी ने वैश्वानर अग्नि को विशेष अर्थों में प्रयोग करने का एक उदाहरण ऋ० १०-८८-१२ का दिया है। इस ऋग्वेद के मन्त्र में वैश्वानर उस अग्नि को कहा है, जिससे द्युलोक के नक्षत्रादि बने हैं।

अतः वैश्वानर अग्नि जब विशेष अर्थों में हो तो परमात्मा के स्वरूप का प्रतीक है।

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥२५॥

स्मर्यमाणम्+अनुमानम्+स्यात्+इति।

स्मरण किया जाने योग्य अनुमान से है यह (परमात्मा का स्वरूप)।

स्मरण का अभिप्राय है, जाना जाता है। अतः इस सूत्र का अर्थ बनता है कि अनुमान से जाना जाता है कि वैश्वानर अग्नि परमात्मा के स्वरूप की प्रतीक है।

एक तो अनुमान की बात समझ लेनी चाहिए। हमने पूर्व के सूत्र में यह बताया है कि अग्नि जहाँ भी देखी जाती है, वह परमात्मा की सामर्थ्य की ही सूचक है। परन्तु जब जगत्-रचना में इसका प्रयोग होता है तब यह स्पष्ट रूप से परमात्मा की शक्ति का ही सूचक होती है। यही अनुमान है। ऐसा अनुमान इस कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि उस समय मनुष्य देवता इत्यादि अन्य कोई विद्यमान नहीं था। उस समय प्रकृति थी तथा परमात्मा था। प्रकृति जड़ होने से स्वयं कुछ भी करने योग्य नहीं थी। अतः हिरण्यगर्भ में जो अग्नि प्रकट हुई, वह परमात्मा की ही थी। अन्य कोई था ही नहीं तो वह अग्नि परमात्मा का ही स्वरूप हो सकती थी।

दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह है परमात्मा के और वैश्वानराग्नि के परस्पर सम्बन्ध की।

हम अग्नि एतदर्थ वैश्वानराग्नि को परमात्मा की शक्ति, सामर्थ्य मानते हैं। इस सामर्थ्य को ही परमात्मा का स्वरूप माना है। कुछ विद्वान् शक्ति, और शक्ति के स्वामी परमात्मा में अन्तर नहीं मानते। उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्यजी ही लिखते हैं—

इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः, यस्मात्परमेश्वरस्यैवाग्निरास्यं द्यौर्मूर्धेतीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यते "यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः।" इति। एतत्स्यमर्यमाणं रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयदस्य वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वेऽनुमानं लिङ्गं गमकं स्यादित्यर्थः।

अर्थात्—इससे भी परमेश्वर ही वैश्वानर है; क्योंकि उनका अग्नि मुख है। द्यौमूर्धा—यह भी त्रिलोकी के आत्मा का रूप स्मरण किया जाता है; जिनका अग्नि मुख है, द्यौ मूर्धा है, आकाश नाभि, पृथिवी चरण, सूर्य नेत्र और दिशायें श्रोत्र हैं; उस लोकात्मा को नमस्कार हो। यह श्रुति है। इस प्रकार यह 'स्मर्यमाणं रूपं' भी अपनी मूलभूत श्रुति का अनुमान कराता हुआ वैश्वानर शब्द के परमेश्वरपरक अनुमान लिङ्ग ज्ञापक हैं। ऐसा अर्थ है।

और तो स्वामीजी ने वही लिखा है जो हम ऊपर लिख आये हैं। अर्थात् वैश्वानर शब्द अनुमान लिङ्ग से पता चलता है, परन्तु स्वामीजी का यह कहना ठीक नहीं कि 'इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः'। वैश्वानर परमेश्वर की शक्ति है, परमेश्वर नहीं। यदि शक्ति और शक्तिमान पर्यायवाचक मानेंगे तो शक्ति पर आंशिक अधिकार मनुष्य का हो जाता है। इससे यह सिद्ध होगा कि वास्तविक रूप में परमेश्वर पर ही अधिकार है।

उदाहरण के रूप में आणविक शक्ति से मनुष्य ने बहुत काम लिया है। इसका, भले और बुरे कामों पर अपनी इच्छा से प्रयोग भी किया है। अतः यदि शक्ति और शक्तिमान् पर्यायवाचक मान लें तो यह मानना पड़ेगा कि आंशिक रूप में ही सही, परमात्मा पर मनुष्य का अधिकार हो गया और वह इससे अच्छे और बुरे कर्म करा सकता है।

यह बात अशुद्ध होगी। शक्ति परमात्मा की है परन्तु यह परमात्मा से पृथक् है और मनुष्य, देवता अथवा राक्षस तपस्या से इसे प्राप्त कर लेते हैं और वे अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा के निर्देश पर उस शक्ति का प्रयोग करते हैं।

अतः हमारा यह मत है कि परमात्मा और उसकी शक्ति दो पृथक्-पृथक् हैं। यह शक्ति किसी प्रकार की स्थाई वस्तु नहीं है। यह परमात्मा से प्रकट होती रहती है और वह कार्य करने पर निरर्थक हो जाती है। अभिप्राय यह है कि इसका गुप्त (latent) तथा प्रकट (potential) रूप होते हैं।

अतः यह परमेश्वर नहीं है, परन्तु यह परमेश्वर से उद्भव होने से परमात्मा का स्वरूप मानी जाती है। स्वरूप का अर्थ लक्षण है जैसे धुआँ अग्नि का लक्षण है।

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युप-देशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥२६॥

च+शब्दादिभ्यः+अन्तः+प्रतिष्ठानात्+न+इति+चेत्+न+तथा दृष्टि+उपदेशात्+असम्भवात्+पुरुषम्+अपि+च+ऐनम्+अधीयते।

ऊपर कहा है कि वैश्वानर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञापक है। उस बात को आगे चलाते हुए सूत्रकार कहता है कि वैश्वानर (जगत् के) भीतर प्रतिष्ठित होने से 'शब्दादि' से (वह परमात्मा है)।

सूत्रार्थ इस प्रकार है—

च=और; शब्दादिभ्यः=शब्दादि से (कहने मात्र से); अन्तः=भीतर (जगत् के); प्रतिष्ठानात्=प्रतिष्ठित होने से; न इति=नहीं है; चैत न=यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं; तथा=और; दृष्टि=दृष्टि का; उपदेशात्=उपदेश से (कहे जाने से); असम्भवात्=असम्भव होने से; पुरुषम् अपि=पुरुष (परमात्मा) भी; च=और; ऐनम्=ऐसा; अधीयते=पढ़ते हैं।

अभिप्राय यह है—

वैश्वानर जगतादि के भीतर प्रतिष्ठित होने से इसको परमेश्वर नहीं मानना चाहिए। यदि यह परमेश्वर नहीं और देखने से, असम्भव होने से भी यह परमेश्वर नहीं। फिर भी परमात्मा का प्रतीक समझा जाता है अथवा पढ़ा जाता है।

जैसे वेदों में अग्नि, मित्र, वरुण इत्यादि शब्दों से परमात्मा का अभिप्राय लिया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि वैश्वानर परमात्मा नहीं, परन्तु परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में भी वह शक्ति सम्भव न हो सकने से, परमात्मा का वाचक ही मानी जाती है।

हमने यह लिखा है कि वैश्वानर परमात्मा की शक्ति का ज्ञापक है। शक्ति और शक्तिमान भिन्न-भिन्न हैं। सूत्रकार कहता है कि यह बात ऐसे ही है। वैश्वानर परमात्मा नहीं। देखने से और असम्भव होने से भी यही मानना चाहिए कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैश्वानर अग्नि परमात्मा नहीं; परन्तु पुरुष, अभिप्राय यह कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में जगत् रचना की सामर्थ्य नहीं तथा इस (वैश्वानर) को परमात्मा का सूचक भी स्वीकार किया जाता है।

ऋग्वेद के दशम् मण्डल के ८८वें सूक्त में मन्त्रों का देवता अर्थात् विवेचित विषय है सूर्य वैश्वानरौ। सूर्य और वैश्वानर दोनों विषयों पर मन्त्र हैं। इसी सूक्त के मन्त्र १२ का उल्लेख पिछले सूत्र में किया है। उसमें वैश्वानर उस अग्नि को कहा है कि जिससे नक्षत्रादि निर्माण होते हैं। सूर्य भी नक्षत्र है और सूर्य के निर्माण से दिन-रात की गणना होती है। मन्त्र इस प्रकार है—

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन्॥

(ऋ० १०-८८-१२)

अर्थात्—देवताओं ने (इन्द्रादि देवताओं ने) सम्पूर्ण भुवन (solar system) के लिए वैश्वानर को विश्व की आत्मा का ज्ञापक माना है (प्रकट किया है)। यह दिनों को वनाती है। जो उषाओं (हिरण्यगर्भ (nebula) के प्रकाश) को चमकाती है और फैलाती है, अन्धकार को दूर करती है।

इसी सूक्त का एक और मन्त्र है—

वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम्।
नक्षत्रं प्रत्नममिनच्चरिष्णु यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम्॥

(ऋ० १०-८८-१३)

इस मन्त्र का पदच्छेद और अर्थ इस प्रकार है—

यज्ञासः=यज्ञ के उपासक; कवयः=विद्वान् लोग; अग्निम्=अग्नि को; अजनयन=प्रज्वलित करते हैं; देवा=ज्ञानवान परमात्मा को; अजुर्यम्=जो नाश न होने वाला; नक्षत्रम्=सर्वव्यापक; प्रत्नम्=अति पुरातन; चरिष्णु=नाना कर्मों का फल देने वाला; यज्ञस्य अध्यक्षम्=संसार रूपी यज्ञ का अध्यक्ष; तविषं बृहन्तम्=महान् बलवान; वैश्वानरम्=वैश्वानर अग्नि का (स्वामी है)।

कहने का अभिप्राय यह है कि वैश्वानर उस अग्नि को कहते हैं जो सूर्यादि नक्षत्रों में परमात्मा ने स्थापित की है।

परन्तु सूत्रकार कहता है कि वैश्वानर तो साधारण शब्द है। इसकी विशेषता के कारण यह परमात्मा की ज्ञापक है और आगे लिख दिया है कि वैश्वानर इत्यादि शब्द जगत् में प्रतिष्ठित होने से यद्यपि परमात्मा नहीं और दिखायी देने से, वेदों में कहे जाने से और परमात्मा के बिना असम्भव होने से इसे परमात्मा का भी ज्ञापक माना जाता है।

इस विषय में हमारा मत है कि यद्यपि सामान्य लकड़ी इत्यादि में अग्नि परमात्मा की शक्ति से ही निर्माण होती है, परन्तु है यह भिन्न। यह लकड़ी इत्यादि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अग्नि आधुनिक विज्ञान में रासायनिक अग्नि (chemical energy) कहाती है। यह इन्द्र का रूप है। परमाणु की त्रिगुणात्मक शक्ति का रूप है। वह अग्नि जिससे सृष्टि-रचना का कार्य आरम्भ हुआ और जो रचना करती है वैश्वानर का रूप हो गयी। वह इन्द्र से उत्पन्न शक्ति की निर्माता है परन्तु वह उससे भिन्न है।

इन्द्र की शक्ति आपः कणों (quantum) से चलती है। और परमात्मा की वैश्वानर अग्नि तरंगों (waves) से चलती है। परमात्मा की अग्नि स्वतः ईश्वरेच्छा से उत्पन्न होती है अथवा उसकी इच्छा से ही शान्त हो जाती है। इसके विपरीत इन्द्र द्वारा प्रस्तुत अग्नि किसी मानवी प्रयास से चलती अथवा समाप्त हो सकती है। मनुष्य के अतिरिक्त कुछ एक देवताओं के भी कर्म का फल है।

यद्यपि वैश्वानर से सामान्य अग्नि उत्पन्न होती है, परन्तु दोनों में अन्तर है। यह परमाणु के भीतर उपस्थित इन्द्र का रूप है।

अत एव न देवता भूतं च ॥२७॥

अतः + एव + न + देवता + भूतम् + च।

अतः (वैश्वानर) न तो देवता है और न ही भूत (पञ्चमहाभूतों में कोई है)।

देवता का अर्थ है वायु, मरुत, वरुण इत्यादि अन्तरिक्ष की दिव्य शक्तियाँ। ये वैश्वानर नहीं हैं। भूतम् से अभिप्राय सूक्ष्म अथवा स्थूल भूतों से है। भूताग्नि से वैश्वानर का अभिप्राय नहीं है। साथ ही ऊपर बता चुके हैं कि यह है तो अग्नि ही, परन्तु विशेष अर्थों में यह उस अग्नि को कहते हैं जो परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य के द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती। यह केवल परमात्मा से ही उत्पन्न की गयी है। अतः यह परमात्मा की ज्ञापक मानी जाती है।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥२८॥

साक्षात् + अपि + अविरोधं + जैमिनिः।

साक्षात् में जो अग्नि है, वह भी विरोध नहीं करती।

अर्थात् यह भी परमात्मा से ही दी जाती है। उसी की शक्ति का रूप है। ऐसा जैमिनि मुनि का (उत्तरमीमांसा में) कथन है।

वैश्वानर के अर्थ निरुक्त में इस प्रकार किये हैं—

वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान् नरान् नयति। विश्व एनं नरा नयन्तीति वा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपि वा विश्वानर एव स्यात् । प्रत्युतः सर्वाणि भूतानि । तस्य वैश्वानरः । तस्यैषा भवति । (निरुक्त ७-२१)

इसका अर्थ है—वैश्वानर किस (कारण) से ? सारे नरों को ले जाता है। अथवा सारे नर इसे ले जाते हैं। सब भूतों में पहुँची हुई है। वैश्वानर ऐसी है।

अभिप्राय यह है कि सब नर इससे काम करते हैं और यह सब नरों का कार्य करती है। शब्द है 'प्रति ऋतः' । इसका अर्थ है सबमें पहुँची हुई है (भूतों में) पंच महाभूतों में।

यहाँ उस अग्नि को वैश्वानर कहा है जो पृथिवी पर सामान्य काम में आती है।

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।।२९।।

अभिव्यक्तेः+इति+आश्मरथ्यः ।

अभिव्यक्त होने अर्थात् स्पष्ट वर्णन होने से ऐसा अश्मरथ नामक आचार्य ने कहा है।

ऊपर वे० द० १-२-२८ में जैमिनि की साक्षी दी है। यहाँ अश्मरथ् ऋषि के कथन की साक्षी दी है।

स्पष्ट रूप में क्या कहा है ? यही कि इस पृथिवी पर वैश्वानर से सामान्य शक्ति को लेना चाहिए। अभिप्राय यह कि सामान्य अग्नि भी द्यू लोक की वैश्वानर से ही उत्पन्न हुई है।

अनुस्मृतेर्बादरिः ।।३०।।

अनुस्मृतेः+बादरिः ।

अनुस्मरण अर्थात् जाना हुआ, स्मरण करने से यह कहा जा सकता है कि बादरि ऋषि भी यही कहते थे।

वादरि व्यासजी के पिता थे। इसी कारण व्यास का नाम बादरायण पड़ा। व्यासजी लिखते हैं कि अपने पिता की बात स्मरण कर मैं भी यही कहता हूँ कि वैश्वानर से परमात्मा का अर्थ लेना चाहिए तथा संसार में भी उसी अग्नि का रूप है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥३१॥

सम्पत्तेः+इति+जैमिनिः+तथा+हि+दर्शयति ।

समाधि से प्राप्त अवस्था को सम्पत्ति कहते हैं । सम्पत्ति से भी ऐसा ही सिद्ध होता है ।

क्या सिद्ध होता है ? वैश्वानर परमात्मा का स्वरूप ही है और जैमिनि भी अपने दर्शन शास्त्र में यही सिद्ध करते हैं ।

वैश्वानर अग्नि आदि अग्नि का रूप ही है । यह अग्नि जब परमाणुओं पर अधिष्ठित होकर परमाणु के भीतर उपस्थित इन्द्र को बहिःमुख कर देती है (ऋ० १-१६३-२) तब इन्द्र की त्रिगुणात्मक शक्ति कार्य करती हुई भौतिक अग्नि के रूप में प्रकट होती है । जब तक परमाणु का तेज परमाणु पर आरूढ़ रहता है, तब तक इन्द्र की त्रिगुणात्मक शक्ति भौतिक अग्नि के रूप में कार्य करती रहती है और जगत् का व्यवहार चलता रहता है । जब परमात्मा अपनी आदि शक्ति को समेट लेता है तब परमाणु पुनः साम्यावस्था में हो जाते हैं । वह प्रलयकाल होता है । अतः बिना आदि अग्नि के वैश्वानर के रूप में कार्यरत हुए इन्द्र बहिःमुख नहीं होता और रचना कार्य नहीं चल सकता ।

इस कारण यह वैश्वानर, इन्द्र से भिन्न होते हुए भी उसका कारण है ।

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥३२॥

आमनन्ति+च+ऐनम्+अस्मिन् ।

और बार-बार वेदों में उल्लेख करते हैं इसे इस विषय में ।

बार-बार कौन उल्लेख करते हैं ? ऋषिजन । कुछ का नाम सूत्रकार ने ऊपर लिखा है ।

सूत्रकार का कहना है कि इस विषय में इनके अतिरिक्त भी विद्वान् यही कहते हैं । प्रश्न है कि किस विषय में ? हमारा मत है कि यह सूत्र इस पाद का अन्तिम है । अतः 'इस विषय' का अभिप्राय पूर्ण पाद के विषय से है ।

पूर्ण पाद में क्या लिखा है ? यह हम संक्षेप में यहाँ लिख दें तो उपयुक्त होगा ।

(१) प्रसिद्ध वस्तु ब्रह्म नहीं, वरन् यह जगत् है । जगत् दिखाई देता है । हमारे अनुभव में दिन और रात आते हैं । (वे० द० १-२-१)

(२) इस जगत् में एक से अधिक मूल पदार्थ हैं । यह बात विशेष गुणों के देखे जाने से पता चलती है । इसमें विवक्षित गुणों के अर्थ हैं कि विशेष रूप में गुणों के देखे जाने से यह सिद्ध होता है । (वे० द० १-२-२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) शरीरी में विशेष गुणों की असिद्धि से। शरीरी के अर्थ—जीवात्मा और शरीर। प्राणी भी है। यहाँ परमात्मा को जीवात्मा और शरीर से पृथक् सिद्ध किया है। (वे० द० १-२-३)

(४) कर्म कर्ता के सिद्धान्त से भी जगत् और जगत् का कर्ता भिन्न-भिन्न हैं। इसको दार्शनिक भाषा में कार्य और कारण भी कहा जाता है। (वे० द० १-२-४)

(५) शब्द-प्रमाण से भी कार्य और कारण में भेद स्पष्ट है। स्मृतियों में भी यह स्वीकार किया है। परमात्मा शरीर (प्रकृति एवं जीवात्मा) से पृथक् है। (वे० द० १-२-५,६)

(६) जीवात्मा एक छोटे से स्थान में रहने वाला है और परमात्मा आकाश में व्यापक है। इस कारण आत्म तत्त्व दो हैं। (वे० द० १-२-७)

(७) साथ ही जीवात्मा भोग करता है, परन्तु परमात्मा समीप और सब स्थान पर रहता हुआ भी भोग से पृथक् रहता है। इस कारण दो हैं। (वे० द० १-२-८)

(८) ईश्वर चर और अचर को खाता चला जा रहा है। अर्थात् उनकी आयु क्षीण करता जाता है। यह खाने का प्रसंग परमात्मा की शक्ति का प्रकरण है। (वे० द० १-२-९,१०)

(९) ये दोनों आत्म-तत्त्व गुहा में प्रविष्ट होने पर पता चलते हैं। इनमें भेद इनके विशेषणों से पता चलता है। एक अज्ञ है और दूसरा ज्ञानवान् है। एक सामर्थ्यहीन है और दूसरा सामर्थ्यवान् है। एक अणु मात्र है और दूसरा सर्वव्यापक है। दोनों में अन्तर सिद्ध है। (वे० द० १-२-११, १२, १३)

(१०) निवास स्थान के भेद से भी जीवात्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं। इसके साथ सुख विशेष होने से भी दोनों में भिन्नता प्रकट होती है। (वे० द० १-२-१४,१५)

(११) श्रुति और उपनिषद् ग्रन्थों में भी यही वर्णित है कि परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर है। (वे० द० १-२-१६)

(१२) शरीर के सब अंगों में विद्यमान न हो सकने से जीवात्मा परमात्मा नहीं। इसके विपरीत परमात्मा, शरीर तो क्या सब देवताओं में भी विद्यमान है और उनके धर्मों को भीतर से नियन्त्रण करता है। (वे० द० १-२-१७, १८)

(१३) प्राणी के शरीर में कर्मों का अधिष्ठाता स्मृति-यन्त्र (मन) नहीं। क्योंकि उन धर्मों की वहाँ उपस्थिति नहीं। देवताओं को भीतर से परमात्मा नियमन करता है, शरीर को जीवात्मा। कुछ लोग कहते हैं कि यह मन है। यह नहीं। कारण ऊपर बता दिया है। जीवात्मा और मन दोनों मिलकर भी नहीं। (वे० द० १-२-१९, २०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१४) आत्म-तत्त्व अदृश्य हैं। विशेष बात यह है कि दोनों में कर्म करने का धर्म समान है। कर्म का काल, दिशा और ढंग निश्चय करना इनका धर्म है। परन्तु विशेषण से ये एक-दूसरे से भिन्न हैं और दोनों ही धर्म और विशेषणों से प्रकृति से भिन्न हैं। (वे० द० १-२-२१,२२)

(१५) स्वरूप से परमात्मा जीवात्मा से विलक्षण है। स्वरूप का अर्थ विशिष्ट गुणों से है। परमात्मा का एक स्वरूप वैश्वानर है। यह अनुमान से जाना जाता है। वैश्वानर अग्नि जो हिरण्यगर्भ में बीज डालकर जगत् की रचना करती है। (वे० द० १-२-२४, २५)

(१६) वैश्वानर अग्नि शब्द के साधारण अर्थ तो सब प्रकार की अग्नि है, परन्तु जगत्-रचना में वैश्वानर तो परमात्मा की हीं शक्ति का ज्ञापक है। अतः वह परमात्मा को प्रकट करता है। (वे० द० १-२-२६)

(१७) यह वैश्वानर देवता अथवा भूत-अग्नि नहीं। जैमिनि ऋषि तो वैश्वानर को देवताओं और भूतों में भी परमात्मा की ही शक्ति मानते हैं। (वे० द० १-२-२७, २८)

(१८) इस सिद्धान्त को कि सब शक्ति परमात्मा की है, अश्मरथ ऋषि भी मानते हैं। बादरि भी यही कहते हैं और अन्य विद्वानों ने यही कहा है। योगाभ्यास से समाधि में भी यही पता चलता है। (वे० द० १-२-२९, ३०, ३१, ३२)

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस पाद में जगत् की चर्चा है और इसके मूल में तीन अव्यक्त हैं—परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तथा ये तीनों गुण, धर्म और लक्षणों से भिन्न-भिन्न हैं।

इस पाद पर हमारे विचार इस प्रकार हैं—

(१) दर्शन शास्त्र सत्य का निरूपण करने के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इनकी रचना शब्द प्रमाण के पुनरुल्लेख के लिए नहीं हुई।

(२) वैदिक दर्शनशास्त्र वेदों में प्रतिपादित सत्य को शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त साधनों से सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं। अतः हमारा अन्य भाष्यकारों से यह मतभेद है कि हम सूत्रों को वेदान्त-वाक्यों के स्पष्टीकरण के लिए लिखे गये नहीं मानते। प्रत्येक सूत्र एक युक्ति है, जिससे किसी-न-किसी सच्चाई को सिद्ध किया गया है।

(३) जहाँ वेद शास्त्र अथवा शब्द-प्रमाण का उल्लेख आया है, वहाँ इसका अर्थ है कि सूत्रकार यह कहना चाहता है कि जो कुछ उसने सूत्रों में युक्ति से सिद्ध किया है, वह वैदिक शास्त्रों में भी लिखा है।

यह नहीं कि वैदिक शास्त्रों में ऐसा लिखा है, इस कारण सूत्र का अर्थ इस प्रकार लेना चाहिए। जो दर्शनशास्त्र में युक्ति से सिद्ध किया है, वह वेदान्त में भी है। अतः सूत्र का साक्षी वेदान्तवाक्य नहीं, प्रत्युत सूत्र वेदान्त की बात को सिद्ध करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय पाद

महर्षि व्यास ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के आरम्भ में कहते हैं—

'जन्माद्यस्य यतः'।

अर्थात्—जिससे कार्य-जगत् का जन्मादि (जन्म, पालन और प्रलय) होता है; (वह ब्रह्म है)।

इस सूत्र का भाष्य करते हुए हमने लिखा है कि कार्य जगत् के जन्मादि में कारण दो हैं और इस कार्य का उद्देश्य जीवात्माओं को अपना कल्याण करने का अवसर प्रदान करना है।

इसी अध्याय में दूसरे पाद का प्रथम सूत्र है—

'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्'।

अर्थात्—जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, उसकी बात बताने से। सर्वत्र प्रसिद्ध यह कार्य-जगत् है। प्रसिद्ध का अर्थ है जो सहज ही सिद्ध होता है। इस कार्य-जगत् का निर्माण, पालन और प्रलय ही प्रसिद्ध है। इसमें भी सूत्रकार ने यह बात बताने का यत्न किया है कि इस जगत् में एक तो इसको करने वाला है, दूसरा, इस जगत् का उत्पादन कारण है और तीसरे जीवात्माएँ हैं, जिनके भोग के लिए इस जगत् की रचना हुई है।

द्वितीय पाद में सूत्रकार ने परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर स्पष्ट करने का यत्न किया है।

अब सूत्रकार तृतीय पाद को आरम्भ करता है।

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्॥१॥

द्यु+भू+आदि+आयतनम्+स्व+शब्दात्।

अर्थ है—द्यु लोक, भूलोक इत्यादि का आश्रय स्थान है, अपने शब्द से।

सूत्र सर्वथा सरल है। केवल 'स्व' शब्द के अर्थ की विवेचना की आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो लोग सूत्रों के अर्थ उपनिषदादि ग्रन्थों में ढूंढ़ने लगते हैं, वे उपनिषदों में स्व शब्द का प्रयोग भी खोज करने में लगे हैं। दस उपनिषदों में स्व शब्द इस प्रसंग में नहीं मिला तो उसी के अर्थ वाला शब्द ढूंढ़ा जाना आवश्यक समझा गया। स्वामी शंकराचार्य को स्व शब्द द्यू, भू इत्यादि के सन्दर्भ में मिला प्रतीत नहीं हुआ; अतः उन्होंने लिख दिया—

यदेतदस्मिन्वाक्ये द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं मनः प्राणा इत्येवमात्कं जगदोतत्वेन निर्दिष्टं तस्यायतनं परं ब्रह्म भवितुमर्हति। कुतः? स्वशब्दात्, आत्मशब्दादित्यर्थः। आत्मशब्दो हीह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति।

ऐसा सिद्ध होने पर इस वाक्य में द्यौ, पृथिवी अन्तरिक्ष को मन, प्राण आदि जगत् में ओत-प्रोत भाव आत्म-निर्दिष्ट किया है। उसका आयतन परब्रह्म ही हो सकता है। क्योंकि स्व शब्द है। आत्म शब्द इसका अर्थ है। इस श्रुति में **'तमेवैकं जानथ आत्मानम् इति'** (मुण्ड० २-२-५) यह श्रुति है।

हमारा यह अभिप्राय नहीं कि मुण्डक उपनिषद् में ऐसा नहीं लिखा जैसाकि सूत्रकार ने लिखा है। हमारा कहना है कि सूत्र पढ़ते ही उसके शब्दों को उपनिषद् वाक्यों में ढूंढ़ने से सूत्रार्थ विकृत हो जाते हैं। यही बात यहाँ हुई है। स्व शब्द से आत्मा अर्थात् परमात्मा के अर्थ नहीं।

स्व शब्द के अर्थ ब्रह्म मुनिजी ने ठीक किये हैं। वे लिखते हैं—

(स्व शब्दात्) निज शब्द से। पूर्व सूत्रों में द्यू, भू आदि पदार्थ उस परमात्मा के अंग कहे हैं और वह परमात्मा का केवल अंग ही नहीं, किन्तु उन द्यू, भू आदि का आयतन-आधार भी है।

हमारा मत है कि 'स्व' शब्द सूत्रकार अपने लिए प्रयोग करता है। वह कह रहा है कि जैसे पूर्व कहे अपने सूत्रों से सिद्ध होता है, वह परमात्मा द्यू, भू आदि का आयतन (आश्रय स्थान) है।

हम यह बात बार-बार कहते चले आ रहे हैं कि सूत्रों के अर्थ स्वतन्त्र रूप से करने चाहिए। ये सूत्र उपनिषदादि ग्रन्थों पर आश्रित नहीं हैं। न ही सूत्र उपनिषदों के संदिग्ध वाक्यों के अर्थ स्पष्ट करने के लिए कहे गये हैं।

सूत्र तो इस जगत् के रहस्य को युक्ति से स्पष्ट करने के लिए लिखे गये हैं। हां, स्थान-स्थान पर इन सूत्रों में यह कहा है कि जो बात सूत्रों में युक्ति से सिद्ध की गई हैं, वही वेदादि शास्त्रों में भी लिखी है।

उक्त सूक्त का अर्थ हम इस प्रकार करते हैं—

द्यु-लोक, भू-लोक आदि और अन्तरिक्ष भी जिसके आश्रय हैं अथवा जिसमें टिके हुए हैं, वह परमात्मा है। ऐसा हम (सूत्रकार) ऊपर कह आये हैं। पूर्व के वचन से भी यही पता चलता है।

सूत्रकार क्या कह आये हैं और कहाँ कह आये हैं, यह प्रश्न उपस्थित होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म मुनिजी ने सूत्रकार का इस सन्दर्भ में सूत्र 'रूपोपन्यासाच्च' (१-२-२३) का उल्लेख किया है। परमात्मा का रूप-उपन्यास से अर्थ परमात्मा के अंग-उपांग नहीं है। हमने वहाँ कहा है कि परमात्मा का वास्तविक स्वरूप अग्नि, वायु, वेदवाणी इत्यादि है। सूर्य, चन्द्रादि इसका स्वरूप नहीं हैं।

अतः सूत्रकार 'स्व' शब्द से इस सूत्र 'रूपोपन्यासाच्च' की ओर संकेत नहीं करता। उसका संकेत निम्न सूत्रों की ओर है—

(१) जन्माद्यस्य यतः (१-१-३)

(२) तत्तु समन्वयात्। (१-१-४)

(३) आकाशस्तल्लिङ्गात्। (ब्र० सू० १-१-२२)

इसी प्रकार कुछ अन्य सूत्र भी इसी आशय के हैं।

इन सूत्रों में जगत् की रचना और पालन इत्यादि की ओर संकेत है। यहाँ इस सूत्र में भी यही लिखा है कि द्यु-लोक और अन्तरिक्षादि उस परमात्मा के आश्रय हैं अर्थात् परमात्मा ही उनका निवास स्थान है।

इसमें सूत्रकार अब युक्ति नहीं देता। वह केवल यह कहकर आगे चलता है कि ऐसे वह पहले कह चुका है (स्व शब्दात्)। उसने यह कहाँ कहा है? प्रथम पाद के सूत्र संख्या २, ४, २२ की ओर उसका संकेत है।

इस बात को यहाँ दोहराने का अभिप्राय यह है कि सूत्रकार इस तृतीय पाद में जगत् में तीनों ब्रह्मों (परमात्मा, आत्मा और प्रकृति) का परस्पर सम्बन्ध बताना चाहता है।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥२॥

मुक्तः+उपसृप्य+व्यपदेशात्।

मुक्त आत्माओं के उपसृप्य अर्थात् उपगम्य स्थान कहे जाने से।

कहे जाने से क्या? यह कहने से कि मुक्त जीव परमात्मा में ही गमन करते हैं, यह सिद्ध होता है कि इनका भी वह (परमात्मा) ही आश्रय स्थान है।

मुक्त जीव ब्रह्मलीन माने जाते हैं। अर्थात् वे परमात्मा में ही रहते हैं। उनका आयतन परमात्मा ही है।

जब यह स्वीकार किया गया कि जगत् की रचना जीवात्माओं को मोक्ष प्राप्त करने का अवसर देने के लिए है तो यह भी सिद्ध है कि मुक्त जीवात्मायें प्रकृति के बन्धन से छूट परमात्मा में ही लीन हो जाती हैं।

यही इस सूत्र का आशय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नानुमानमतच्छब्दात् ।।३।।

न + अनुमानम् + अतत् + शब्दात् ।

ऊपर 'स्व शब्दात्' आया है। यहाँ 'अतत् अब्दात्' आया है। अभिप्राय है (सूत्रकार कहता है) कि उस शब्द (कथन) से नहीं, जो हमने 'स्वशब्दात्' से संकेत किया है। हम अनुमान नहीं लगा रहे। न तो उससे जो हमने कहा है और न ही अनुमान से है। हमने कहा है कि द्यू, भू और मुक्त आत्माओं का आश्रय स्थान परमात्मा है। केवल कथन से नहीं, न ही अनुमान से। दूसरे प्रकार से भी यही सिद्ध होता है कि द्यू, भू इत्यादि का आश्रय स्थान परमात्मा है।

अनुमान नहीं लगा रहे तो क्या कर रहे हैं ? अनुमान के अतिरिक्त तो प्रत्यक्ष ही अभिप्रेत हो सकता है।

परन्तु प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। एक तो इन्द्रियों से अनुभव होने वाला प्रत्यक्ष और दूसरा योगी द्वारा समाधि द्वारा किया हुआ प्रत्यक्ष।

जगत् की रचना के विषय में 'जन्माद्यस्य यतः', ज्ञान देने के विषय में 'शास्त्र योनित्वात्' और संसार चलाने के विषय में भी 'ततु समन्वयात्' ये तीन सूत्र और इसी प्रकार की अन्य बातें जो सूत्रकार ने ऊपर लिखी हैं, वे अनुमान मात्र नहीं, वरन् प्रत्यक्ष भी हैं।

संसार में कोई वस्तु बनती, चलती अथवा बिगड़ती नहीं, जब तक उसके बनाने वाला न हो, जब तक उसके लिए उपादान कारण न हो और जब तक उस बनने वाली तथा चलने वाली वस्तु का कुछ उपयोग न हो। इस प्रत्यक्ष बात से ही सूत्रकार ने कहा कि इस जगत् के बनाने, पालन करने और विनष्ट करने वाला कोई निमित्त कारण है। उपादान कारण है और कोई इस जगत् का भोग करने वाला भी है। इसी को सूत्रकार ने कहा है कि 'अतत् शब्दात् न अनुमानम्' यह केवल अनुमान ही नहीं है।

यह भी हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि बिना किसी के ज्ञान दिये मनुष्य कुछ सीख नहीं सकता। सृष्टि के आदि में उसे ज्ञान देनेवाला कोई होना चाहिए। अतः यह भी प्रत्यक्ष ही है। इसी प्रकार 'समन्वयात्' की बात है।

वर्तमान विवेच्य सूत्र का अर्थ और व्याख्या हमने अपने मत से की है। अब तनिक देखें कि अन्य भाष्यकार क्या कहते हैं?

स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—

यथा ब्रह्मणः प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरुक्तो नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह। नानुमानिकं सांख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रतिपत्तव्यम्। कस्मात् ? अतच्छब्दात्। तस्याचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः शब्दस्तच्छब्दः, न तच्छब्दोऽतच्छब्दः। न ह्यत्राचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, येनचेतनं प्रधानं कारणत्वेनायतनत्वेन वाऽवगम्येत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ है—जैसे ब्रह्म के प्रतिपादन करने वाला विशेष हेतु कहा गया है—किसी दूसरे पदार्थ का प्रतिपादक कोई विशेष हेतु नहीं। इस प्रतिपादक के विषय में यह कहा है 'नानुमानिकं' सांख्यस्मृति में कल्पित प्रधान को वहाँ द्यू, भू आदि आयतन रूप में स्वीकार करना उचित नहीं। यह क्यों ? अतत् शब्दात् होने से। उस अचेतन प्रधान का प्रतिपादक शब्द 'तत् शब्द' और तत् शब्द से भिन्न अतत् शब्द हुआ। यहाँ अचेतन प्रधान का प्रतिपादक ऐसा कोई शब्द नहीं जिससे अचेतन प्रधान कारण रूप से अथवा आश्रय रूप से अवगत होता हो।

किसी ने भी प्रधान को द्यू, भू का आयतन (घर) स्वीकार नहीं किया। कारण और आश्रय शब्द न तो पर्यायवाचक हैं और न ही संयोनिवाचक। योनि का अर्थ उत्पत्ति स्थान है। आश्रय का अर्थ उपादान कारण हो सकता है, परन्तु यह आयतन शब्द से प्रकट नहीं होता। जो लोग प्रधान (प्रकृति) को एक अनादि पदार्थ मानते हैं, वे कहते हैं कि द्यू, भू इत्यादि प्रकृति का कार्यरूप हैं। द्यू, भू आदि और प्रधान भी उस (परमात्मा) के आयतन (निवास स्थान) में रहते हैं।

द्यू, भू का अथवा प्रधान का भी आयतन परमात्मा होने से क्या द्यू, भू अथवा प्रधान के अस्तित्व से इन्कार हो गया ? कोई कहे कि रामचन्द्र शान्ति निवास में रहता है तो इसका क्या यह अभिप्राय हो गया कि शान्ति निवास अस्तित्वहीन है ?

इसी प्रकार यदि आयतन का अर्थ आश्रय लें तब भी यही उदाहरण उस स्थिति का ठीक विश्लेषण करता है। मान लो कि रामचन्द्र अपने पिता भागीरथ के आश्रय ही है तो क्या रामचन्द्र अस्तित्वहीन हो गया ?

इसी प्रकार द्यू, भू को सांख्य-दर्शन वाले प्रधान (प्रकृति) का परिणाम मानते हैं। अतः द्यू, भू की भाँति उनका स्रोत प्रधान भी परमात्मा के आयतन में रहने वाला माना जायेगा।

ब्रह्म के प्रतिपादन का विशेष हेतु कहा है। ऐसा स्वामीजी ने इस सूत्र के अपने भाष्य में कहा है। ठीक है, परन्तु किसी दूसरे पदार्थ के प्रतिपादन में कोई हेतु नहीं। यह क्यों ? भगवद्दत्त द्वारा शान्ति निकेतन बनाया गया, परन्तु वह मकान रामचन्द्र के रहने के लिए बनाया है, यह क्यों सत्य नहीं ? और उस मकान को बनाने में ईंट, सीमेंट, लोहा इत्यादि का प्रयोग हुआ है, यह भी सत्य क्यों नहीं ?

स्वामीजी अपनी कल्पित बात की कल्पना करते हुए सर्वथा अयुक्ति-संगत और अप्रामाणिक बातें कह देते हैं और उनके इस प्रकार के कल्पित वक्तव्यों को पढ़कर उनके शिष्य स्वामीजी को तार्किक कहने लगते हैं।

परमात्मा के लिए तो हेतु है, परन्तु जगत् के मूल पदार्थ प्रधान के होने में हेतु क्यों नहीं ?

श्री स्वामीजी अपनी बात के लिए किसी उपनिषद् वाक्य का उद्धरण दे देते हैं। प्रायः वह उद्धरण उस बात का उल्लेख ही नहीं कर रहा होता, जिसके विषय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में वह उद्धरित किया गया है। कभी कुछ उस विषय पर लिखा होता है तो वह स्वामीजी के कथन को सिद्ध ही नहीं करता। एक स्थान पर स्वामीजी लिखते हैं—

नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह।

अर्थात्—अन्य पदार्थ का प्रतिपादक कोई विशेष हेतु नहीं है। इस बात का न तो सूत्र में संकेत किया गया है और न ही किसी उपनिषद् में। स्वामी जी मुण्डक उपनिषद् का उल्लेख करते हैं। प्रत्युत मुण्डक उपनिषद् में तो प्रकृति और जीवात्मा का उल्लेख है।*

सूत्र है—**'नानुमानमतच्छब्दात्'**।

स्व शब्दों में, जो सूत्रकार ने प्रथम पाद में ब्रह्म की सिद्धि के लिए कहा है, वह केवल अनुमान मात्र नहीं; प्रत्यक्ष भी है।

वर्तमान पाद में ब्रह्म और प्रकृति का सम्बन्ध बताने के लिए उक्त बात कही जा रही है। प्रथम सूत्र में सूत्रकार ने कहा है कि हम (सूत्रकार) कह चुके हैं कि द्यू, भू आदि (ब्रह्म के) आश्रय हैं।

दूसरे सूत्र में कहा है कि मुक्त पुरुषों का भी उपगमन स्थान ब्रह्म ही है। इसी आशय को श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है—

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥

(श्वे० १-७)

परमात्मा से युक्त होकर आत्मा मुक्त हो जाता है।

यह सब परम ब्रह्म (ब्रह्माण्ड) ही है। इस परम ब्रह्म में तीन अक्षर अनादि प्रतिष्ठित हैं। इसी में ब्रह्मविद् हैं, जो ब्रह्म में लीन कहे जाते हैं।

अतः तीसरे सूत्र में कहा है कि यह जो हम (सूत्रकार) ने कहा है, यह अनुमान मात्र ही नहीं, वरन् प्रत्यक्ष भी है। प्रत्यक्ष की व्याख्या ही तो स्वशब्दात् में है।

यह तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जगत् में बिना किसी बनाने वाले के कुछ बनता नहीं। इसी प्रत्यक्ष से यह अनुमान है कि जगत् बना है तो इसके बनाने वाला भी कोई है। वह बनाने वाला ब्रह्म है।

अतः यह अनुमान मात्र ही नहीं है।

दूसरा प्रत्यक्ष जो योगी लोग सिद्धि प्राप्त कर जानते हैं, वह तो केवल मात्र प्रत्यक्ष है। उसमें अनुमान को स्थान नहीं है। कारण यह है कि जो कुछ अनुमान किया गया है, वह योगी को स्पष्ट दिखायी देने लगता है।

---

* विस्तृत विवेचन के लिए देखें मुण्डक उपनिषद् पर लेखक का भाष्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राणाभृच्च ॥४॥

प्राण+भृत्+च।

और प्राण धारणा करने वाला भी उसी के आश्रय है।

वास्तव में स्वामी शंकराचार्य तथा उनका अनुकरण करने वाले अन्य भाष्यकार इस पाद का अर्थ आरम्भ से ही भिन्न प्रकार से करते हैं।

उन्होंने प्रथम सूत्र का अर्थ किया है—

द्यू, भू आदि परमात्मा के आश्रय हैं अथवा परमात्मा में निवास करते हैं।

इतना तो ठीक है। 'स्वशब्दात्' के अभिप्राय में मतभेद था। इन भाष्यकारों ने स्व का अर्थ परमात्मा का शब्द अर्थात् वेद वाक्य अथवा वेदान्त शास्त्रों से लिया है। हमने 'स्व' से अभिप्राय सूत्रकार के अपने शब्द लिया है।

दूसरे सूत्र में मुक्त जीवों का भी आयतन ब्रह्म ही है, ऐसा कहा गया है। इस सूत्र में भी मतभेद नहीं।

मुख्य मतभेद है तीसरे सूत्र में। अनुमानम् से, शंकर इत्यादि भाष्यकार यह कहते हैं कि अनुमान से जो जाना जाता है अर्थात् प्रकृति आयतन नहीं है।

हमारा कहना है कि यह ठीक नहीं कि अनुमान से केवल प्रकृति का ही ज्ञान होता है और परमात्मा-जीवात्मा का नहीं। यह मत श्री स्वामीजी का ही है। 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रों के भाष्य में हम बता चुके हैं कि उनमें अनुमान का आश्रय लेकर ही ब्रह्म की सिद्धि की गयी है।

अतः 'अनुमानम्' से केवल प्रकृति ही सिद्ध होती है, यह बात गलत है। हम जीवित शरीर और मृत शव में अन्तर देखकर ही जीवित शरीर में चेतन जीव का अनुमान लगाते हैं। अतः जीवात्मा की सिद्धि भी अनुमान से होती है।

इसी कारण सूत्र १-३-३ के अर्थ करने में मतभेद हुआ है। 'न अनुमानम्' अनुमान से ही नहीं, 'तत् शब्दात्' उन शब्दों का अर्थ लगाये जाने से। वरन् प्रत्यक्ष से भी लगाया जा सकता है। यह हमने पूर्व सूत्र के भाष्य में स्पष्ट कर दिया है।

अब वर्तमान सूत्र के अर्थ में भी मतभेद है। हमारा यह मत है कि इस सूत्र (१-३-४) का 'च' शब्द से सम्बन्ध सूत्र सं० १-३-१, २ से है, सूत्र सं० १-३-३ से नहीं।

जैसे कहा है कि द्यू, भू आदि परम ब्रह्म में आश्रित हैं, जैसे यह कहा है कि मुक्त जीव भी परम ब्रह्म के आश्रित है, वैसे ही वर्तमान सूत्र में यह कहा है कि 'प्राणभृत्' अर्थात् प्राणी भी उसके आश्रय ही हैं, अर्थात् उसमें ही निवास करते हैं।

आयतन का शाब्दिक अर्थ है निवास स्थान। निवास स्थान जिस प्रकार स्थान पर रहने वाले का आश्रय होता है; इसी प्रकार परमात्मा भू, द्यू इत्यादि का आश्रय है। मुक्त जीवों का भी आश्रय है और प्राणभृत् का भी आश्रय स्थान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी शंकराचार्य तो प्रकृति और जीवात्मा का परमात्मा से पृथक् अस्तित्व मानते नहीं। अतः वे ब्रह्म के अर्थ, आयतन के अर्थ और प्राणभृत् के अर्थ अपने पृथक् ही करते हैं। उपनिषदकार ऐसा नहीं मानते। समझने की बात इस प्रकार है—

(१) ब्रह्म के अर्थ परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों से, दोनों से अथवा केवल परमात्मा से भी लिये जाते हैं। जैसाकि हम ऊपर लिख चुके हैं।

(२) परम ब्रह्म शब्द का प्रयोग प्रायः तीनों ब्रह्म के समूह को बताने के लिए किया जाता है।

(३) तीनों ब्रह्म अक्षर माने हैं। जो अक्षर है, वह अनादि भी होता है। यह नहीं कि किसी का आदि तो हो, परन्तु अन्त न हो।

(४) प्राणी (प्राणभृत्) जीवात्मा और प्रकृति के विशेष संयोग का नाम है।

(५) परमात्मा सर्वव्यापक होने से प्राणी में भी रहता है और जीवात्मा प्राणी के हृदय की गुहा में रहता है। वहीं बैठा यह मन तथा इन्द्रियों द्वारा पूर्ण शरीर पर नियन्त्रण रखता है।

(६) परमात्मा सर्वव्यापक होने से पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। पूर्ण ब्रह्माण्ड असीम है। इसी को आकाश कहा है।

इन सब बातों को सिद्ध किया जा सकता है। प्रत्यक्ष (योग सिद्धि) से भी और आंशिक रूप में सामान्य प्रत्यक्ष से भी, अनुमान से भी। शब्द प्रमाण तो इन सब बातों को सिद्ध करने के लिए प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं।

अतः उपनिषद् वाक्यों के अर्थ करते समय इन शब्दों को इस प्रकार समझ कर किये जायें तो उपनिषद् वाक्य स्पष्ट अर्थ देने वाले प्रकट होंगे। अन्यथा सूत्रों से उपनिषदों को स्पष्ट करते रहेंगे और उपनिषद् वाक्यों से सूत्रों को। इससे दोनों ही असिद्ध हो जायेंगे।

भेदव्यपदेशात् ।।५।।

भेद+व्यपदेशात्।

भेद कहे जाने से।

किस-किस में भेद? प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा में। भू, द्यू और प्राणियों में ये तीनों ही विद्यमान हैं। इस विषय में ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्याय द्वितीय पाद में बताया है। द्यू, भू इत्यादि का आश्रय यह जीवात्मा, प्रकृति नहीं, वरन् परमात्मा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी शंकराचार्य और आचार्य उदयवीर शास्त्री ने और कदाचित् अन्य भाष्यकारों ने भी इसको सिद्ध किया है मुण्डक उपनिषद् (२-२-५) के उद्धरण से।

वहाँ बताया है कि जिसमें द्यू, भू, अन्तरिक्ष, मन, प्राण सब ओत-प्रोत हैं, उस एक को ही जानें। (आत्मानम् अन्या) जीवात्मा दूसरा है। (वाचोविमुञ्चथ) इसकी बात छोड़ो। वह (परमात्मा) ही अमृत का सेतु है। यह पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥

(मुण्ड० २-२-५)

अर्थ हैं—जिसमें द्यू, पृथिवी और अन्तरिक्ष, मन और प्राणी सहित सब ओत-प्रोत हैं, उस एक को ही जानो। अन्य आत्मा की बात छोड़ो। मोक्ष में यह ही सेतु है।

परन्तु इस उद्धरण का सूत्र के साथ क्या सम्बन्ध है?

परमात्मा से जीवात्मा का भेद सूत्रकार ने बताया है। उससे यह स्पष्ट है कि जीवात्मा भू, द्यू इत्यादि का आश्रय नहीं। जो आश्रय नहीं अर्थात् जो पूर्ण ब्रह्माण्ड का निवास स्थान नहीं, क्या उसको जानना ही नहीं चाहिए? अमृत प्राप्त करने के लिए न सही, परन्तु संसार में रहने के लिए भी क्या जीवात्मा का ज्ञान वर्जित है।

ब्रह्मसूत्र तो परम ब्रह्म का रहस्य प्रकट करने के लिए लिखे गये हैं और परम ब्रह्म वह है (श्वे० १-७) जिसमें तीन अक्षर रहते हैं अर्थात् तीन अक्षरों के समूह को परम ब्रह्म कहते हैं। अतएव जानना तो तीनों अक्षरों के विषय में है, परन्तु मोक्ष-प्राप्ति के लिए केवल परमात्मा ही स्रोत अर्थात् सहायक है। अभिप्राय यह कि उपनिषद् (मुण्ड० २-२-५) तो सर्वथा सत्य है, परन्तु इस सूत्र के साथ उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। विरोध तो है ही नहीं।

प्रकरणात् ॥६॥

प्रकरण के विचार से।

अर्थात्—भेद से तो यह कहा जा सकता है कि जीवात्मा द्यू, भू इत्यादि का आश्रय नहीं।

परन्तु प्रकरण के विचार से इस पाद में परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा को समझना चाहिए। जहाँ-जहाँ जिसका प्रकरण है, वहाँ-वहाँ उसको समझना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थित्यदनाभ्यां च ।।७।।

स्थिति + अदनाभ्यां + च ।

स्थिति का विचार करके और अदन (भोग सामग्री) का विचार करके।

स्थिति का अभिप्राय है कि जिसमें सब-कुछ स्थित है, जो सबका आयतन है और अदन का अभिप्राय है भोग सामग्री अर्थात् कार्य-जगत् ।

जहाँ जिसका प्रकरण हो, उसको ही वहाँ समझना चाहिए। यह बात सूत्रकार अपने सूत्र ग्रन्थ को समझाने के लिए कह रहा है कि जहाँ परमात्मा का प्रकरण हो, वहाँ परमात्मा समझो और जहाँ कार्य जगत् का, जो भोग सामग्री उपस्थित करता है, प्रकरण हो वहाँ कार्य जगत् समझना चाहिए।

परन्तु स्वामी शंकराचार्य, तो सूत्र ग्रन्थों का प्रयोजन ही अन्य समझे हैं, यहाँ भी मुण्डक उपनिषद् का उद्धरण दे देते हैं।

आप लिखते हैं—

द्युभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३-१-१) इत्यत्र स्थित्यदने निर्दिश्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति कर्मफलाशनम् 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यौदासीन्येनावस्थानं च। ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते। यदि चेश्वरो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितस्ततस्तस्य प्रकृतस्येश्वरस्य क्षेत्रज्ञात्पृथग्वचनमवकल्पते । अन्यथा ह्यप्रकृतवचनमाकस्मिकमसंबद्धं स्यात्।

यह संशय वर्णन किया है कि—

अर्थात्—द्यू, भू के आश्रय को प्रस्तुत कर 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३-१-१) इस मन्त्र में स्थिति और अदन (भोग) का निर्देश किया गया है। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इस मंत्रांश से कर्मफल भोग का वर्णन है और 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'। इससे अन्य उदासीन रहने वाले का निर्देश है। इस स्थिति और भक्षण से इस मन्त्र में ईश्वर और जीव का ग्रहण करना चाहिए। यदि ईश्वर द्यू, भू आदि के आश्रय रूप विवक्षित माना जाये तो उस प्रवृत्त ईश्वर का क्षेत्रज्ञ से पृथक् वचन उपपन्न (सिद्ध) होता है। अन्यथा यह अप्रकृत (अस्वाभाविक) वचन आकस्मिक और असम्बद्ध हो जावेगा।

आपका वचन भी पृथकता विवक्षित करेगा।

हम तो यह कहते हैं कि मुण्डकोपनिषद् के इस उद्धरण का सूत्र के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

इस पर भी देखें कि इस संशय का श्री स्वामीजी क्या उत्तर देते हैं? संशय (स्वामीजी के विचार से) यह है कि 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (ऋ० १-१६४-२० तथा मुण्डक० ३-१-१) में प्रकृति, जीव और परमात्मा पृथक्-पृथक् वर्णन किये हैं। अतः इनको पृथक्-पृथक् क्यों न माना जाये?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामीजी कहते हैं—

न; तस्याविवक्षितत्वात्। क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतिशरीरं बुद्ध्याद्युपाधिसंबद्धो लोकत एव प्रसिद्धो नासौ श्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यते। ईश्वरस्तु लोकतोऽप्रसिद्धत्वाच्छ्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यत इति न तस्याकस्मिकं वचनं युक्तम्। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० १-२-११३) इत्यत्राप्येतद्दर्शितं 'द्वा सुपर्णा' इत्यस्यामृचीश्वरक्षेत्रज्ञावुच्येते इति।

नहीं, क्योंकि जीव अविवक्षित (असंकेतित) होने से। क्षेत्रज्ञ तो कर्त्ता और भोक्ता रूप से प्रति शरीर में बुद्धि आदि उपाधियों से युक्त है और लोक में प्रसिद्ध है। इस कारण वह श्रुति के तात्पर्य से अभिप्रेत नहीं। ईश्वर लोक में अप्रसिद्ध होने से श्रुति के तात्पर्य से अभिप्रेत है। इस कारण उसे आकस्मिक कहना युक्त नहीं। 'गुहां प्रविष्टवात्मानौ' में भी यही दिखाया गया है। 'द्वा सुपर्णा' में ईश्वर और क्षेत्रज्ञ को कहा गया है।

इस पूर्ण युक्ति का कुछ भी और-छोर पता नहीं चलता। संशय यह था कि 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र में लिखे जीवात्मा और परमात्मा दो कहे गये हैं। स्वामीजी कहते हैं कि क्योंकि जीव विवक्षित नहीं। विवक्षित का अर्थ है कि जीव को पृथक् बताने का मतलब नहीं है। बताया तो है। यह कैसे पता चले कि जो कहा गया, वह मतलब नहीं। तो फिर कहा ही किसलिए गया है?

आप उदाहरण देते हैं कि ब्रह्मसूत्र (१-२-१२) में भी तो गुहा में दो का होना बताया गया है और वहाँ भी दो से मतलब नहीं। यह कैसे? वहाँ क्यों विवक्षित नहीं और यहाँ क्यों विवक्षित नहीं? स्वामीजी अपने मन से ही कहते जाते हैं अथवा इस विवक्षित न होने के लिए कोई युक्ति है अथवा प्रमाण है?

आप यह कह सकते हैं कि मुण्डक उपनिषद् में 'द्वा सुपर्णा' से जीव की पृथकता विवक्षित नहीं। मुण्डकोपनिषद् के आरम्भ में ही ऋषि बताता है कि ब्रह्मा जो सृष्टि का रचने वाला और पालन करने वाला है, देवताओं में वह प्रमुख है।

हमने वहाँ बताया है कि अन्य देवता कौन हैं। यह सूर्य, वरुण नहीं हो सकते। कारण यह है कि ब्रह्मा उनको उत्पन्न करने वाला है। यहाँ शब्द है 'ब्रह्म देवानां प्रथमः सम्बभूव, विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।'

अतः ब्रह्मा (परमात्मा) के अतिरिक्त देवता—जीवात्मा और प्रकृति ही हो सकते हैं।

अतः मुण्डकोपनिषद् में भी यह नहीं कि जीव विवक्षित ही नहीं। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों विवक्षित हैं।

अतः हमारा यह कहना है कि स्वामीजी ने इस (ब्र० सू० १-३-७) का भाष्य भी अशुद्ध किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और स्थिति तथा भोग सामग्री से प्रकरणानुसार अर्थ समझने चाहिए। जगत् की (द्यु, भू आदि की) स्थिति परमात्मा में है और अन्न अर्थात् कार्य-जगत् का भोग जीव के लिए है। यही बात अगले सूत्र में लिखी है।

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥८॥

भूमा+सम्प्रसादात्+अधि+उपदेशात्।

आश्रय (परमात्मा) समीप स्थित (जीवात्मा) से ऊपर उपदेश किये जाने से (पृथक् है)।

परमात्मा को इस पाद में आयतन (आश्रय स्थान) कहा है। अतः यह भूमा है। जैसे कि भूमि आश्रय-स्थान है, वैसे ही परमात्मा है।

सम्प्रसादात् (सम्+प्रसादात्) समान स्थित। जीवात्मा से ही अभिप्राय है। ऊपर कहे अनुसार ये पृथक्-पृथक् हैं।

पूर्व (ब्र० सू० १-३-७) में स्थिति अर्थात् जिसमें सबकुछ स्थित है और जो भोग-सामग्री (कार्य-जगत्) है, में अन्तर का वर्णन है। वर्तमान सूत्र (ब्र०सू० १-३-८) में भूमा (आश्रय) अर्थात् परमात्मा और सम्प्रसाद (जीवात्मा) में अन्तर की ओर संकेत है।

स्वामी शंकराचार्य ने भूमा का अर्थ वर्णन करके के लिए छान्दोग्य उपनिषद् (७-२३, २४) का उद्धरण दिया है। अर्थात् इस उपनिषद् के इस स्थल पर भूमा परमात्मा को ही माना है। अतः सूत्र में भी भूमा से परमात्मा का अर्थ लेना चाहिए।

परमात्मा कार्य-जगत् से पृथक् है (ब्र० सू० १-३-७)। परमात्मा जीवात्मा से पृथक् है (१-३-८)।

यह कैसे पता चलता है कि कार्य-जगत्, जीवात्मा और परमात्मा पृथक्-पृथक् हैं? यह अगले सूत्र में बता दिया है।

धर्मोपपत्तेश्च ॥९॥

धर्मोपपत्तेः+च।

और धर्मों के उपपन्न (उपस्थित) होने से।

'और' शब्द का प्रयोग इस कारण है कि भेद तो ऊपर भी बताया है और वहाँ कहाँ गया है धर्मों की उपस्थिति से पता चलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों के धर्मों में क्या अन्तर है ? यह ऊपर (पूर्व में) वर्णन कर चुके हैं। ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में यह व्याख्या सहित बता आये हैं।

यहाँ स्थिति और भूमा शब्दों से परमात्मा के धर्मों का वर्णन किया है और जीवात्मा और द्यू, भू इत्यादि भूमा नहीं हैं।

महान तो परमात्मा ही है। अतः वह भूमा है। सबका आश्रय परमात्मा ही है; अतः वह भूमा है। जीवात्मा और प्रकृति सबका आश्रय नहीं। इसका आश्रय भी परमात्मा ही है।

और भी कहा है--

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१०॥

अक्षरम्+अम्बरान्त+धृतेः।

अक्षर जो आकाश के अन्त तक धारण करने वाला है (वह परमात्मा है। वही सबका आश्रय है।)

अक्षर तो परमात्मा के अतिरिक्त भी है, परन्तु वे आकाशान्त तक धारण नहीं करते। वे अल्प होने से आकाशान्त तक नहीं पहुँच पाते।

परमात्मा ही अक्षर है; ऐसा इसका अर्थ नहीं। अम्बरान्त धारण करने वाला अक्षर परमात्मा ही है। दूसरे अक्षर अम्बरान्त धृतेः नहीं हैं।

यह हम उपनिषद् के प्रमाण (श्वेताश्वतर १-९ तथा ४-५) से बता चुके हैं कि अक्षर तीन हैं, परन्तु यहाँ उस अक्षर का उल्लेख है जो अम्बरान्त है। धृति अर्थात् धारण करने से परमात्मा के धर्म का वर्णन है।

इसी में परमात्मा का एक अन्य धर्म बता दिया है।

सा च प्रशासनात् ॥११॥

सा+च+प्रशासनात्।

और वह प्रशासनकर्ता होने से (परमात्मा कहलाता है।)

अम्बरान्त धारण करता है और जो कुछ भी उसमें है, उसपर शासन करता है। नियन्त्रण रखता है। यह भी परमात्मा का धर्म है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।।१२।।

अन्य+भाव+व्यावृत्तेः+च ।

और दूसरे भावों के (पृथक्) व्यवहार से।

दूसरे भावों का अर्थ है दूसरे अक्षर। व्यावृत्ति का अभिप्राय है पृथक् व्यवहार अर्थात् भिन्न व्यवहार से अर्थात् भिन्न धर्म वालों से। दूसरे अक्षर हैं जीवात्मा और प्रधान। इनके धर्म उस अक्षर के जो 'व्योमान्त' धृति और 'प्रशासनात्' से स्मरण किया गया है, भिन्न हैं।

यहाँ सूत्र (१-३-१०, ११) में परमात्मा के धर्म बताये हैं। ये धर्म हैं अम्बरान्त धारण करने वाला, अम्बरान्त प्रशासन करने वाला और ब्रह्मसूत्र में लिख दिया है कि अन्य भाव (परमात्मा से दूसरे अक्षर) विपरीत धर्म वाले हैं।

इन सूत्रों में भी श्री स्वामी शंकराचार्यजी ने अपनी विलक्षणता प्रकट की है।

शंकराचार्य जी कहते हैं कि 'दूसरे भावों के पृथक् व्यवहार' का अभिप्राय है कि परमात्मा से दूसरे व्यवहार अक्षर नहीं क्षर हैं।

यह अर्थ अशुद्ध है। सूत्र का अर्थ है कि दूसरे भाव अर्थात् अक्षर हैं परन्तु उनका व्यवहार पृथक् है।

ऊपर के सूत्रों में अमरत्व का विवाद नहीं है। इस कारण पृथकता अक्षरात्व में है। वरन् 'अम्बरांत धृतेः और प्रशासनात्' है।

अतः 'अक्षरमम्बरान्त धृतेः' का अर्थ है कि अक्षर जो आकाश के अंत तक धारण करने वाला है, वह परमात्मा है। इसी प्रकार 'सा च प्रशासनात्' का अर्थ है कि वह परमात्मा ही अम्बरान्त तक शासन करता है और 'अन्यभाव व्यावृत्तेश्च' का अर्थ है कि अन्य अक्षर भिन्न व्यवहार रखने वाले हैं। न तो वे अम्बरान्त तक धारण करने वाले हैं और न ही वे शासन करने वाले हैं।

वह निश्चय से कहा गया है कि वह अक्षर है। इसका यह अर्थ नहीं बनता कि उसके अतिरिक्त कोई अक्षर नहीं है।

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ।।१३।।

ईक्षति कर्म+व्यपदेशात्+सः ।

ईक्षति कर्म के बतलाये जाने से वह है।

परमात्मा अम्बरान्त धारण करने वाला, प्रशासन करने वाला और इस सूत्र के अनुसार ईक्षति कर्म करने वाला है। ये सब परमात्मा के गुण बताये हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईक्षण क्रिया की व्याख्या हम ब्र० सू० १-१-५ के भाष्य में कर चुके हैं। यहाँ इसका पुन: उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि यहाँ परमात्मा और प्रकृति के धर्मों में अन्तर का वर्णन हो रहा है। प्रकृति में ईक्षण क्रिया नहीं होती।

पुन: स्मरणार्थ इतना कह देना ठीक रहेगा कि दिशा और काल का निश्चय ही ईक्षण है। कर्म की दिशा, स्थान और काल निश्चय करना, यही आत्मतत्त्व का लक्षण है। परमात्मा और जीवात्मा में यह गुण सांझा है। अन्तर केवल यह है कि जहाँ परमात्मा के कार्य अम्बरान्त हैं, वहाँ जीवात्मा का कार्य क्षेत्र केवल प्राणी का शरीर है।

स्वामी शंकराचार्य ने इस सूत्र की उपादेयता प्रकट करने के लिए प्रश्नोपनिषद् में कुछ अंशों में संशय अथवा संदिग्धता दिखायी है।

हमारा यह विचार है कि यहाँ भी सूत्रों के भाष्य को बोझिल बनाने के लिए ही ऐसा संशय उत्पन्न किया गया है और प्रमाण दे दिये गये हैं। वास्तव में सूत्र सर्वथा सरल और स्वत: स्पष्ट है। उपनिषद् के उद्धरण असंगत हैं, परन्तु स्पष्ट अर्थ वाले हैं।

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' इति प्रकृत्य श्रूयते—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्र० ५-२, ५) इति।

किमस्मिन्वाक्ये परं ब्रह्माभिध्यातव्यमुपदिश्यते आहोस्विदपरमिति। एतनैवायतनेन परमपरं वैकतरमन्वेतीति प्रकृतत्वात्संशयः। तत्रापरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम्। कस्मात्?—

इसका अर्थ इस प्रकार है—'एतद्वै सत्यकाम' यह जो उकार है वही निश्चय से पर और अपर ब्रह्म है—विद्वान् लोग इसमें ध्यान लगा उस एक को प्राप्त हो जाते हैं—'यः पुनरेतम्—' ऐसा (प्रश्न० ५-२, ५ में) कहा है।

इसमें स्वामी जी कहते हैं कि सन्देह होता है।

क्या इस वाक्य में परब्रह्म ध्यातव्य (ध्यान करने योग्य) माना है अथवा यह अमर है? स्वाभाविक संशय है कि यह आश्रय है अथवा अमर है? वहाँ परमब्रह्म की प्राप्ति से अभिप्राय है। कैसे?—

अभिप्राय यह है कि उक्त उपनिषद् वाक्यों में परब्रह्म अथवा अपर ब्रह्म की उपासना का उल्लेख है। यह स्वाभाविक संशय उत्पन्न होता है।

अब देखना चाहिए कि क्या उक्त उपनिषद् वाक्यों से यह संशय उत्पन्न होता भी है अथवा नहीं और साथ ही उक्त सूत्र के अर्थों से इन उपनिषद् वाक्यों की किसी प्रकार की संगति है भी अथवा नहीं?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नोपनिषद् ५-२ इस प्रकार है—

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ।। (प्रश्न ५-२)

अर्थ है—उसको वह बोला। हे सत्यकाम ! पर और अपर ब्रह्म ओंकार ही है। इसलिए विद्वान् इस आश्रय से (किसी) एक को पा लेता है।

तनिक दूसरे उद्धरण को भी देख लें। यह (प्रश्नो० ५-५) इस प्रकार है—

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत, एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम् स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः ।। (प्रश्नो० ५-५)

पुनः कहते हैं—जो त्रिमात्रा युक्त ओं अक्षर द्वारा परम पुरुष की उपासना (ध्यान) करता है, वह तेजोमय सूर्य में सम्पन्न हो जाता है। जैसे साँप कैंचुली से विमुक्त हो जाता है, वैसे ही वह पुरुष पापों से मुक्त हो जाता है। उसे सामवेद के गान के साथ ब्रह्म-लोक में ले जाया जाता है। वह उस उच्च जीवन में भी उच्च स्थिति में पहुँच परम पुरुष का साक्षात्कार करता है। इस विषय में आगे दो श्लोक कहे हैं।

उपनिषद् वाक्य तो सर्वथा स्पष्ट हैं परन्तु स्वामी शंकराचार्यजी को घबराहट हुई है (५-२ में) परा और अपरा ब्रह्म का उल्लेख देखकर।

निस्सन्देह ब्रह्म तीन हैं। अपरा ब्रह्म प्रकृति है और परा जीवात्मा तथा परमात्मा हैं।

यह रहस्य श्री स्वामीजी महाराज को पता नहीं चला। संशय तो यह है कि किसकी उपासना की जाये ? परन्तु उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि 'परंचापर च ब्रह्म यदोंकारः'—ओंकार से पर और अपर ब्रह्म दोनों का पता चलता है और विद्वान् लोग इसी (ओंकार) के आश्रय पर अथवा अपर में किसी एक ब्रह्म को पा लेते हैं। प्रकृति को भी पाया जा सकता है जैसे आजकल के वैज्ञानिक पा रहे हैं।

उपनिषद्कार ने अपने भाव को सर्वथा स्पष्ट करने के लिए कहा है कि ओं शब्द में तीन मात्रा हैं। मात्रा के अर्थ हैं मूल-तत्त्व। पर और अपर ब्रह्म का उल्लेख किया है, परन्तु परब्रह्म दो हैं। परमात्मा और जीवात्मा। अतः ओं शब्द के जप से पर और अपर दोनों जाने जा सकते हैं। इसका अभिप्राय उपनिषद्कार ने स्पष्ट कर दिया कि ओंकार के जप में तीन मूल-तत्त्व हैं। एक अपर और दो पर अर्थात् एक प्रकृति और दो अन्य हैं—जीवात्मा तथा परमात्मा। ओं के जप से किसी एक की प्राप्ति अर्थात् ज्ञान होता है।

आगे चलकर बताया है कि जो अपरा का ध्यान करता है वह इस पृथिवी पर (मर्त्य लोक में) ही रहता है। जो दूसरे स्तर अर्थात् जीवात्मा के स्तर पर ध्यान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगाता है, वह अन्तरिक्ष में पहुँच पाता है। यहाँ अन्तरिक्ष का अर्थ है 'मनसि सम्पद्यते' मन की एकाग्रता पाता है। और तीनों मात्राओं में ध्यान लगाने वाला अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा में ध्यान लगाने वाला वहाँ पहुँचता है, जिसका प्रश्नो० ५-५ में वर्णन किया है।

उपनिषद् तो स्पष्ट है और स्वामीजी ने कह दिया कि संशय युक्त है और फिर कह दिया कि सूत्र (ब्र० सू० १-३-१३) इसको स्पष्ट करने के लिए लिखा है।

सूत्र है—'ईक्षति कर्म' के बताने से (परमात्मा के धर्म का ज्ञान होता है)। पूर्व के सूत्रों के साथ इसी प्रकार इस सूत्र की संगति बैठती है। उपनिषद् के वाक्य और सूत्र में परस्पर किसी प्रकार का सामंजस्य नहीं है।

यह कहा जाता है कि ब्रह्मसूत्र बहुत कठिनाई से समझ में आते हैं। यह तो ठीक है, परन्तु असंगत उपनिषदों के वाक्यों ने तो उनको और भी दुरूह बना दिया है।

दर्शन-शास्त्र जगत् की वैज्ञानिक व्याख्या कर रहे हैं और स्वामीजी तथा उनकी परिपाटी के भाष्यकार लगे हैं पूजा-पाठ तथा मोक्ष और पाप-पुण्य की बातें करने।

यह ठीक है कि परम साध्य, मोक्ष प्राप्ति है; परन्तु ब्रह्मसूत्र तो ब्रह्म (त्रिविध ब्रह्म) को समझाने के लिए लिखे गये हैं। भाष्यकारों ने अनावश्यक असम्बद्ध विषय को बीच में लाने का यत्न किया है। वह विषय अपने स्थान पर आवश्यक होता हुआ भी यहाँ पर असम्बद्ध है।

दहर उत्तरेभ्यः ॥१४॥

दहर+उत्तरेभ्यः।

आगे कहे हुए वर्णनों से 'दहर' होने के कारण।

दहर का शाब्दिक अर्थ है 'सूक्ष्म'। परन्तु पारिभाषिक अर्थ है पर। अर्थात् आत्म-तत्त्व। एक जीवात्मा और दूसरे परमात्मा।

परमात्मा के धर्मों का वर्णन हो रहा है। वह परमात्मा जो अन्तरिक्ष में सूर्य, चन्द्रादि ग्रहों को तथा नक्षत्रों को धारण किये हुए है अथवा जो अम्बरान्त में शासन करता है। अभिप्राय यह कि अम्बरान्त सबको नियन्त्रण में रखता है तथा जो ईक्षति कर्म करता है।

यह भी परमात्मा का ही वर्णन चल रहा है और इस सूत्र में कहा है कि आगे सूक्ष्म स्थान पर रहने वाले का वर्णन है। सूक्ष्म-स्थान है हृदय की गुहा में जहाँ दोनों आत्म-तत्त्व साथ-साथ निवास करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'दहर' शब्द उस सूक्ष्म स्थान के लिए प्रयुक्त हुआ है जो हृदय देश में है। सूक्ष्म देश अवकाश (रिक्त स्थान) को कहते हैं और अवकाश (space) को परमात्मा का लिंग माना है (ब्र० सू० १-१-२२)। अतः दहर शब्द से परमात्मा का ही अभिप्राय है। ऐसा कहा जाता है।

दहर शब्द का परमात्मा के लिए छान्दोग्य उपनिषद् ८-१-१, ३, ५ में प्रयोग किया गया है।

उत्तरेभ्यः का अर्थ है कि आगे कहे हुए के वर्णन से। अतः यह देखना चाहिए कि सूत्रकार आगे किस आत्म-तत्त्व का वर्णन करता है। हमारा मत है कि सूत्रकार दहर से परमात्मा का अभिप्राय लेता है अथवा जीवात्मा का, यह उपनिषद् की साक्षी से निर्णय नहीं हो सकता। स्वतन्त्र रूप से देखना चाहिए कि आगे के सूत्रों में किस आत्म-तत्त्व का वर्णन है।

अन्य भाष्यकार तो सूत्रों के अर्थ लगाने में उपनिषद् को ही साक्षी मानते हैं। स्वामी शंकराचार्य वेद (ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व) को भी गौण प्रमाण मानते हैं। वह उपनिषद् को ही वेदान्त वाक्य मानते हैं। साथ ही श्री स्वामीजी और अन्य भाष्यकार यह मानते हैं कि कहीं-कहीं उपनिषद् वाक्य अस्पष्ट होने से संशय उत्पन्न करते हैं और वह कहते हैं कि सूत्र उन संशयों का निवारण करते हैं।

हमने इस बात का खण्डन किया है। इस सूत्र के भाष्य में जो उद्धरण (छान्दो० ८-१-१) दिया है, वह संदिग्ध नहीं। उसमें तो स्पष्ट लिखा है—

ब्रह्मपुरी में सूक्ष्म कमल रूपी ग्रह है। उसमें आकाश के भीतर जो दहर है, उसकी खोज करनी चाहिए। (किसको किसकी खोज करनी चाहिए ? निस्सन्देह जीवात्मा को परमात्मा की) (छान्दो० ८-१-१)।

इसी प्रकार इसी उपनिषद् (८-१-६) में वर्णन है कि—

…तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ…

अर्थात्—जो इस आत्मा (दहर) को और सत्य कामनाओं को बिना जाने मर जाता है, उसकी सब लोकों में यथेच्छ गति नहीं होती।

इस प्रकार इस उपनिषद् में तो दहर स्पष्ट रूप में परमात्मा के लिए आया है। यह लिखा है कि जो जीवात्मा इसको जाने बिना शरीर छोड़ जाता है, उसकी कामनाएँ अपूर्ण रह जाती हैं। स्पष्ट है कि जानने वाला ज्ञेय से भिन्न है।

परन्तु इस सूत्र में दहर का अर्थ (उत्तरेभ्यः) आगे वर्णन से ही पता चलेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिंगं च ।।१५।।

गतिशब्दाभ्यां+तथाहि+दृष्टं+लिंग+च ।

और वाकादि इन्द्रियों की गति से ही दिखाई देता है लिंग (लक्षण) दहर का ।

गति का अभिप्राय है कि शरीर के अंग-प्रत्यंग का हिलना-डोलना । शब्द का अभिप्राय है वाक् । यह प्रथा है कि एक इन्द्रिय के उल्लेख से सब इन्द्रियों का उल्लेख माना जाता है । अतः शब्द से पाँचों कर्मेन्द्रियों का अभिप्राय है ।

तथाहि का अभिप्राय है जिससे । दृष्टं से अभिप्राय है दिखाई देता है । लिंग =चिह्न ।

यह हम ऊपर बता आये हैं कि शरीर में गति और कर्म की शक्ति परमात्मा की है । जीवात्मा उस गति की दिशा, काल और स्थान निश्चय करता है । हमने मोटर में पैट्रोल और चालक का उदाहरण देकर अपना आशय स्पष्ट किया था ।

यहाँ भी यही वर्णन है । शरीर में गति और कर्मेन्द्रियों की कर्म शक्ति उससे है, जो दहर है । यहाँ हमने शरीर की बात क्यों कही है ? यह इस कारण कि परमात्मा के शरीर की गुहा में उपस्थित होने के कारण प्रकट होने वाले धर्मों का उल्लेख कर रहे हैं ।

जीवात्मा शरीर की शक्तियों एवं गतियों का स्रोत नहीं माना जाता । यह तो ईश्वर ही है । ईश्वर ही पूर्ण जगत् में गतियों का करने वाला स्वीकार किया गया है, परन्तु यहाँ केवल शरीर के साथ सम्बन्ध है । इसी कारण शब्द (वाक्) कर्मेन्द्रिय का और इससे पाँचों कर्मेन्द्रियों का वर्णन है ।

इस सूत्र से यह स्पष्ट है कि इससे पूर्व सूत्र में दहर से परमात्मा का ही वर्णन है । उपनिषद् में भी ऐसा ही वर्णन है ।

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।।१६।।

धृतेः+च+महिम्नः+अस्य+अस्मिन्+उपलब्धेः ।

और अस्य=इसकी । अस्मिन्=इस (शरीर) में । धृते=धारण करने की (पालन-पोषण करने की) । महिम्नः=महिमा के । उपलब्धे=पाये जाने से ।

अभिप्राय यह कि हृदयाकाश में रहते हुए दहर परमात्मा का महान् कार्य इस शरीर में पालन-पोषण ही है । यही दिखायी देता है ।

यहाँ इस सूत्र में और इससे पहले सूत्र में अन्य भाष्यकारों ने गति, शब्द और इसमें धृति को अन्तरिक्ष में होने वाली घटनाओं से जोड़ा है । यह ठीक है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा वहाँ भी गति इत्यादि का कर्ता है, परन्तु इन गतियों का उल्लेख अम्बरान्त के साथ करना विषयान्तर होगा।

साथ ही इस सूत्र में भी स्पष्ट 'अस्मिन्' शब्द आया है। इसका अन्य कुछ अर्थ ही नहीं। यहाँ शरीर का ही वर्णन कर रहे हैं।

अतः हमने गति शब्द का अर्थ शरीर सम्बन्धी क्रियाओं से ही किया है और धृति अर्थात् धारण करने की क्रिया का सम्बन्ध भी शरीर से ही जोड़ा है। विषयान्तर बात सत्य होते हुए भी करणीय नहीं कही जा सकती।

शरीर का पालन-पोषण जीवात्मा नहीं करता। वह कर सकता भी नहीं। अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जीवात्मा शरीर छोड़ना नहीं चाहता, परन्तु ईश्वरीय शक्ति की प्रतिकूलता के कारण शरीर रहने योग्य नहीं रहता।

यह ठीक है कि जीवन और जीवन में उपलब्धियाँ कर्मफल से होती हैं और कर्म करने की स्वतन्त्रता जीवात्मा को है, परन्तु कर्म करने के उपरान्त फल भोगने में वह स्वतन्त्रता का प्रयोग नहीं कर सकता। वह परतन्त्र ही होता है।

उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाती है। एक मनुष्य मद्यपान करे अथवा न करे, इसमें वह स्वतन्त्र है। परन्तु मद्यपान के चिरकाल तक प्रयोग से हृदय की दौर्बल्यता एवं रुग्णता को रोकने की स्वतन्त्रता उसमें नहीं। जब रोग हो जाता है तो उससे होने वाला कष्ट होगा ही।

अभिप्राय यह कि शरीर का संचालन, भरण-पोषण तो जीवात्मा से किसी अन्य के हाथ में है। जीवात्मा उस संचालन इत्यादि को कब, कहाँ और किस प्रकार प्रयोग करे, इसमें स्वतन्त्र है।

प्रसिद्धेश्च ॥१७॥

प्रसिद्धेः+च। **और प्रसिद्धि के कारण भी।**

उक्त सूत्र में दिये गये उदाहरणों को नित्य देखने से यही बात स्पष्ट है कि शरीर में कर्म करने की शक्ति, पालन-पोषण करने की शक्ति, जीवात्मा के अतिरिक्त किसी की है, ऐसा शास्त्र ग्रन्थों में भी लिखा है।

जीवात्मा तो न जन्म लेता है, न मरता है। न बीमार होता है, न छोटा-बड़ा होता है। जो कुछ होता है, शरीर ही होता है। शरीर जड़ है; अतः इसमें जो गति इत्यादि देखी जाती है अथवा परिवर्तन इत्यादि जो दिखाई देते हैं, वे किसी चेतन शक्ति द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। वह चेतन शक्ति जीवात्मा न होने से परमात्मा ही हो सकती है। परमात्मा भी दहर स्थान में उपस्थित होने से दहर ही है। अतः प्रसिद्ध यह है कि मनुष्य शरीर में शक्ति परमात्मा की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ।।१८।।

इतरपरामर्शात्+स+इति चेत्+न+असम्भवात् ।

इस सूत्र का अर्थ करने में इति चेत्+न+असम्भवात् ही कुंजी है। इसका दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। एक है यदि कहो तो (ठीक) नहीं, असम्भव होने से। दूसरे प्रकार से अर्थ यह है कि यदि यह कहो तो यह (न असम्भवात्) अर्थात् असम्भव न होने से। न असम्भवात् का अर्थ इकट्ठा किया है। क्या ? सम्भव होने से।

यदि पहला अर्थ लिया जाये तो सूत्र का भावार्थ इस प्रकार बनता है—

वह (परमात्मा की शक्ति का कार्य होता है) दूसरे के परामर्श से। यदि यह कहो कि नहीं तो असम्भव होने से है। अर्थात् यह मानना असम्भव है कि शरीर में कार्य इतर के परामर्श से नहीं होता।

दूसरे ढंग से अर्थ करने पर भावार्थ इस प्रकार बनता है। परमात्मा (की शक्तियों का प्रयोग) दूसरे के परामर्श से है। यह कहो तो सम्भव है।

दोनों भावार्थ समान अर्थ वाले हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि दहर स्थान में दो आत्म-तत्त्व हैं। यह सूत्र (ब्र० सू० १-२-११) में स्पष्ट किया जा चुका है। जीवात्मा शरीर में कार्य की दिशा, स्थान और काल निश्चय करता है। इसे निर्णय करना कहते हैं। यह कहा जा सकता है कि जीवात्मा कार्य के काल, स्थान और दिशा का निर्णय करता है।

परमात्मा की सामर्थ्य से ही शरीर कार्य करता है। परन्तु क्या जीवात्मा उस सामर्थ्य का प्रयोग करने में दिशा, स्थान और ढंग का निर्णय भी परमात्मा की सम्मति से करता है ? सूत्रकार कहता है कि यदि यह कहो कि करता है तो ऐसा करना असम्भव होने से है।

असम्भव इस कारण है कि जीवात्मा को स्वतन्त्रता और उसके अपने कर्मफल के भोग करने की बात नहीं हो सकेगी। यदि जीवात्मा कर्म की दिशा, स्थान और ढंग भी परमात्मा के निर्णय से करता है तो उस कर्म के फल का अधिकारी भी परमात्मा ही होगा। यह संभव नहीं।

इस सूत्र में मनुष्य शरीर में जीवात्मा और परमात्मा का परस्पर सम्बन्ध वर्णित है। सम्बन्ध यह है कि जीवात्मा परमात्मा की शक्ति का प्रयोग करता है।

शक्ति तो परमात्मा की है। यदि इस शक्ति का दुरुपयोग भी परमात्मा की करनी से माना जाये, तो इस संसार में जो भी पाप होता है, वह परमात्मा की करनी से मानना पड़ जायेगा। इसी कारण इस सूत्र की आवश्यकता है। सूत्र बतांता है कि शरीर में परमात्मा की शक्ति का प्रयोग जीवात्मा अपनी सम्मति से करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री स्वामी शंकराचार्यजी अपने पूर्वग्रहों से ग्रसित जीवात्मा नाम की किसी पृथक् सत्ता को मानते नहीं। अतः जहाँ भी जीवात्मा का उल्लेख आता है, वहाँ विषयान्तर बात कर देते हैं। यही बात उन्होंने यहाँ की है।

वृत्तान्त हो रहा है दहर स्थान में उपस्थित परमात्मा का। पूर्व सूत्रों में यह बताया है। वाकादि इन्द्रियों में गति दहर स्थित परमात्मा से होती है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि परमात्मा की शक्ति से इन्द्रियों की क्रियाओं में दिशा, स्थान और काल का निर्णय भी परमात्मा करता है क्या ? इसके लिए इस सूत्र की आवश्यकता है। सूत्रकार कहता है (इतर परामर्शात्) इतर के परामर्श से होता है। यह असम्भव नहीं है।

श्री स्वामी शंकराचार्य यहाँ असम्बद्ध बात ले आये हैं कि सम्प्रसाद की अवस्था में परमात्मा जीव को परामर्श करता है। हमारा यह मत है कि सूत्रार्थ सर्वथा सरल है। इतर (जीवात्मा) के परामर्श से (परमात्मा की शक्ति का प्रयोग होता है)। सूत्र में शब्द है परामर्श। इसके अर्थ मोनियर अपने शब्द कोष में करता है—Referring or pointing to, reflection or consideration, judgement.

यहाँ इतर (जीवात्मा) को लिखा है। परमात्मा की सामर्थ्य के विषय में लिखा है।

श्री उदयवीर शास्त्रीजी ने भी लगभग वैसे ही अर्थ किये जैसे शंकराचार्य ने किये हैं। वे भी असम्बद्ध हैं। यहाँ सम्प्रसाद की अवस्था का उल्लेख नहीं। न ही सुषुप्ति की अवस्था का वर्णन है।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥१९॥

उत्तरात्+चेत्+आविर्भूतस्वरूपः+तु।

उत्तरात्=अगले से (परमात्मा से)। चेत्=यदि। आविर्भूज=प्रत्यक्ष हुए। स्वरूपः=स्वरूप वाले। तु=तो।

यदि परमात्मा से प्रत्यक्ष हुए स्वरूप वाला कहो तो (न असम्भवात्) असम्भव नहीं है। अर्थात् यह सम्भव है। यहाँ यह पूर्व सूत्र की पुनरावृत्ति है। तु शब्द से इसका संकेत मिलता है। क्या सम्भव है? कार्य जीवात्मा के परामर्श से हो। परामर्श के अर्थ हम पूर्व सूत्र के भाष्य में लिख आए हैं।

सूत्र का भावार्थ यह बनता है—जीवात्मा को जब परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है, तब भी इसका कार्य जीवात्मा के परामर्श से होता है? सूत्रकार का कहना है कि यह सम्भव है।

साक्षात्कार में जीवात्मा मुक्त हो जाता है। मुक्त जीवात्मा क्या करते हैं? यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन-शास्त्र के चतुर्थ अध्याय में लिखा है। कम से कम वह आनन्द को तो प्राप्त होता ही है। इसमें भी वह आनन्द का भोग स्वेच्छा से करता है अथवा परमात्मा ही उसका निर्णय करता है? सूत्रकार का मत है कि स्वेच्छा से ही आनन्द का भोग करता है। परमात्मा का इसमें आदेश नहीं।

पूर्व सूत्र में हम लिख आये हैं कि शरीर में स्थित जीवात्मा भी कार्य की दिशा, काल और विधि स्वयं निर्णय करता है और इस सूत्र में लिखा है कि साक्षात्कार हो जाने पर भी वह जो कुछ भी करता है, स्वेच्छा से करता है।

यथार्थ बात यह है कि जीवात्मा दोनों अवस्थाओं में स्वतन्त्र है। शरीर में स्थित अवस्था में भी और मोक्षावस्थाओं में भी।

यह इस प्रकार है जैसेकि कोई शिष्य गुरु से पढ़कर ज्ञानवान् हो जाता है और गुरु की भाँति धर्मों वाला हो जाता है। इस पर भी वह गुरु नहीं हो जाता। यदि वह गुरु के धर्मों का पालन करता है तो स्वेच्छा से करता है, आदेश से नहीं। उस समय भी वह अपने किये का स्वयं उत्तरदायी है।

सूत्रार्थ स्पष्ट है—

(दहर गुहा में स्थित) अगला (परमात्मा) प्रत्यक्ष हुए स्वरूप से भी अर्थात् जीवात्मा की मोक्षावस्था में भी परामर्शदाता होना आवश्यक नहीं।

जीवात्मा अपने कर्मों में स्वतन्त्र है और अपने कर्मों के फल को भोगता है।

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥२०॥

अन्यार्थः+च+परामर्शः।

अन्यार्थः=दूसरे के लिए। च=और। परामर्शः=निर्णय करने के लिए।

अन्य कौन हैं? निस्सन्देह जीवात्मा से प्रयोजन है। वर्णन है परमात्मा की शक्ति का।

ऊपर हम बता चुके हैं कि दहर स्थान में परमात्मा और जीवात्मा दो विद्यमान हैं। एक जो अम्बरान्त तक धारण और शासन करता है। दूसरा अणु मात्र है और शरीर में कार्य करता है। यह भी बताया है कि प्राणी में यह शक्ति किसी दूसरे के प्रयोग के लिए है और उसकी सम्मति से काम में लायी जाती है। वह दूसरा भी दहर में ही रहता है।

अर्थात् शरीर में परमात्मा की शक्ति जीवात्मा के प्रयोग के लिए है और उसके द्वारा ही इसके प्रयोग की दिशा, काल और स्थिति का निर्णय होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ।।२१।।

अल्प श्रुतेः + इति + चेत् + तत् + उक्तम् ।

(चेत् इति) यदि यह कहो कि (अल्पश्रुतेः) यह छोटे स्थान में कहा गया है (तो यह छोटा है) (तत्) इस विषय में (उक्तम्) ऊपर कह दिया गया है।

यह ऊपर (ब्र० सू० १-३-१०) कहा गया है कि आकाश के अन्त तक यह धारण किये हुए है। अतः उसका उल्लेख इस छोटे स्थान में भी होना अयुक्तिसंगत नहीं।

वह सर्वव्यापक होने से इस हृदय की गुहा में भी है। यहाँ इसकी शक्ति वही है जो अम्बरान्त में कार्य कर रही है। जीवात्मा का निवास-स्थान भी यही है। अतः जीवात्मा परमात्मा की उस शक्ति का प्रयोग कर शरीर का संचालन करता है और इससे कर्म करता है। अतः इस अल्प स्थान में भी परमात्मा के होने से परमात्मा में किसी प्रकार का छोटापन नहीं आ जाता। जो सर्वव्यापक है, वह छोटे-बड़े सब स्थानों पर है।

अनुकृतेस्तस्य च ।।२२।।

अनुकृते + तस्य + च ।

और उसका अनुकरण करने से।

उस अल्प स्थान में होने वाले का अनुकरण करने से। कौन अनुकरण करे? उस अल्प स्थान में जो उसके पास है। कैसे अनुकरण करे? उपासना कर उसके गुणों की स्तुति करने से।

सूत्र (१-३-१४) से परमात्मा का दहर स्थान में होने पर प्राणी में कार्य का वर्णन हो रहा है। उसी सूत्र में कहा गया है कि आगे के वर्णन से। और अगले सूत्र (१-३-१५) में वर्णन किया है कि उस परमात्मा से, जो दहर स्थान पर है, शरीर में गति और कर्मेन्द्रियों के कार्य होते दिखाई देते हैं। फिर (१-३-१६ में) कहा है कि उसी परमात्मा की महिमा (कृपा) से शरीर का पालन-पोषण होता है। और (१-३-१७ में) कहा है कि यह प्रसिद्ध (सर्वविदित) है कि ईश्वर की कृपा से ही सब कार्य होते हैं। तदनन्तर (१-३-१८ में) कह दिया है कि यह दूसरे का परामर्श है। यदि यह कहो तो असम्भव नहीं। अर्थात् परमात्मा शक्ति तो देता है, परन्तु शक्ति के प्रयोग का परामर्श नहीं देता। आगे १-३-१९ में कहा है कि दूसरे को जब प्रत्यक्ष होना है तो भी यह असम्भव नहीं। यह स्वतः ही कार्य करता है। आगे १-३-२० में कहा है कि यह शक्ति का प्रयोग दूसरे के परामर्श के लिए है। १-३-२१ में लिखा है कि छोटे स्थान में होने से वह छोटा नहीं हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इस सूत्र में लिखा है कि उसका जो दहर में उपस्थित है, अनुकरण करने से। अर्थात् परमात्मा का अनुकरण करने से लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

अपि च स्मर्यते ॥२३॥

च+स्मर्यते+अपि।

और (स्मर्यते) ऐसा ही स्मरण भी किया जाता है।

अनुकरण करने से मोक्ष प्राप्त होता है और स्मरण करने से भी।

अनुकरण करना तो कर्म है और कर्म का फल होता है। वह फल मोक्ष है। परन्तु प्रश्न यह है स्मरण करने से क्या होगा? स्मरण करना तो किसी प्रकार से कर्म नहीं।

ऐसा वेद और उपनिषदों में लिखा है कि स्मरण करने से परमात्मा की उपलब्धि होती है, परन्तु क्यों और किस प्रकार स्मरण करने से कल्याण होता है? यह प्रश्न बना रहता है।

नास्तिक कहते हैं कि परमात्मा क्या अपनी प्रशंसा अथवा खुशामद कराना पसन्द करता है जो वह बार-बार पुकार करनेवाले के कष्ट निवारण कर देता है?

वैदिक मीमांसा यह नहीं है। दर्शन-शास्त्रकार का भी यह अभिप्राय नहीं है।

इसमें समझने की बातें दो हैं। क्या स्मरण करना चाहिए और उस स्मरण करने से कर्मों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

स्मरण तो परमात्मा को ही करना चाहिए, परन्तु परमात्मा तो गुण स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, सुकृत कर्म करने वाला है। अतः परमात्मा का जब उसके गुणों सहित स्मरण किया जाता है तो उपासक के मन पर उसके गुणों का प्रभाव होता है। उसके मन पर उन गुणों के संस्कार बैठने लगते हैं। उन संस्कारों से वह स्वभाव से ही वैसे गुण अपने में धारण करने लगता है।

परमात्मा दयालु है, सबका हित करता है, पश्चात्ताप करने वाले को क्षमा कर देता है। इन गुणों का बार-बार स्मरण करने से मनुष्य स्वयं भी वैसे ही गुण वाला हो जाता है। इससे उसका कल्याण होता है।

स्मरण करने से कल्याण होता है, यह शास्त्र का विधान भी है। भगवद्गीता में इस प्रकार लिखा है —

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(भ० गी० ८-१३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका अर्थ है—ब्रह्म का, जो एक ओ३म् अक्षर से प्रकट किया जाता है, उच्चारण करते हुए तथा स्मरण करते हुए जो शरीर का त्याग करता है वह परम गति को प्राप्त होता है।

ऐसे अन्य प्रमाण भी हैं। इनमें युक्ति वही है जो हमने ऊपर लिखी है। परमात्मा के गुणानुवाद करने से वैसे गुणों के संस्कार मन पर बैठने से मनुष्य के कर्म भी वैसे ही हो जाते हैं। इससे उसका कल्याण होता है।

इसी प्रकार परमात्मा के अन्य नामों को स्मरण करने का प्रयोजन है; परन्तु यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि कुछ लोगों ने परमात्मा के ऐसे गुण कल्पित कर लिए हैं जो वास्तव में हैं नहीं। उन गुणों को स्मरण करने से कुछ लाभ होगा अथवा नहीं? हमारा विचार है कि नहीं होगा। कदाचित् हानि ही होगी।

उदाहरण के रूप में 'कृष्ण बाँसुरी के बजैया, मधुवन के गवैया' ऐसा गाते हुए लोग समझते हैं कि वे परमात्मा का स्मरण कर रहे हैं। ये परमात्मा के गुण नहीं हैं, अतः इन गुणों के संस्कार मन पर अंकित होने से मनुष्य संगीताचार्य हो जाये तो हो जाये, परन्तु वह ईश्वर के दर्शन कर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

वेद में इस प्रकार कहा है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ् शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृत ँ् स्मर।

(यजु० ४०-१५)

इस मन्त्र का अभिप्राय है कि वायु, अग्नि इस जगत् में अमृत (परमात्मा) के लक्षण हैं। शरीर तो भस्म हो जाता है। यह आत्मा का लक्षण नहीं। अतः हे! कर्म करने वाले! (ओ३म् क्रतो स्मर) ओ३म् (परमात्मा) को स्मरण कर (क्लिबे) पूर्ण सामर्थ्य से (उसको) स्मरण कर (कृत ँ् स्मर) अपने कर्मों को भी स्मरण कर।

इसी प्रकार परमात्मा दयावान् है। इससे जब कोई तुम्हारे एक गाल पर चपत लगाये तो दया कर दूसरा गाल उसके आगे कर दो। यह परमात्मा को स्मरण करना नहीं। इससे परमात्मा के न्यायकारी होने का प्रतिवाद हो जायेगा। इस प्रकार गुण, जो परमात्मा के हैं ही नहीं, उनका स्मरण करने से जीव का कल्याण सम्भव नहीं।

वहाँ स्मरण करने का अभिप्राय है जो परमात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव माने गये हैं, उनको स्मरण करना।

स्मरण करने पर अनुकरण भी होता ही है और इससे जीव का परम कल्याण अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दादेव प्रमितः ॥२४॥

शब्दात् + एव + प्रमितः ।

शब्द (वेद) से ही प्रमाणित है ।

वे सब बातें जो ऊपर इस पाद में अभी तक कही हैं, वेदों में भी वर्णित हैं। यह सूत्र हमारे इस कथन का ही प्रमाण है। ब्रह्मसूत्र स्वतः युक्ति से सिद्धान्तों का निश्चय करते हैं और दर्शनाचार्य वेदानुयायी होने से कहते हैं कि ऐसा वेदों में भी वर्णन किया गया है।

मोटी-मोटी बातें, जो इस पाद में अभी तक कही हैं, उनका उल्लेख हम यहाँ कर देते हैं।

(१) अपने कथनानुसार द्यूलोक, भूलोक इत्यादि का आश्रय स्थान परमात्मा है।

वेद प्रमाण है—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥

(ऋ० १-१५४-१)

अर्थ है—जो परमेश्वर सब पार्थिव (सूर्य चन्द्रादि) लोकों को अपने बल से बनाता है, जो तीन प्रकार से चक्रमण करता हुआ सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है तथा संचालन करता है और जो बहुतों से गाया जाता है, उस परमात्मा का मैं वर्णन करूँ।

(२) मुक्त आत्माएँ उसी में उपगमन करती हैं—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(मुण्डको० ३-२-८)

अर्थात्—जैसे प्रवाहमान नदी, समुद्र में पहुँचकर नाम, रूप त्यागकर समुद्र में लीन हो जाती है, वैसे ही ज्ञानी मनुष्य नाम रूप से रहित होकर अत्यन्त उत्तम और दिव्य परमेश्वर को प्राप्त होते हैं।

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ता ॥

(श्वे० १-७)

ब्रह्मचक्र, जीव-समूह और प्रकृति भली-भाँति प्रतिष्ठित अक्षर है। इनमें भेद को जानकर ब्रह्मज्ञानी परमात्मा में लीन, उसी में तत्पर जन्म-मरण से मुक्त है।

(३) ऊपर जो कहा है कि द्यूलोक और भूलोक परमेश्वर के आश्रय हैं और मुक्त जीव भी उसी के आश्रय हैं तो यह केवल अनुमान ही नहीं, वरन् प्रत्यक्ष भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि स विवेश।।

(यजु० ३२-११)

(४) सब भूतों, लोकों, दिशाओं-दिशाओं को जानकर अर्थात् इनका ज्ञान प्राप्त कर जीवात्मा परमात्मा में प्रवेश कर लेता है (अर्थात् उससे युक्त हो जाता है)।

(५) तीन अक्षर तत्त्व हैं (ऋ० १-१६४-२०)। तीनों में भेद स्पष्ट है।

(६) जहाँ जिसका प्रकरण हो, वहाँ उसका ही अर्थ लेना चाहिए।

(७) स्थिति और भोग के विचार से जीवात्मा की सिद्धि है।

(८) परमात्मा जीवात्मा पृथक्-पृथक् हैं।

(९) धर्मों के उपस्थित होने से परमात्मा और जीवात्मा पृथक्-पृथक् हैं।

(ऋ० १-१६४-२०) (श्वेता० १-९)

(१०) आकाश के अन्त तक धारण करने वाला परमात्मा है।

ईशावास्यमिद ँ सर्वं ……(ईशा० १)

(११) वह सब पर शासन करता है।

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः।
इन्द्रस्य त्वा भाग ँ सोमेना तनच्मि विष्णो हव्य ँ रक्ष।।

(यजु० १-४)

वह विश्व की आयु है, वह विश्व का रचने वाला है, वह विश्व का पालन-पोषण करने वाला है। तुम्हारे शासन से आनन्द का विस्तार होता है। वह परमात्मा सबकी रक्षा करता है।

(१२) अन्य अक्षर है भिन्न व्यवहार वाला। (भगवद्गीता १३-२१, २२) इनमें प्रकृति, पुरुष और परमात्मा तीन भिन्न-भिन्न अक्षर माने हैं।

(१३) कर्म का काल, दिशा और स्थान निश्चय करने वाले को इक्षित गुण रखने वाला माना जाता है। (भ० गी० ८-१७, १९)

सृष्टि की रचना कब होती है और प्रलय कब होती है?

(१४) दहर परमात्मा जो आत्मा के साथ हृदय स्थल पर गुहा में रहता है।

(छा० ८-१-१), (कठो० १-३-१)

(१५) शरीर में गति आदि कर्म परमात्मा के करने से होते हैं।

(बृ० उ० ३-७ पूर्ण ब्राह्मण)

(१६) उस दहर स्थित परमात्मा से शरीर धारण हो रहा है।

(ऋ० १०-१२१-१)

(१७) प्रसिद्ध है कि परमात्मा शरीर को चालू रखता है।

(यजु० ३-३७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१८) शरीर कार्य जीवात्मा के परामर्श से चलते हैं। यह प्रत्यक्ष है।
(ऋ० ७-६६-१६, १७), (कठो० १-३-३, ४)

(१९) शरीर में परमात्मा की शक्ति को स्वरूप जीवात्मा देता है।
(कठो० १-३-५, ६, ७, ८, ९, १०, ११)

(२०) कर्म करने में जीवात्मा स्वतन्त्र है। जीवात्मा के कर्म परमात्मा की शक्ति को ही दिशा इत्यादि देते हैं। (कठो० १-४-३)

(२१) दहर स्थित परमात्मा ही सर्वव्यापक परमात्मा है।
(कठो० १-३-१२)

वही परमात्मा जो हृदय की गुहा में है, सब भूतों में है।

(२२) परमात्मा का अनुकरण करने से (ब्रह्म की प्राप्ति)।
(भ० गी० ९-१४, १५)

परमात्मा के कीर्ति-गान और उपासना से मोक्ष की प्राप्ति होती है। उपासना का अभिप्राय है कि समीप बैठ गुणों के स्मरण करने से गुणों का अनुकरण होता है।

(२३) स्मरण करने से अनुकरण होता है। (भ० गी० ८-१४, १५)

अब पुनः सूत्रों का भाष्य प्रारम्भ करते हैं।

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥२५॥

हृदि+अपेक्षया+तु+मनुष्याधिकारत्वात्

हृदय में अपेक्षा से ही मनुष्य पर अधिकार से।

हृदय का अभिप्राय है दहर स्थान। वह सूक्ष्म स्थान जहाँ आत्मा-परमात्मा साथ-साथ रहते हैं। अपेक्षा का अभिप्राय है इसपर देखने से। अधिकारत्वात्—अधिकार से।

अतः इस सूत्र का अर्थ है कि हृदय स्थान पर रहता हुआ परमात्मा अपेक्षा से अर्थात् निगरानी रखने से मनुष्य पर अधिकार प्राप्त कर लेता है और इस अधिकार से कर्म करने की सामर्थ्य इसमें देता है।

यहाँ मनुष्य शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमें आत्मा, बुद्धि, मन और इन्द्रियों के समूह से अभिप्राय है। इस समूह पर ही दहर की अपेक्षा से अधिकार है।

इस सूत्र का अर्थ जीवात्मा पर भी हो सकता है। तब यह अर्थ बनेंगे कि जीवात्मा हृदय में रहता हुआ इसपर निरीक्षण रखने से पूर्ण मनुष्य शरीर पर अधिकार रखता है।

हमारे मत से जीवात्मा और परमात्मा दोनों से ही यहाँ अभिप्राय लेना चाहिए। दोनों साथ-साथ रहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ अन्य अर्थ भी किये गये हैं। उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री ने इस सूत्र के अर्थ इस प्रकार किये हैं—

'(हृदि) हृदय में (अपेक्षया) अपेक्षा से (तु) तो (मनुष्याधिकारत्वात्) मनुष्यमात्र का अधिकार होने से। परमात्मा का अंगुष्ठ मात्र रूप से शास्त्रीय वर्णन हृदय में जीवात्मा द्वारा उसके साक्षात्कार होने की अपेक्षा से है। स्वतन्त्र रूप से नहीं; क्योंकि शास्त्र वर्णित साक्षात्कार में मनुष्यमात्र का अधिकार है।'

हमें इन अर्थों में कुछ अधिक खींचा-तानी प्रतीत हुई है। यह बात तो ठीक है कि शास्त्र मनुष्य ही पढ़ और समझ सकते हैं, अन्य प्राणी नहीं। परन्तु सूत्र के यह अर्थ हैं अथवा नहीं, यह बात विचारणीय है।

शब्द (अपेक्षया) अपेक्षा से किसी प्रकार उक्त अर्थों में ठीक नहीं बैठते।

हृदय में देख-रेख करने से अथवा ध्यान से देखने से इसका सम्बन्ध (मनुष्याधिकारत्वात्) मनुष्य के अधिकार से किस प्रकार बैठेगा ? विचार करने का विषय है।

इसका अर्थ केवल यही बैठता है कि हृदय में जो कोई भी है, वह हृदय में इधर-उधर देख-रेख करने से मनुष्य शरीर पर अधिकार प्राप्त कर लेता है और फिर उस अधिकार से वह अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है। मनुष्य शरीर पर अधिकार से लक्ष्य प्राप्ति यही हो सकती है कि परमात्मा द्वारा प्रस्तुत की गई सामर्थ्य का प्रयोग किया जा सके।

प्रथम अर्थ जो हमने दिये हैं, उससे दूसरे अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। जीवात्मा और परमात्मा दोनों के अर्थ लेने से एक के दूसरे की सामर्थ्य के प्रयोग करने से दोनों के सहयोग का अभिप्राय है।

श्री स्वामी शंकराचार्य और अन्य भाष्यकार भी सूत्र संख्या २४ और २५ के विलक्षण अर्थ करते हैं, जिसका सूत्र से किसी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

स्वामी शंकराचार्य ब्र० सू० १-३-२४ का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

(प्रमित:) 'अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषो' इस प्रमितवाक्य प्रतिपाद्य पुरुष परमात्मा ही है (शब्दादेव) क्योंकि इशानो 'भूतभव्यस्य'। इस श्रुति में ईशान शब्द है।

यहाँ प्रमित: के अर्थ अंगुष्ठमात्र माने हैं। वास्तव में प्रमित के अर्थ हैं, वह जिसकी लम्बाई-चौड़ाई नाप ली गई है। इसके अर्थ सीमित भी हो सकते हैं, परन्तु वह अंगुष्ठ समान है, यह सिद्ध नहीं होता।

प्रमित: का अर्थ यह भी है कि जो प्रमाणित होता है अर्थात् जिसका नाप-तौल कर परीक्षण हो चुका हो। इसी को प्रमाणित हुआ माना जाता है।

अत: सूत्र 'शब्दादेव प्रमित:' का अर्थ हमने किया है—(शब्दात्) शब्द प्रमाण से (एव) भी (प्रमित:) सिद्ध होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब इस सूत्र में अंगुष्ठ प्रमाण का कहीं उल्लेख नहीं है तो अगले सूत्र में भी इसका उल्लेख नहीं मानना चाहिए।

श्री स्वामी ब्रह्म मुनिजी सत्य को पा गये प्रतीत होते हैं। वह इस सूत्र के अर्थ इस प्रकार करते हैं।

शब्दादेव प्रमितः—(प्रमितः—शब्दात्—एव) हृदय देश से प्रमित अर्थात् मान को प्राप्त हुआ—लक्षित हुआ, सम्यक् जाना हुआ परमात्मा शब्द प्रमाण से भी सिद्ध होता है।

श्री स्वामी ब्रह्म मुनिजी ने प्रमितः के अर्थ तो ठीक कर दिये। इसमें अंगुष्ठ शब्द को नहीं लाये। इस पर भी व्यर्थ में हृदय गुहा के प्रमाण को ले आये हैं। शब्द प्रमाण से केवल यह ही नहीं सिद्ध होता कि परमात्मा इस गुहा में है, वरन् यह भी सिद्ध होता है कि वह आकाश के अन्त तक है। इस कारण इस सूत्र में हमारा मत ही ठीक प्रतीत होता है। वह यह है—

शब्द प्रमाण से भी प्रमाणित है। उक्त सब सूत्र प्रमाणित हैं।

इसी के अनुरूप ही अगले सूत्र का अर्थ लेना चाहिए। उसमें अंगुष्ठ समान लाने की आवश्यकता नहीं। यह तो स्पष्ट ही है कि हृदय-स्थल में अंगुष्ठ बराबर कोई रिक्त स्थान नहीं है। जब रिक्त स्थान नहीं तो उसे गुहा किस प्रकार कहा जाएगा? दहर के अर्थ भी अंगुष्ठ समान नहीं। इसका अर्थ सूक्ष्म, अति सूक्ष्म है। अतः प्रस्तुत सूत्र (ब्र०सू० १-३-२५) का अर्थ वही ठीक है जो हमने ऊपर किया है। अंगुष्ठ इत्यादि का उल्लेख इसमें नहीं। मनुष्य (शरीर, मन और आत्मा) पर अधिकार प्राप्त होने से परमात्मा इसमें सामर्थ्य प्रदान करता है और जीवात्मा इस सामर्थ्य को दिशा देता है।

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥२६॥

तदुपरि+अपि+बादरायणः सम्भवात्।

तदुपरि=तत्+उपरि उस ओर जो कुछ ऊपर वर्णन किया गया है, उसके अतिरिक्त (बादरायणः अपि) बादरायण भी कहता है (सम्भवात्) सम्भव होने से।

इसका अभिप्राय यह है कि बादरायण ऋषि भी यह कहते हैं कि यह असम्भव नहीं। क्या असम्भव नहीं? यह कि जो परमात्मा आकाश के अन्त तक व्यापक है, वहीं हृदय की गुहा में भी है।

इस सूत्र में विवाद खड़ा कर दिया गया है। तदुपरि (तत् उपरि) वाक्य के अर्थों पर। हमने इस वाक्य का अर्थ किया है कि जो कुछ ऊपर के सूत्रों में युक्तियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा प्रमाण दिये हैं, उनसे भी अधिक बादरायण ऋषि कहते हैं कि यह सम्भव हो सकता है; जो सर्वत्र व्यापक है, वही गुहा में भी है।

श्री स्वामी शंकराचार्य जी यह मानते हैं कि पूर्व सूत्र (१-३-२५) में यह माना है कि मनुष्य को शास्त्र समझने के अधिकार से पता चलता है कि हृदय देश में परमात्मा है। हमने इसका अर्थ किया है—मनुष्य के शरीर, मनु, बुद्धि पर अधिकार से गुहा में स्थित परमात्मा से (मनुष्य की) क्रियायें चलती हैं। जीवात्मा तो उन क्रियाओं को दिशा देता है, जीव क्रिया की सामर्थ्य का निर्माणकर्ता नहीं है।

मनुष्य शास्त्र को समझता है अथवा नहीं समझता, इसका प्रश्न नहीं। इसी प्रकार 'तदुपरि' के अर्थ मनुष्य से ऊपर देवतागण नहीं। ऊपर जो कुछ कहा है, उससे अतिरिक्त भी बादरायण ऐसा मानते हैं। कारण यह कि यह सम्भव प्रतीत होता है।

यहाँ बादरायण ऋषि का नाम ऐसे आया है कि जैसे वह ब्रह्मसूत्रों के लिखने वाले से कोई पृथक् व्यक्ति है। यह सम्भव भी है और नहीं भी। दोनों प्रकार से लिखा जा सकता है। लेखक किसी दूसरे को साक्षी रूप से उपस्थिति कर सकता है और वह अपनी किसी बात को बलपूर्वक कहने के लिए अपने नाम का उल्लेख भी कर सकता है। अतः यह विवादास्पद बात नहीं। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि इन सूत्रों के लेखक बादरायण ऋषि हैं अथवा नहीं ? इस सूत्र से पक्ष-विपक्ष में कुछ नहीं कहा जा सकता।

श्री स्वामी शंकराचार्यजी हृदय की गुहा में परमात्मा को अंगुष्ठ समान मानते हैं। इसमें प्रमाण दिये हैं। सूत्र संख्या २४ के भाष्य में श्री स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति श्रूयते। तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्' (कठो० २-१-१३) इति च। तत्र योऽयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयते, स किं विज्ञानात्मा, किंवा परमात्मेति संशयः।

इसका अर्थ है—अंगुष्ठमात्र पुरुष मध्य आत्मा में ठहरा है। ऐसा सुना जाता है। और अंगुष्ठ मात्र पुरुष ज्योति के समान धूम रहित है। वह भूतभविष्यत का शासक है। वह आज है, वह ही आगे भी रहेगा। (कठो० २-१-१३) वहाँ जो यह अंगुष्ठ मात्र पुरुष सुना जाता है, वह क्या विज्ञानात्मा-जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ? यह संशय है।

यह संशय है कि हृदय की गुहा में जो अंगुष्ठ मात्र है, वह परमात्मा है अथवा जीवात्मा है ? यह संशय तो ठीक है, परन्तु इस संशय से उक्त सूत्र (१-३-२४) का सम्बन्ध क्या है ? वहाँ सूत्र में तो है 'शब्दार्थ—इव—प्रमितः'। इस सूत्र का अर्थ हम ऊपर कर आये हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब तनिक स्वामीजी के मन के संशय के विषय में भी देखना चाहिए कि श्रुति (कठो० २-१-१३) में कहीं संशय के लिए स्थान है क्या ?

कठोपनिषद् २-१-१२ तथा १३ में अंगुष्ठ मात्र शब्द का उल्लेख है। अंगुष्ठ मात्र का अर्थ अँगूठे के समान मात्रा वाला नहीं। इसका अर्थ अंगुष्ठ मात्र में रहने वाला है।

यदि अंगुष्ठ मात्र का अर्थ अँगूठे के समान भी समझा जाए तो भी किसके अँगूठे के, इसका कहीं वर्णन नहीं है। अतः हम इसको सूक्ष्म स्वरूप का पर्याय शब्द ही मानते हैं।

कुछ भी हो, इन श्रुतियों में यहाँ जीवात्मा तथा परमात्मा में संशय नहीं किया जा सकता। स्पष्ट शब्दों में यह उक्त उपनिषद् में परमात्मा के लिए ही प्रयोग हुआ है। उक्त दोनों मन्त्रों के अन्त में और इस पूर्ण वल्ली (कठो० २-१-३) के कई मन्त्रों के अन्त में शब्द है एतद्वैतत्—यह ही वह है। अर्थात् यह परमात्मा ही है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि कठोपनिषद् में यह वल्ली परमात्मा-परक ही है और वहाँ उल्लेख है कि शरीर के पूर्ण अंगों में प्रतिष्ठित वह परमात्मा ही है।

जब यह ज्ञात हो जाये कि इन सूत्रों का विषय वह नहीं जो कठोपनिषद् के उक्त उदाहरणों में है, तो सूत्रार्थ स्पष्ट हो जाते हैं। यह तो सूत्रों को उपनिषद् वाक्यों में बाँध रखने के कारण ही सूत्रार्थों में भ्रम उत्पन्न हुआ है। उनकी खींचातानी कर उपनिषद् के अनुकूल बनाने का यत्न किया जा रहा है।

अतः इस सूत्र का भाव यह है कि उक्त युक्तियों और प्रमाणों के अतिरिक्त भी महर्षि बादरायण का कहना है कि दहर में वही परमात्मा है, जो आकाशान्त पर्यन्त है। यह विचार असम्भव नहीं है।

यह असम्भव इस कारण नहीं कि परमात्मा सर्वव्यापक है; अतः उसका दहर में विद्यमान होना असम्भव नहीं है।

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

विरोधः + कर्मणि + इति + चेत् + न + अनेक + प्रतिपत्तेः + दर्शनात्।

कर्म में विरोध होता है यदि (यह कहो) तो (यह ठीक) नहीं (कारण यह) कि अनेक प्रतिपत्तियाँ दिखायी देती हैं।

भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने इसके कई प्रकार से विलक्षण भाष्य किये हैं। हम अपने पूर्व सूत्रों के भाष्यों के अनुरूप ही इसका भाष्य करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह यह कि प्राणी के शरीर में कर्म करने की शक्ति परमात्मा की ही है, परन्तु प्राणी के कर्मों में विरोध होता है। यदि हम कहें कि इस विरोध से कर्म करने की शक्ति परमात्मा की नहीं तो सूत्रकार कहता है कि यह कहना ठीक नहीं। कारण यह है कि अनेक हैं, जो कर्मों को दिशा देने वाले हैं। अर्थात् अनेक जीवात्मा कर्मों को दिशा देने वाले हैं। शब्द हैं (अनेक प्रतिपत्तेः दर्शनात्) अभिप्राय है कि अनेक प्रतिपत्तियाँ दिखाई देने से।

प्रतिपत्ति के अर्थ हैं शक्तियों के प्रभाव से। ये शक्तियाँ जीवात्माओं की हैं। साथ ही शरीर में मन एवं बुद्धि के प्रभाव भी विद्यमान हैं।

उदाहरणस्वरूप हाथ खाद्य पदार्थों को उठाकर मुख में डालने के लिए है, परन्तु हाथ कौन-सा पदार्थ उठाकर मुख में डाले अथवा कौन-सा न डाले, यह मन और बुद्धि के प्रभाव से पता चलता है। मन में खाद्य पदार्थों के रूप, रस, गंध के संस्कार रहते हैं। बुद्धि उन दिखायी देने वाले गुणों को परखती है और फिर आत्मा आदेश देती है और तब हाथ खाद्य-पदार्थ को उठाता है अथवा नहीं उठाता।

अतः कर्म में विरोध होने से शरीर में शक्ति रूप परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य को मानने में कारण नहीं। विरोध भिन्न-भिन्न शक्तियों के कारण होता दिखायी देता है।

अब देखें कि स्वामी शंकराचार्य इस विरोध और प्रतिपत्ति के विषय में क्या लिखते हैं! वह इसी सूत्र के भाष्य का इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

स्यादेतत्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो वर्ण्येत। विग्रहवत्त्वादृत्विगादिवदिन्द्रादीनामपि स्वरूपसंनिधानेन। कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत्। तदा च विरोधः कर्मणि स्यात्। नहीन्द्रादीनां स्वरूपसंनिधानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते। नच संभवति; बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपसंनिधानतानुपपत्तेरिति चेत्, नायमस्ति विरोधः। कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः।

ऐसा यदि हो तो शरीरधारी स्वीकार कर देवताओं आदि का विद्याओं में अधिकार कहा जाये तो शरीर वाला होने ने ऋत्विक् आदि के समान इन्द्रादि का भी स्वरूप संनिधान के कर्म में अंग भाव स्वीकार करना पड़ेगा। तब तो कर्म में विरोध होगा। कहो कि योग के स्वरूप-सान्निध्य से इन्द्रादि का अंग भाग देखने में नहीं आता और सम्भव भी नहीं है; क्योंकि बहुत योगों में एक ही समय में एक ही इन्द्र की स्वरूप से उपस्थिति अनुपपन्न है। ऐसा यदि कहो तो विरोध नहीं, क्योंकि अनेक प्रतिपत्ति है…।

कहीं किसी सूत्र में स्वामी शंकराचार्यजी यह कह आये हैं कि मनुष्य को शास्त्र में अधिकार है तथा देवता को भी है। अतः अब वह लिख रहे हैं कि देवता का शरीर मान लिया जाये तो अंग भी मानने पड़ेंगे। अंग मानेंगे तो कर्म में विरोध भी होगा। आप आगे कहते हैं कि देवता के अंग नहीं, अतः कर्म में विरोध भी नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब पाठक देख लें कि सूत्र के अर्थ और इस व्याख्या में, कहाँ मेल है ? कर्म में विरोध तो है। यह तो सूत्रकार भी मानता है। देवता और मनुष्य का विवाद नहीं। जिस बात की ओर संकेत है, वह यह है कि ईश्वरीय शक्ति तो एक है; फिर भिन्न-भिन्न काम क्यों हैं ?

देवताओं में जो कर्म एक बार चल गया तो फिर चल गया। वही चलता रहता है। उदाहरण के रूप में सूर्योदय लाखों वर्षों से पूर्व से हो रहा है तो होता रहेगा। वह कभी भी पूर्व से पश्चिम् में नहीं हो सकता। अतः देवताओं के कर्म में विरोध नहीं है। चन्द्र तथा अन्य तारागणों एवं नक्षत्रों की गति भी स्थिर है।

अतः सूत्र में कर्म-विरोध की बात देवताओं के सन्दर्भ में नहीं कही। यह प्राणी के हृदय की गुहा में स्थित परमात्मा के प्राणी के शरीरों में निमित्त कर्मों की बात है।

उदाहरण के रूप में एक मनुष्य नित्यप्रातः भ्रमण के लिए जाता है। वह नित्य एक ही ओर जायेगा, ऐसा निश्चय नहीं। वह भ्रमण की दिशा तथा स्थान बदल सकता है। साथ ही एक प्राणी पूर्व को भ्रमण करने जाता है तो दूसरा पश्चिम को जाता हैं। एक प्राणी प्रातः भ्रमण को जाता है और दूसरा सायं भ्रमण के लिए निकलता है। भ्रमण करने की शक्ति सबमें परमात्मा की है, परन्तु उस शक्ति पर प्रतिपत्ति भिन्न-भिन्न जीवात्माओं की तथा उनकी बुद्धि अथवा मन की है। इस कारण कर्म में भेद दिखायी देता है।

स्वामीजी का पूर्ण भाष्य ही असंगत है।

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।।२८।।

शब्द+इति+चेत्+न+अतः+प्रभवात्+प्रत्यक्ष+अनुमानाभ्याम्।

शब्द प्रमाण से यह यदि (मानो) तो नहीं। (अतः) उससे (प्रभवात्) सृष्टि उत्पत्ति से, प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से (पता चलता है)।

यदि शब्द प्रमाण से यह मानो कि परमात्मा से कर्मों में विरोध है, तो यह बात गलत है। अर्थात् वेदादि शास्त्रों में कहीं नहीं लिखा। इसलिए प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से सृष्टि उत्पत्ति के सिद्ध हो जाने से।

इस सूत्र के दो भाग हैं। एक में तो यह लिखा है कि उक्त सूत्र (१-३-२७) में जो (विरोधः कर्मणि इति) लिखा है; अर्थात् कर्मों में विरोध है, लिखा है कि ऐसा वेदादि शास्त्रों में भी नहीं है।

सूत्र संख्या २७ में तो बताया है कि जो विरोध दिखाई देता है, वह भिन्न-भिन्न जीवात्माओं और उनके मन और बुद्धि के कर्म पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण है। सूत्र संख्या २८ में यह बताया है कि यह विरोध वेदादि शास्त्रों में भी नहीं है।

सूत्र का दूसरा भाग है—'अतः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।' अतः का अभिप्राय है कि पूर्व कथन से यह परिणाम निकलता है कि सृष्टि की उत्पत्ति उससे ही हुई है, प्राणी का शरीर भी उसी से उत्पन्न हुआ है, यह बात प्रत्यक्ष और अनुमान पमाण से सिद्ध होती है। इस (सिद्ध होने) से भी यह परिणाम निकलता है कि ईश्वरीय कर्मों का विरोध नहीं है। जब सबकुछ ईश्वर से बना है तो उसके कर्मों में विरोध नहीं हो सकता। यह कहना कि वेदादि शास्त्रों में विरोध दिखायी देता है, गलत है।

अन्य भाष्यकारों ने इस सूत्र के भाष्य में भी विलक्षणता की है। हमारा उनसे विरोध सूत्र १-३-१५ से ही आरम्भ हुआ है। हमने उस सूत्र का अर्थ किया है कि गति और इन्द्रियों के कर्म परमात्मा के लिंग (चिह्न) के रूप में दिखायी देते हैं।

इस सूत्र में पहले 'दहर' में परमात्मा की विद्यमानता का उल्लेख है। दहर है हृदय में सूक्ष्म स्थान, जहाँ जीवात्मा शरीर में रहता हुआ परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। इस सूत्र के सन्दर्भ में प्राणी के शरीर में ईश्वर के लिंगों का वर्णन आ गया है। इन लिंगों का ही इस (१-३-१५) में वर्णन किया है। शरीर में कार्य-शक्ति परमात्मा की है। इतना बताने के उपरान्त कई प्रकार के संशय उत्पन्न हुए और उन संशयों का निवारण सूत्रकार ने किया है।

एक संशय यह है कि यदि शरीर में कर्म की शक्ति परमात्मा की है तो फिर जीवात्मा क्या करता है?

सूत्रकार ने इसका निवारण सूत्र १-३-१८ में बताया है कि शरीर में कार्य दूसरे के परामर्श से होता है।

इसी प्रकार सूत्र १-३-२० में यह बता दिया है कि यह परामर्श परमात्मा के के लिए अर्थात् उसकी शक्ति को दिशा देने के लिए है।

इसी प्रकार सूत्र संख्या १-३-२५ में यह सूत्र संख्या १५ की गूंज चली आ रही है। हृदय में रहता हुआ परमात्मा एवं जीवात्मा मनुष्य के शरीर मन, और बुद्धि पर अधिकार रखता है।

पुनः सूत्र संख्या १-३-२६ में तदुपरि के अर्थ श्री स्वामीजी ने देवता कर दिया है। देवता चेतन जीवात्मा की भाँति प्राणी नहीं हैं जिनको मनुष्य की भाँति कर्मों को दिशा देने का अधिकार हो। इस सूत्र में देवता मानने से (मनुष्याधिकारत्वात्) अर्थ भी पूर्वापर से विलक्षण करना पड़ेगा।

इस प्रकार एक स्थान पर जीवात्मा के सिद्ध होने के भय से स्वामीजी ने अर्थ बिगाड़े तो फिर बिगाड़ते ही चले गये हैं। यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि सूत्रों का बँटवारा अधिकरणों में करने की प्रथा भी स्वामीजी की है। ब्रह्मसूत्रों के रचयिता की यह योजना नहीं। इसके कारण भी कई सूत्रों के अर्थों में अनर्थ हुए हैं।

सूत्र प्रायः स्वतन्त्र रूप से अर्थ देते हैं। इनका परस्पर भावात्मक सम्बन्ध तो है, परन्तु वह सम्बन्ध उससे भिन्न भी हो सकता है, जो श्री स्वामीजी ने बताया है।

अत एव च नित्यत्वम् ॥२९॥

अतएव + च + नित्यत्वम्।

और इसलिए कि उसमें नित्यता (अनादित्व, अक्षरत्व) है। परमात्मा में नित्यता है; इस कारण उसके कर्मों में विरोध नहीं। ईश्वर का नित्य होना भी कर्मों में विरोध न होने का प्रमाण है। विरोधी कर्म करने वाला नित्य नहीं हो सकता। यही युक्ति कहती है। जीवात्मा के कामों में विरोध उसकी बुद्धि के कारण है। बुद्धि अनित्य है।

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥३०॥

समान + नाम + रूपत्वात् + च + आवृत्तौ + अपि + अविरोधः + दर्शनात् + च + स्मृतेः।

समान नाम तथा रूप वाली, सर्ग सर्ग पर, बार-बार वैसी ही सृष्टि होने से अविरोध ही दिखाई देता है तथा स्मृति में भी ऐसा ही उल्लेख है।

बार-बार सर्ग उत्पत्ति में समान नाम और रूप के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। द्यूलोक का निरीक्षण करने से चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र एवं ग्रहों का ज्ञान प्राप्त करने से यही पता चलता है कि सर्ग सर्ग के पुनः-पुनः आरम्भ होने में समान नाम, रूप के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अतः परमात्मा की नित्यता सिद्ध होती है और उस नित्य पदार्थ के कर्मों में विरोध नहीं होता।

मनुस्मृति में (मनु० १-२८) यही बात कही गई है।

महाभारत (१२-१३२-२४, २४, २६, और २७ गोरखपुर संस्करण) में भी ऐसा ही लिखा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ।।३१।।

मध्वादिषु + असम्भवात् + अनधिकारं + जैमिनिः ।

मध्वादिषु का अभिप्राय है कि मधु छन्दादि वेद द्रष्टा ऋषियों में किसी अनधिकारी का होना असम्भव है, ऐसा जैमिनी का मत है ।

इसका अभिप्राय यह है कि वेद के मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों में अनधिकारी नहीं थे ।

यह वेद-द्रष्टा कौन थे ? वेदों को सृष्टि पर लाने वाले कौन थे ? ये प्रश्न उपस्थित होते हैं । यह वेदों में ही लिखा है कि अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा ने वेद इस सृष्टि को दिये । ऋषियों ने वेद श्रवण किये और मन्त्रों द्वारा उच्चारित कर दिये । वे ऋषि मन्त्र-द्रष्टा हैं । महर्षि जैमिनिजी का कहना है कि इन मन्त्र-द्रष्टाओं में अनधिकारी नहीं थे ।

अनधिकारी कैसे मन्त्रों को सुनने से वंचित किये गये ? सुनते तो होंगे परन्तु समझने से अवश्य वंचित हुए प्रतीत होते हैं ।

इस सूत्र में विवाद यह खड़ा किया गया है कि ये अनधिकारी कौन हैं ?

श्री स्वामी शंकराचार्यजी अनधिकारी के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत्प्रतिज्ञातं तत्पर्यावर्त्यते । देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कस्मात् ? मध्वादिष्वसंभवात् । ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारोऽभ्युपगम्ये । न चैवं संभवति । कथम् ? 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छा० ३-१-१) इत्यत्र मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासीरन् ।

इसका अभिप्राय यह है कि यह जो प्रतिज्ञा की गयी है कि यहाँ ब्रह्मविद्या में देवादि का अधिकार है, उस पर आक्षेप करते हैं । जैमिनि आचार्य का मत है कि देवादि का ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है । क्योंकि मधु आदि में उनका अधिकार सम्भव नहीं है । ब्रह्म विद्या में उनका अधिकार स्वीकार करने पर विद्यात्व दोनों में समान होने के कारण मधु आदि विद्या में उनका अधिकार मानना पड़ेगा । परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि 'असौ वा आदित्यो' (छा० ३-१-१) इसमें मधु के अभ्यास से आदित्य की मनुष्य उपासना करें··· ।

हमारा यह दृढ़ मत है कि इस भाष्य का सूत्रार्थ के साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है ।

सूत्र में तो यह लिखा है कि जैमिनि ऋषि के अनुसार मध्वादि में अनधिकारी का होना सम्भव नहीं ।

अनधिकारी देवता ही हैं । यह कहाँ से आ गया ? साथ ही जैमिनि का कथन सूत्रकार बादरायण ऋषि का विरोध करता है, ऐसा कहां लिखा है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छा० ३-१-१ भी देखा जाये तो देवताओं के अधिकारी-अनधिकारी होने की बात का पता चल जायेगा।

यह इस प्रकार है—

असौ वा आदित्यो देवमधु। तस्य द्यौरेव तिरश्चीनव शोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः॥

यह उपनिषद् वाक्य उपासना के विषय में है ही नहीं। सूर्य की किरणें जब तिरछी चलती हैं तो अन्तरिक्ष में मरीचि किरणें उत्पन्न होती हैं। इन्हीं मरीचि किरणों से भूमि पर मरीचिका (miraj) उत्पन्न होती हैं। इस उपनिषद् के इस खण्ड के अगले मन्त्रों को देखें तो पता चलेगा कि इस उपनिषद् में मधु का अर्थ मध्वादि ऋषि बनता ही नहीं। मधु का अर्थ सुखकारक है।

आदित्य की किरणें सुखकारक, पौष्टिक इत्यादि गुणों से युक्त हैं, परन्तु जब तिरछी चलती हैं तो ये मरीचि किरणों को उत्पन्न करती हैं। अतः भ्रम उत्पन्न कर देती हैं।

इसके आगे (छा० ३-१-२ में) लिखा है कि प्रातः के समय जो किरणें आदित्य से आती हैं, वे मधु नाड़ियाँ हैं। अर्थात् मनुष्य के स्नायुमण्डल (nervous system) को सुख और पुष्टि देती हैं।

हम पहले भी कह चुके हैं कि स्वामी शंकराचार्य दर्शनशास्त्र एवं उपनिषदों को समझे ही नहीं और व्यर्थ में वह पाठकों के लिए बोझा छोड़ गये हैं।

इस सूत्र का निश्चय अर्थ यह है कि जैमिनी ऋषि भी कहते हैं कि वेद का प्रमाण देने में संकोच नहीं, क्योंकि मध्वादि वेद मन्त्रों को समझकर प्रकट करने वालों में अनधिकारियों का हस्तक्षेप नहीं है।

इस सूत्र के और वेद मन्त्रों के विषय में इस आश्वासन की आवश्यकता इस कारण अनुभव हुई कि इससे पहले सूत्र में यह लिखा है कि प्रति सर्ग के आरम्भ में सब पदार्थ और वेद भी वैसे ही प्रकट होते हैं, जैसेकि पहले सर्ग में थे। वेदों की रचना ऋषियों के द्वारा हुई है। सूत्रकार का कहना है कि इस समय जो वेदमन्त्र मध्वादि ने कहे हैं, वे ठीक हैं। क्योंकि उनमें अनधिकारी का हस्तक्षेप नहीं है।

अनधिकारी का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने शूद्र किया है। उनका कहना है कि शूद्रों को वेद विद्या में अधिकार नहीं।

शूद्र यदि गुणवाचक भी मान लिया जाये, जो पढ़ा-लिखा नहीं और जो सेवा कार्य ही करता है, तब भी यह अर्थ मिथ्या है। वेद इसके विरुद्ध है।

वेद में एक मन्त्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्या्ँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः
समृध्यतामुप मादो नमतु। (यजु० २६-२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका भाव है कि जैसे परमात्मा वेद की कल्याणमयी वाणी सब उत्पन्न हुओं को जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी सम्मिलित हैं, अपने और पराये सबके लिए देता है; इसी प्रकार विद्वान् को दान-दक्षिणा देने वाला इस लोक में प्रिय हो। सबकी कामनाएँ पूर्ण हों, सब प्रयोजन सबको प्राप्त हों।

इस मन्त्र की विद्यमानता में अनधिकारी से शूद्र का प्रयोजन नहीं है।

सूत्रकार का अर्थ केवल यह है कि सर्ग के आरम्भ में जिन ऋषियों ने देवताओं से लेकर मन्त्र उच्चारण किये, उनमें कोई अनधिकारी अयोग्य नहीं था, सब ऋषि पद के योग्य थे।

ज्योतिषि भावाच्च ॥३२॥

ज्योतिषि+भावात्+च।

और ज्योति में होने से।

ज्योति के अर्थ यजुर्वेद के आठवें अध्याय के ३६वें मन्त्र से लिये जाते हैं। इस मन्त्र से इसके अर्थ क्यों लिये जाते हैं, इसका कोई कारण नहीं बताया। हमारे विचार में यह स्वामी शंकराचार्य की प्रकृति ही है कि सूत्र के किसी शब्द को उपनिषदादि के मन्त्रों में वही शब्द ढूंढ़ा गया और फिर सूत्र के अथवा उपनिषद् के अर्थ को तोड़-मरोड़कर सामञ्जस्य बैठा लिया गया।

सूत्र का अर्थ है कि ज्योति में होने से। भाष्यकारों ने ज्योति के सीधे अर्थ प्रकाश (ज्ञान) न लेकर भाग-दौड़ कर वेद अथवा उपनिषद् में इस शब्द को ढूंढ़ निकाला है और उसमें ज्योति शब्द देखकर अर्थ लगाने आरम्भ कर दिये हैं। यह दर्शनशास्त्र के अभिप्राय जानने का ढंग ठीक नहीं।

स्वामी शंकराचार्यजी ने ज्योति के अर्थ आदित्यादि देवतागण किये हैं और कहा है कि जैमिनि ऋषि का मत है कि देवताओं का वेद विद्या में अधिकार नहीं।

सूत्र तो केवलमात्र इतना है कि ज्योति में होने से। इसके अतिरिक्त पूर्वापर के साथ सम्बन्ध रखते हुए अर्थ लगाने चाहिए। इससे पूर्व सूत्र का अर्थ है मध्वादि में अनधिकार का हस्तक्षेप असम्भव है। ऐसा जैमिनि का मत है।

सूत्र है 'ज्योति में होने से।'

दोनों सूत्रों को एक साथ पढ़ने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि अनधिकारी का मन्त्रों को ग्रहण करने में अधिकार नहीं। (क्योंकि) उनको वेद मन्त्रों का ज्ञान न होने से।

यहाँ ज्योति का अर्थ ज्ञान है। सर्ग के आरम्भ की बात हो रही है। देवता-गण (अग्नि, आदित्य, इन्द्रादि देवता इत्यादि) वेद को इस लोक में भेज रहे थे और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋषिगण उनको समझकर उनका उच्चारण कर रहे थे, अनपढ़ मूर्ख लोग वेद समझने वाले ऋषियों में नहीं थे। क्योंकि वेद ज्ञान का भण्डार है और मन्त्रों में ज्योति (ज्ञान) होने से ज्ञानी ही इसे समझ सकते थे।

इस विषय में वेद मन्त्र भी हैं—

ऋग्वेद (१०-१३०-४, ५) में कहा है कि अग्नि, सूर्य, बृहस्पति, इन्द्र, वरुण आदि ने छन्द प्रसारित किये और ऋषियों ने सुनकर स्वयं और मनुष्यों को ज्ञानवान् किया।

अभिप्राय यह है कि परमात्मा का ज्ञान मध्यस्थानी देवताओं द्वारा शक्ति की भाँति तंरगों में चारों ओर विखेरा जा रहा है और उए देवताओं की वाणी को (पशव:) द्रष्टा लोग, ऋषिगण उसे गाय के दूध की भाँति दोहन कर मनुष्य के कल्याण के लिख देते हैं।

देवताओं की वाणी में ज्ञान-विज्ञान भरा रहता है और उसको ऋषि लोग ही समझ सकते हैं। अनधिकारी अर्थात् अज्ञानी को वह पता नहीं चलती।

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।।३३।।

भावं+तु+बादरायणः+अस्ति+हि ।

होने को तो बादरायण है। अभिप्राय यह है कि होने को तो बादरायण (मानता) है।

क्या होने को मानता है ? ज्ञान में होने को। पूर्व सूत्रानुसार वेद ज्ञानमय है। उसे समझने के लिए अधिकारी (वेदानुसार पशव: अर्थात् द्रष्टा) होना आवश्यक है।

इस सूत्र में 'तु' शब्द से प्राय: भाष्यकार ऐसा मानते हैं कि बादरायण जैमिनि के मत का विरोध कर रहा है। वास्तव में ऐसा नहीं है।

सूत्र संख्या १-३-३२ और १-३-३३ परस्पर विरोधी भाव प्रकट नहीं कर रहे।

स्वामी शंकराचार्यजी इन सूत्रों को देवताओं और मानवों में विरोध बताने वाले मानते हैं। [स्वामी ब्रह्म मुनिजी अनधिकारी का अर्थ शूद्र करते हैं। इस प्रकार इन सूत्रों से भारी भ्रम फैलाया गया है। इस भ्रम का आरम्भ दो स्थानों से हुआ है। एक सूत्र १-३-२६ से दूसरे १-३-३१ से। सूत्र संख्या १-३-२६ में शब्द है 'तदुपर्यपि।' इसके अर्थों में भ्रम उत्पन्न किया गया है। स्वामी शंकराचार्य 'तदुपर्यपि' के अर्थ करते हैं तत्—उपरि—अपि। तत् का अर्थ करते हैं मनुष्य; से उपरि से श्रेष्ठ अर्थात् देवता और अपि का अर्थ भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत् का अर्थ है वह अर्थात् जो पहले वर्णित है। पहले सूत्र में 'मनुष्याधिकारत्वात्' वाक्य आये हैं। स्वामीजी के अनुसार इसका अभिप्राय है मनुष्य अधिकृत। अर्थात् मनुष्य अधिकारी है। यह अर्थ इस पद के बनते नहीं। पूर्ण सूत्र को पढ़ने से अर्थ बनते हैं कि मनुष्य पर अधिकार होने से।

सूत्रार्थ हम ऊपर लिख आये हैं—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।। १-३-२५।।

हृदय में रहते हुए अपेक्षा से, अर्थात् मनुष्य पर अधिकार से। अभिप्राय यह है कि हृदय में रहते हुए परमात्मा एवं जीवात्मा मनुष्य के कर्मों पर अधिकार रखते हैं। परमात्मा मनुष्य के अंग-प्रत्यंग में सामर्थ्य प्रदान करता है और जीवात्मा उस सामर्थ्य को स्थान, दिशा तथा काल प्रदान करता है। अभिप्राय यह कि सामर्थ्य कब तथा किस प्रकार से प्रयोग हो, इसका निश्चय जीवात्मा करता है।

मनुष्य को वेद पढ़ने का अधिकार है, ऐसा स्वामी शंकराचार्यजी के भाष्य का अर्थ है। इस अर्थ से अगले सूत्र में 'तदुपर्यपि' के अर्थ कर दिये हैं कि मनुष्य से ऊपर देवताओं का भी वेदों में अधिकार है।

इन सूत्रों में वेद कौन पढ़े अथवा कौन न पढ़े का अभिप्राय नहीं। इसी प्रकार सूत्र संख्या १-३-३१ 'मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः' में है।

शब्द 'अनधिकारं' से देवताओं का प्रसंग जोड़ दिया है कि जैमिनि ऋषि देवताओं को वेद में अनधिकारी मानते हैं।

हमारा उनसे मतभेद है। ये सूत्र (१-३-३१ तथा १-३-३३) परस्पर विरोधी नहीं हैं।

हम अगले दो पृष्ठों पर एक तालिका दे रहे हैं, जिनमें सूत्र १-३-२४ से १-३-३३ तक स्वामी शंकराचार्य के, श्री उदयवीर शास्त्री के तथा अपने अर्थ तुलनात्मक भाव में उपस्थित किये गये हैं। इस तालिका से यह ज्ञान हो सकेगा कि किसके अर्थों में परस्पर सूत्रों में तथा ग्रन्थ के उद्देश्य से सामञ्जस्य बनता है।

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ।।३४।।

शुक्+अस्य+तद्+अनादर+श्रवणात्+तत्+आद्रवणात्+सूच्यते+हि।

तद्=उनसे। अनादर श्रवणात्=अनादर युक्त वाक्य सुनने से। शुक्=शोक। अस्य=इसको। तद्=उसके। आद्रवणात्=दौड़ आने से। हि=निश्चय पूर्वक। सूच्यते=सूचित होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	स्वामी शंकराचार्य के अर्थ	श्री उदयवीर के अर्थ	हमारे अर्थ
(२४) शब्दादेव प्रमितः	अंगुष्ठ मात्र शास्त्रानुसार परमात्मा ही है।	शब्द से (शास्त्रानुसार) व्यापक ब्रह्म परिमित रूप में प्रतिपादित है।	शब्द (वेद वाक्य) से भी प्रमाणित है कि दहर में परमात्मा ही है।
(२५) हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्।	शास्त्र में मनुष्य अधिकृत है। हृदय की अपेक्षा मनुष्य में अंगुष्ठ मात्र कहा गया है।	हृदय में अपेक्षा से तो मनुष्य मात्र का अधिकार होने से।	हृदय (दहर) में अपेक्षा रखने से मनुष्य पर अधिकार से।
(२६) तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्।	मनुष्य से श्रेष्ठ देवादि भी। ऐसा बादरायण का मत है।	इससे ऊपर भी बादरायण आचार्य सम्भव समझते हैं।	जो कुछ ऊपर वर्णन किया गया है, उससे ऊपर (अतिरिक्त) बादरायण भी संभव समझते हैं।
(२७) विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्।	इन्द्रादि देवताओं का यदि शरीर माना जाये तो कर्म में विरोध हो जाएगा। ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं। क्योंकि युग-पत् एक को ही अनेक शरीरों की प्राप्ति होती है। ऐसे देखने से।	कर्म में विरोध यदि कहो तो नहीं। अनेक प्रतिपत्ति सिद्ध शक्ति के देखे जाने से।	कर्मों में विरोध होता है। यदि कहो तो नहीं। क्योंकि अनेक प्रतिपत्तियों (हस्तक्षेपों) के दिखाई देने से।
(२८) शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।	उक्त विरोध वेद वाक्य में होगा। ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं। क्योंकि उत्पत्ति इस बात का प्रत्यक्ष (श्रुति) अनुमान स्मृति-सिद्ध है।	यह (कर्मों में विरोध) यदि वेद में कहो तो नहीं। उससे उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष और अनुमान से।	शब्द प्रमाण से यदि (मानो) तो नहीं। अतः प्रभव (सृष्टि की उत्पत्ति) से प्रत्यक्ष और अनुमान से पता चलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२६) अत एव च नित्यत्वम् ।	वेद के नित्य होने से देवादि समस्त जगत् उत्पन्न होने से ।	इस कारण से और नित्यता । इस कारण से ही वेद की नित्यता है ।	और इसलिए कि उससे नित्यत्व अनादित्व (अमरत्व) है ।
(३०) समाननामरूपत्वाच्चा – वृत्तावप्यविरोधो दर्श-नात्स्मृतेश्च ।	सृष्टि प्रलय की आवृत्ति होने पर भी शब्द और अर्थ सम्बन्ध में अनित्यता का विरोध नहीं; क्योंकि उत्तर कल्प में नाम रूप पूर्व कल्प के समान है। स्मृति में दिखाई देने से ।	समान नाम तथा रूप होने से, आकृति में भी विरोध नहीं, श्रुति और स्मृति से ।	सर्ग सर्ग पर बार-बार गुण तथा रूप समान होने से अविरोध ही दिखाई देता है। स्मृति में भी देखा जाता है ।
(३१) मध्वादिष्वसंभवादनधि - कारं जैमिनिः ।	(असौ वा आदित्यो देवमधु) इत्यादि उपासनाओं में (देवादि) का अधिकार असम्भव होने से । जैमिनि आचार्य का मत है ।	मधु आदि में सम्भव न होने से अधिकार न होने को जैमिनि आचार्य कहता है ।	मधु आदि (वेद द्रष्टा ऋषियों) में अनधिकारी नहीं थे । यह जैमिनी का मत है ।
(३२) ज्योतिषि भावाच्च ।	दृश्यमान ज्योति-मण्डल में आदित्य शब्द का प्रयोग । और प्रत्यक्ष होने से (देवादि का) ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं ।	ज्योति में होने से भी (ब्रह्म विद्या) में मनुष्य मात्र का अधि-कार प्रतीत नहीं होता ।	ज्योति (ज्ञान) में होने से । (अधिकारी अज्ञानी नहीं से ।
(३३) भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।	बादरायण का (विपरीत) मत है कि (देवताओं का शरीर होने से ब्रह्म विद्या में अधिकार, निश्चय से है) ।	होने को तो बादरायण है; क्योंकि बादरायण मनुष्यमात्र मानता है ।	होने को तो बादरायण भी मानता है। (वेद के ज्ञानमय होने को और उसमें अनधिकारी के अधिकार न होने को) ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनसे, अनादर सुनने से, का अभिप्राय है कि अनधिकारियों अर्थात् अज्ञानियों से वेद के विषय तथा ब्रह्म विद्या में अनादर युक्त बात सुनने से उनके (इनके) दौड़ आनें से निश्चय शोक सूचित होता है।

इस सबका अभिप्राय यह है कि जब अनधिकारी अर्थात् अज्ञानी वेद तथा ब्रह्म के प्रति अनादर का भाव प्रकट करते हैं तो वेद अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान उनसे भाग जाता है। यह शोक से कहा जाता है।

अज्ञानी ज्ञान की बात का अनादर करें तो ज्ञान उनसे भाग जाता है। यही बात ब्रह्मविद्या के विषय में कही जाती है।

इस सूत्र के अर्थ श्री स्वामी शंकराचार्य इस प्रकार करते हैं। जब ऊपर के सूत्रों में उन्होंने मनुष्य को वेद तथा ब्रह्म विद्या का अधिकारी बताया तो केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए ही बताया है। शूद्र के लिए यहाँ कह दिया है कि यह उनके लिए नहीं।

हम आरम्भ से ही कह रहे हैं कि वेद में अधिकार के विषय में वह मनुष्य, देवता, शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रियों को व्यर्थ में घसीट कर ले आये हैं। सूत्र के सरल अर्थ तो यह ही हैं कि ब्रह्म-विद्या अज्ञानियों, जो इसका अनादर करते हैं, से भाग जाती है। यह उनकी समझ में आती ही नहीं।

ब्रह्म विद्या क्या है? यह हम कई बार ऊपर भी बता चुके हैं कि ब्रह्म परमात्मा, जीवात्मा और मूल प्रकृति को कहते हैं। इन तीनों के ज्ञान का नाम ब्रह्म विद्या है। ब्रह्मसूत्रों में तीनों के विषय में ज्ञान दिया है। वह ब्रह्म विद्या वेदादि शास्त्रों में है। अतः ब्रह्म विद्या और वेद पर्यायवाचक शब्द हैं।

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

क्षत्रियत्व+गतेः+च+उत्तरत्र=चैत्ररथे+न+लिङ्गात्।

च उत्तरत्र=और आगे यह है कि। क्षत्रियत्व=क्षात्र धर्म में। गतेः= व्यवहार से। चैत्ररथे=सुन्दरता में होने के। लिङ्गात्=लक्षणों से। न=नहीं।

इस सूत्र में उपमा दी है कि क्षत्रिय किसी सुन्दर रथ में होने के चिह्न से नहीं जाना जाता, वरन् क्षात्र धर्म में व्यवहार रखने से जाना जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म विद्या अथवा वेद के जानने से ही कोई ज्ञानी माना जा सकता है; न कि वेद पाठ करने से।

वेद पाठ और सुन्दर रथ में सवारी करने की तुलना की गयी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

संस्कार + परामर्शात् + तद् + अभाव + अभिलापात् + च।

च = और। संस्कारपरामर्शात् = संस्कारों की सम्मति से। अभाव = न होने के। अभिलापात् = कथन करने से।

अज्ञानी क्यों ब्रह्म विद्या के विषय में अनादर युक्त व्यवहार करते हैं? सूत्रकार कहता है कि उनमें अच्छे संस्कारों का अभाव होता है।

ब्रह्म विद्या के प्रति अच्छे व्यवहार के लिए कैसे संस्कार होने चाहिए? वे संस्कार ऐसे होने चाहिए, जिससे कि जिज्ञासा और विवेक की भावना उत्पन्न हो। यह हम ऊपर बता आये हैं कि बिना विवेक के कोई मनुष्य किसी भी सद्ज्ञान में उन्नति नहीं कर सकता। विवेक का अभिप्राय है पूर्वग्रहों से मुक्ति।

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

तद् + अभाव + निर्धारणे + च + प्रवृत्तेः।

उस (श्रेष्ठ संस्कारों के) अभाव का निश्चय और प्रवृत्ति अर्थात् स्वभाव से है। यह जाना जा सकता है कि ब्रह्म विद्या में कौन अधिकारी है और कौन अनधिकारी? प्रवृत्ति से अर्थात् स्वभाव से। स्वभाव संस्कारजन्य होते हैं। संस्कारों से जिसके विवेक उत्पन्न हो गया, वह ब्रह्म विद्या के जानने का अधिकारी है।

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥३८॥

श्रवण + अध्ययन + अर्थ + प्रतिषेधात् + स्मृतेः + च।

अभिप्राय यह कि श्रवण और स्मृतिशास्त्र का विरोध करने से अच्छे संस्कार (जिज्ञासा और विवेक) उत्पन्न नहीं हो सकते।

जो व्यक्ति किसी की बात सुनता नहीं, शास्त्राध्ययन नहीं करता, शास्त्र के यथार्थ अर्थों का विरोध करता है और स्मृतिशास्त्र का विरोध करता है, वह अज्ञानी ही रहता है। वह ब्रह्म विद्या का अधिकारी नहीं।

भगवद्गीता में तो इस प्रकार लिखा है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

(भ० गी० १८-६७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हें यह ज्ञान तपरहित, भक्तिरहित, सुनने की इच्छा से रहित और परमात्मा की निन्दा करने वाले को नहीं कहना चाहिए।

और सूत्रकार कहता है कि ऐसे व्यक्ति से ज्ञान भाग जाता है अर्थात् उनको ज्ञान हो ही नहीं सकता।

प्राणः कम्पनात् ।।३९।।

कम्पन उत्पन्न करने से (परमात्मा को) प्राण कहा जाता है।

परमात्मा के बिना कम्पन नहीं होता। कम्पन का गति से भेद समझ लेना चाहिए। कम्पन उस गति को कहते हैं, जो कि एक केन्द्र-बिन्दु के चारों ओर होवे और बार-बार होवे। गति तो एक ही दिशा में चलते जाने को कहते हैं। जगत् में और ब्रह्माण्ड में गति नहीं देखी जाती। कम्पन (vibration) ही देखा जाता है। सब नक्षत्रादि जो एक ही दिशा में चलते हुए प्रतीत होते हैं, वे एक केन्द्र के चारों ओर बार-बार चक्कर काटते हैं। इसी को कम्पन कहते हैं।

ज्योतिर्दर्शनात् ।।४०।।

ज्योतिः+दर्शनात्।

प्रकाश अथवा ज्ञान के देखने से परमात्मा की सिद्धि होती है।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।।४१।।

आकाश+अर्थान्तरत्व+आदि+व्यपदेशात्।

आकाश जब दूसरे अर्थों में उपदेश (ईक्षणादि में उपदेश) किया जाए, तब परमात्मा का वाचक है।

आकाश पंचभौतिक भी है। अन्य भी कई अर्थों में आकाश आता है। इन अर्थों से भिन्न आकाश जो है, वह केवल परमात्मा का वाचक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।।४२।।

सुषुप्ति + उत्क्रान्त्योः + भेदेन।

सुषुप्ति और उत्क्रान्ति (जागृत) अवस्था में भेद होने से यह (जीवात्मा) वह परमात्मा नहीं, जो प्राण, आकाश एवं ज्योति से स्मरण किया जाता है।

इस सूत्र का अर्थ है कि ऊपर जिसको प्राण, ज्योति और आकाश स्वरूप बताया है, उसमें सुषुप्ति और जागना नहीं होता। जिसमें यह है, वह भिन्न है। वह परमात्मा नहीं।

पत्यादिशब्देभ्यः ।।४३।।

पति + आदि + शब्देभ्यः।

उक्त भेद जो सुषुप्ति और जागृत अवस्था वाले जीवात्मा से परमात्मा में है, उसे शास्त्रों में प्रकट करने के लिए परमात्मा को पति आदि शब्दों से प्रकट किया जाता है।

प्रथम अध्याय के दूसरे और तीसरे पाद में परमात्मा की जीवात्मा और प्रकृति से भिन्नता सिद्ध की गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ पाद

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीर-रूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।।१।।

आनुमानिकम् + अपि + एकेषाम् + इति + चेत् + न = शरीररूपक + विन्यस्तगृहीतेः + दर्शयति ।

आनुमानिकम् = अनुमान के ढंग से । अपि = भी । एकेषाम् = कुछ एक के मत से । इति = यह कार्य जगत् है । (जगत् का मूल कारण जड़ है) चेत् न = यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं । शरीर रूपक = शरीर के उदाहरण में । विन्यस्त = दृष्टान्त से । गृहीतेः = स्वीकार करने से । दर्शयति = प्रतिपादित होता है ।

इसका अभिप्राय है कि कुछ एक नास्तिक जो परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानते, वे अनुमान के बल पर यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि यह जगत् अपने स्वभाव से ही बनता-बिगड़ता है । सूत्रकार कहता है कि ऐसा नहीं । शरीर के रूपक में यह दर्शाया जा चुका है कि शरीर स्वयमेव कार्य नहीं करता ।

शरीर से आत्मा के निकल जाने से शरीर हिलता-डुलता नहीं । न ही उसमें भोज्य पदार्थों को खाकर पचाने की शक्ति रहती है ।

कुछ भाष्यकार शरीर रूपक का अर्थ कठोपनिषद् में (आत्मानं रथिनं — कठो० ३-३-४) रथ और आत्मा की ओर संकेत समझते हैं । हमारे विचार में यह भी ठीक नहीं । 'शरीर रूपक विन्यस्त' का अर्थ है शरीर के रूप में प्रकृति के वृत्तान्त का दृष्टान्त लेने से यही (दर्शयति) प्रकट होता है ।

अधिकांश भाष्यकारों का यह स्वभाव हो गया है कि वेदान्त दर्शन का भाष्य करते हुए अकारण उपनिषद् के उद्धरण देने लगते हैं । ऐसा श्री शंकराचार्यजी की परिपाटी का अनुकरण करने के कारण है । दर्शनशास्त्र को समझने के लिए स्वतन्त्र रूप से विचार करना ही ठीक होगा ।

शरीर के रूप का दृष्टान्त हमने ऊपर वर्णन किया है । शरीर में से आत्मा के निकल जाने पर इसकी स्वाभाविक क्रियायें नहीं रहतीं । सबसे आवश्यक क्रिया है अन्न को ग्रहण कर, उसको पचाकर शरीर का अंग बनाना । यह प्राणी के मरने पर शरीर नहीं कर सकता । अतः सूत्रकार कहता है कि प्रकृति बिना चेतन की सहायता के कार्य नहीं कर सकती ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आनुमानिकम् का अर्थ है अनुमान प्रमाण वाले 'एकेषाम्' कुछ एक, सब नहीं। कुछ अनुमान लगाने वाले। एक अनुमान तो सूत्रकार ने ही ग्रन्थ के आरम्भ (जन्माद्यस्य यतः) में लगाया है। इसी कारण 'एकेषाम्' लिखा है। सर्वेषाम् नहीं लिखा।

जो लोग अनुमान से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जगत् का रचने वाला कोई नहीं, जगत् स्वयमेव स्वभाव से ही बना है, उनके अनुमान में दोष बताने के लिए ही सूत्रकार ने शरीर का उदाहरण दिया है। शरीर स्वतः स्वभाव से ही कार्य नहीं करता। यदि करता होता तो घटनावश मृत्यु होने पर भी वह कार्य करता रहता। यहाँ वृद्धावस्था में मृत्यु होने की बात नहीं। एकाएक किसी घटनावश मृत्यु में तो देखा जाता है कि प्राणान्त होने पर शरीर में कार्य करने का स्वभाव नहीं रहता।

श्री स्वामी शंकराचार्य ने यहाँ व्यर्थ में सांख्यशास्त्र को रगड़ने का यत्न किया है। महर्षि कपिल ने तो सांख्य-दर्शन में स्पष्ट लिखा है 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता' (सां० द० ३-५६)।

श्री उदयवीरजी आनुमानिकम् के विषय में इस प्रकार लिखते हैं— सूत्र में 'आनुमानिकम्' पद का अर्थ है, अनुमान द्वारा, विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया गया तत्त्व। यहाँ अनुमान का अर्थ तर्क, युक्ति अथवा केवल प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्य-समूह अभिप्रेत नहीं है; क्योंकि जहाँ अध्यात्मशास्त्र में उस तत्त्व का प्रतिपादन है, वहाँ पञ्चावयव आदि का कोई निर्देश नहीं—इसलिए अनुमान पद का यहाँ अर्थ है—'ऋषियों द्वारा किया गया स्मरण अथवा मनन।'

हमारा यह कहना है कि उक्त अनुमान की विवेचना अयुक्त है। अनुमान जिसकी व्याख्या सांख्य अथवा न्याय-दर्शन में की गई है, उससे ही यहाँ अभिप्राय है। वितण्डावाद से नहीं।

इस पर भी कुछ लोग अनुमान से यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि जगत् स्वयमेव स्वभाव से बनता-बिगड़ता है। सूत्रकार कहता है कि कीट, पतंगा इत्यादि प्राणी का भी शरीर स्वतः बन नहीं सकता। भला जगत् की बात कैसे कहते हो?

यदि यह कहो कि जगत् स्वतः ही बनता-बिगड़ता है तो यह ठीक नहीं।

स्वामी शंकराचार्य तो शरीर के सूक्ष्म रूप को ही अव्यक्त मानने लगे हैं। यह सब धींगा-मस्ती है। स्वामीजी ने व्यर्थ में व्यक्त-अव्यक्त की बात बीच में ला खड़ी की है। आपने उपनिषद् के वाक्य 'आत्मानं रथिनं'—(कठो० ३-३-५) में शरीर को कल्पित वस्तु बता दिया है। अर्थात् उनके द्वारा शास्त्र के अर्थों का अनर्थ हो गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥२॥

सूक्ष्मं+तु+तद्+अर्हत्वात् ॥

वह सूक्ष्म ही है। उसकी योग्यता के कारण से।

जगत् का उपादान कारण सूक्ष्म है। यह उसकी जगत्-रचना में योग्यता मे पता चलता है। कार्य जगत् से कारण जगत् सदा सूक्ष्म होगा; यदि यह मानें कि यह कार्य जगत् किसी से बना है तो जिससे बना है वह कार्य जगत् से सूक्ष्म मानना ही पड़ेगा।

प्रथम सूत्र में यह बताया है कि कुछ एक लोग अनुमान लगाते हुए कहते हैं कि कारण प्रकृति स्वत: कार्य-जगत् में निर्माण हुई है, परन्तु यह अनुमान अशुद्ध है; क्योंकि मनुष्य के मरने पर शरीर में क्रिया-शक्ति नहीं रहती। अत: चेतन (परमात्मा) इसका निर्माण करता है।

अब इस सूत्र में बताया है कि शरीर का मूल (प्रकृति) सूक्ष्म है। इस कारण इसमें योग्यता है कि स्थूल निर्माण हो सके।

श्री स्वामी शंकराचार्य सूक्ष्म से अभिप्राय अव्यक्त लेते हैं। आप इस सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं।'

सूक्ष्मं त्विह कारणात्मना शरीरं विवक्ष्यते; सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूत-सूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति। प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः। यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० स० ६-४६-४) **इति।**

अर्थात्—यहाँ सूक्ष्म तो कारणातमा से शरीर विवक्षित है। सूक्ष्म के अव्यक्त शब्द के योग्य से है। यद्यपि यह शरीर स्थूल स्वयं अव्यक्त शब्द के योग्य नहीं, तो भी उसका आरम्भ सूक्ष्म शब्द के योग्य है और प्रकृति शब्द विकार प्रतीत होता है यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० ६-४६-४)।

इस सूत्र का भाष्य ठीक करते-करते स्वामीजी ने अपनी ओर से असम्बद्ध बात साथ लिख दी है।

यह तो ठीक है कि सूक्ष्म और अव्यक्त एक हैं। शरीर (कार्य-जगत्) का आरम्भ सूक्ष्म है। यहाँ तक तो ठीक सूत्र के अनुसार ही था, परन्तु प्रकृति विकार ही दिखायी देती है। यह कहाँ से आ गया और ऋग्वेद का प्रमाण दे दिया है, जिसका अर्थ यह नहीं बनता। ऋग्वेद का मन्त्र (६-४६-४) इस प्रकार है—

आ धावता सुहस्त्य: शुक्रा गृभ्णीत मन्थिना।
गोभिः श्रीणीत मत्सरम् ॥

(आ धावता) आगे बढ़ो (सुहस्त्य:) सिद्धहस्त पुरुषो अर्थात् कुशल लोगो (मन्थिना) मन्थन अर्थात् मर्दन (विरोधियों का) करने के लिए (शुक्रा गृभ्णीत)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल को ग्रहण करने के लिए (गोभिः) गाय के दूध की (मत्सरम्) भलाई (श्रीणीत) सेवन करो।

यहाँ प्रकृति विकार है, कैसे पता चला ?

पुनः श्री स्वामीजी बृहदारण्यक उपनिषद् का एक उद्धरण देते हैं (१-४-७), परन्तु उससे भी प्रकृति-विकार सिद्ध नहीं होता, वरन् प्रकृति से कार्य जगत् विकार है।

उपनिषद् इस प्रकार है—

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामाऽयमिदꣳ रूप इति। तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामाऽयमिदꣳ रूप इति।

(बृ० उ० १-४-७)

इसका अर्थ है—

(तत्—इदं) सो यह (कार्य जगत्) 'तर्ह्यव्याकृतम् आसीत्' पहले अव्यक्त था। (तत् नाम रूपाभ्याम् इव) उससे नाम रूप वाला (व्याक्रियत) व्यक्त बना। (तदिदम्) वह यह (अपि तर्हि) अभी भी (नामरूपाभ्याम् इव) नाम रूप ही (व्यक्त) है, अमुक नाम और अमुक रूप वाला है। इस प्रकार—

इस उद्धरण में भी प्रकृति-विकार है, यह नहीं लिखा है। यह लिखा है कि यह कार्य जगत् अव्यक्त से बना है। वर्तमान नाम रूप वाला व्यक्त उसी अव्यक्त से है।

वह अव्यक्त ही कार्य जगत् का उपादान कारण है।

तदधीनत्वादर्थवत् ॥३॥

तद्+अधीनत्वात्+अर्थवत्।

तद्=उसके अर्थात् सूक्ष्म (मूल प्रकृति) के। अधीनत्वात्=अधीन होने से। अर्थवत्=अर्थ युक्त (फलयुक्त) है (कार्य जगत्)।

मूल प्रकृति के अधीन का अभिप्राय है आश्रय। अर्थात् मूल प्रकृति से ही बनता है कार्य-जगत् और कार्य-जगत् भोग सामग्री उपस्थित करता है। इसी कारण इसको फलवत् अर्थात् पेड़ के फल की भाँति प्रयोग की वस्तु कहा है।

यहाँ वेदान्त दर्शन में लिखा है कि कार्य-जगत् मूल प्रकृति के आश्रय है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि जगत् रचना में ईश्वर का हाथ स्वीकार नहीं किया। मूल प्रकृति उपादान कारण ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञेयत्वावचनाच्च ।।४।।

ज्ञेयत्व+अवचनात्+च ।

च=और भी । ज्ञेयत्व=जानने के योग्य है । अवचनात्=न कहे जाने से भी । अर्थात् इसका स्वरूप नहीं कहा गया ।

साधारण रूप में परमात्मा को ज्ञेय (जानने के योग्य) माना है । जैसे गीता (१३-१७) में लिखा है—ज्ञान ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् अर्थात् परमात्मा ज्ञान-स्वरूप है, जानने के योग्य है और जाना जा सकता है ।

इसी प्रकार अनेक स्थानों पर परमात्मा को 'ज्ञेय' कहा है । यहाँ सूत्रकार कहता है कि प्रकृति मूल में अज्ञेय है । जब प्रकृति के साथ अज्ञेय शब्द आता है तो इसका अभिप्राय न जानने योग्य नहीं, वरन् इन्द्रियों से न जानी जा सकने योग्य है । (मनु० १-५)

इस सूत्र को श्री स्वामी शंकराचार्य क्या समझे हैं, वह भी जानना उपयुक्त होगा । इस सूत्र के भाष्य में वे लिखते हैं—

ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भिः । न हि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्यान्तरं शक्यं ज्ञातुमिति । क्वचिच्च विभूति-विशेषप्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति । न चेदमिहाव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते । पद-मात्रं ह्यव्यक्तशब्दः । नेहाव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्यमस्ति । न चानुप-दिष्टपदार्थज्ञानं पुरुषार्थमिति शक्यं प्रतिपत्तुम् । तस्मादपि नाव्यक्तशब्देन प्रधान-मभिधीयते । अस्माकं तु रथरूपकक्लृप्तशरीराद्यनुसरणेन विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम् ।

अर्थात्—ज्ञेयत्व से सांख्य को मानने वाले गुणों (सत्त्वादि) और पुरुष में अन्तर के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति की बात कहते हैं । गुणों के स्वरूप को जाने बिना पुरुष और गुणों का अन्तर जाना जा सकता है । क्योंकि विभूति विशेष की प्राप्ति के लिए प्रधान को जानना चाहिए, ऐसा मानते हैं । यह ठीक नहीं । यहाँ इस अव्यक्त को ज्ञेयत्व नहीं कहा जा रहा । अव्यक्त शब्द एक पाद मात्र है । यह अव्यक्त ज्ञातव्य है अथवा उपासना योग्य है । ऐसा कोई वाक्य नहीं । उपदिष्ट पदार्थ का ज्ञान पुरुषार्थ है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता । श्रुति में अव्यक्त से प्रधान का अभि-प्राय नहीं । हमारा मत है कि रथ रूप से कल्पित शरीरादि का विष्णु का ही परम पद दिलवाने से यह उपन्यास (कथन) है, यह दोष नहीं ।

सांख्य वाले क्या समझते हैं अथवा क्या नहीं समझते, यह प्रश्न नहीं । प्रश्न यह है कि प्रकृति कोई पदार्थ है अथवा नहीं ? यदि है तो यह जानने योग्य है । पदार्थ जानने योग्य होता है । उसका ज्ञान मनुष्य को लाभ देगा ही । यहाँ इसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानने से मोक्ष प्राप्त होता है अथवा नहीं होता, यह भी विचारणीय नहीं। इसमें यजुर्वेद ४०-१०, ११-१२, १३ और १४ पठनीय हैं।

परन्तु सूत्रार्थ से स्वामीजी का उक्त कथन सर्वथा असम्बद्ध है। सूत्रार्थ तो यह है—और (इसका स्वरूप) न कहे जाने योग्य होने पर भी (यह) जानने योग्य है। कार्य जगत् इन्द्रियों से जाने एवं कहे जाने योग्य है, परन्तु प्रकृति कहे जाने योग्य नहीं। इस पर भी जानने योग्य है।

वदतीत चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥५॥

वदति+इति+चेत्+न+प्राज्ञः+हि+प्रकरणात्।

वदति=कहता है। इति=यह। चेत्=यदि कहो। न=तो नहीं। प्राज्ञः=ज्ञानवान्। हि=क्योंकि। प्रकरणात्=प्रकरण से।

क्योंकि ज्ञानवान् कहता है कि यदि इसे (ज्ञेय) कहो तो यह ठीक नहीं। यह प्रकरण से (स्पष्ट है)।

ज्ञानवान् का अर्थ है ब्रह्म को जानने वाला। वह प्रकृति को प्रकरण से अर्थात् कार्य-जगत् की तुलना में अज्ञेय कहता है। हम अज्ञेय से अभिप्राय लेते हैं इन्द्रियों से न जाना जाने योग्य। कार्य-जगत् इन्द्रियों से जाना जाता है।

एक बात यहाँ स्मरण रखनी चाहिए कि ज्ञान के उल्लेख से ही मुक्ति प्राप्ति का उल्लेख आ गया, ऐसा ठीक नहीं। ब्रह्मसूत्र ज्ञान प्राप्ति के लिए है, परन्तु ज्ञान प्राप्ति से कैवल्यावस्था प्राप्त होगी ही, आवश्यक नहीं। इस कारण ज्ञातव्य तो सब कुछ है—जड़ प्रकृति भी, जीवात्मा भी और परमात्मा भी। मोक्ष किस प्रकार प्राप्त होगा? इसके लिए योग-दर्शन का अध्ययन कर योग का अभ्यास करना होगा।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥६॥

त्रयाणाम्+एव+च+एवम्+उपन्यासः+प्रश्नः+च।

च=और। त्रयाणाम्=तीनों का। एव=ही। एवम्=इस प्रकार। उपन्यास=वर्णन है। च प्रश्नः=और प्रश्न। (इसके अनुसार ही बनता है)।

इस प्रकार तीनों का ही वर्णन है और प्रश्न अर्थात् विवेचना इसके अनुसार ही होती है। तीन हैं परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति।

ये तीन क्या हैं? तीन की व्याख्या में विचित्र कल्पना के घोड़े दौड़ाये गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले स्वामी शंकराचार्यजी की कल्पना की परीक्षा करनी चाहिए। श्री स्वामीजी यहाँ तीन से अग्नि, जीव और परमात्मा को मानते हैं। आप लिखते हैं—

इतश्च न प्रधानस्याऽव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा। यस्मात्त्रयाणामेव पदार्थानामग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे कठवल्लीषु वर प्रदानसामर्थ्याद्वक्तव्यतयोपन्यासो दृश्यते। तद्विषय एव च प्रश्नः। नातोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वाऽस्ति। तत्र तावत् 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्' (कठो० १-१-१३) इत्यग्निविषयः प्रश्नः।

इसका अर्थ इस प्रकार है—इस कारण प्रधान अव्यक्त शब्द वाच्य अथवा ज्ञेय नहीं; क्योंकि वर प्रदान सामर्थ्य से कठवल्ली ग्रन्थ में अग्नि, जीव और परमात्मा तीन पदार्थों का ही वर्णन देखा जाता है। उस विषय में ही प्रश्न है। इससे अन्य के विषय में न प्रश्न है न उपन्यास (वर्णन) है। वहाँ इस प्रकार है (कठो० १-१-१३) स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो (तुम स्वर्ग के साधन रूप अग्नि को जानते हो। हे मर्त्य, उसे मुझ श्रद्धालु को कहिए।) यह अग्नि के विषय में उसे बतायें।

पूर्व इसके कि स्वामीजी के वक्तव्य का सूत्र से सम्बन्ध की जाँच-पड़ताल करें, हम उपनिषद् वाक्य (कठो० १-१-१३) के विषय में भी लिख दें तो ठीक होगा। कठो० १-१-१३ इस प्रकार है—

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वँ श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण॥

इसका अर्थ है कि हे यमराज! यह तुम स्वर्ग साधक अग्नि को जानते हो। वह तुम, मुझ श्रद्धावान् को बताओ। स्वर्ग के जन, जिस प्रकार आनन्द भोगते हैं, वह भी कहो। वह दूसरे वर से मैं भोगता हूँ।

अब देखिये कि इस उपनिषद् मन्त्र का और श्री स्वामी जी के कथन का सूत्र के साथ क्या सम्बन्ध है?

सूत्र में लिखा है कि तीनों का ही इस प्रकार वर्णन है। यही प्रश्न है।

क्या जहाँ-जहाँ भी जिस किसी पुस्तक में प्रश्न शब्द आयेगा, उसका कठोपनिषद् में वर्णित नचिकेता-यम सम्वाद से अभिप्राय होगा? देखना यह चाहिए कि यह ब्रह्मसूत्र है। इसमें ब्रह्म का वर्णन होगा।

हम बता चुके हैं कि उपनिषद् वाक्य से ही ब्रह्म तीन प्रकार का है। (श्वे० १-९,१२)। निश्चय इस सूत्र में 'त्रयाणां' का अर्थ उन तीनों प्रकार के ब्रह्म से है। अग्नि ब्रह्म नहीं है। कठोपनिषद् में भी अग्नि ब्रह्म तक पहुँचने का साधन वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री स्वामी शंकराचार्यजी का आशय यह है कि कहीं प्रधान (प्रकृति) का नाम इन तीनों में न आ जाये। इस कारण नचिकेता-यम का प्रसंग यहाँ ला खड़ा किया है। अग्नि का कहीं वर्णन यहाँ सूत्रों में नहीं हो रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्व सूत्र में था कि जहाँ प्रकृति को ज्ञेय नहीं लिखा, वहाँ प्रकरण न होने के कारण है। अतः जब सूत्रकार महर्षि ने यह कहा कि तीनों का उल्लेख है तो तीनों अव्यक्तों का वर्णन है प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा।

इसी प्रकार श्री उदयवीर शास्त्रीजी ने भी श्री स्वामी शंकराचार्यजी का ही अनुकरण किया प्रतीत होता है। वह भी कठोपनिषद् का आश्रय ले इस सूत्रकार का अभिप्राय समझने लगे हैं।

यहाँ तीन का उल्लेख है और तीन का आशय सूत्रों के आगे-पीछे का सन्दर्भ बनायेगा। वर्णन आ रहा है प्रकृति का, तो अग्नि कहाँ से आई? हमारा विचारित मत है कि यहाँ 'त्रयाणां' से प्रकृति, जीव और परमात्मा का वर्णन है। कठोपनिषद् में वर्णित नचिकेता के प्रश्नों से, इस सूत्र का सम्बन्ध नहीं। साथ ही नचिकेता ने तीन के विषय में नहीं पूछा। तो उस उद्धरण का सूत्र के साथ सम्बन्ध कैसे बना?

परन्तु 'प्रश्न है' का क्या अभिप्राय है? निःसन्देह इसका अभिप्राय है कि पूर्वोक्त सूत्र में जो कहा है कि (प्रकृति) ज्ञेय नहीं तो प्रश्न यह है कि तीन का वर्णन किसलिए है?

महद्वच्च ॥७॥

महत्+वत्+च।

महत् सूक्ष्म तत्त्व की भाँति प्रकृति का भी सूक्ष्म तत्त्व है। जैसे महत् से कार्य-जगत् बना है, वैसे ही प्रधान से बना कार्य-जगत् है।

सांख्य का सिद्धान्त है कि आदि प्रकृति त्रिगुणात्मक है। अर्थात् प्रकृति का प्रत्येक परमाणु तीन गुण रखता है। वे तीन गुण हैं आकर्षण, विकर्षण व तटस्थता। ये तीनों गुण एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हुए प्रत्येक परमाणु में साम्यावस्था बनाये रखते हैं।

सर्गारम्भ में परमात्मा इन तीनों गुणों की प्रभाव-दिशा बाहर की ओर कर देता है। तब इनके प्रभाव परस्पर सन्तुलित न रहकर पड़ोस के परमाणुओं पर प्रभाव डालने लगते हैं। अतएव परमाणुओं के आकर्षण, विकर्षण प्रभाव परमाणुओं में संयोग उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रक्रिया में प्रारम्भिक अवस्था महत् कहलाती है।

श्री स्वामी शंकराचार्यजी कहते हैं कि सांख्य-दर्शन में जो महत् प्रकृति के एक रूप के लिए प्रयोग हुआ है, उस महत् का अभिप्राय यहाँ नहीं। उनका कहना है कि महत् शब्द श्रुति में महान् का वाचक है।

हमारा यह कहना है कि महत् महान् का पर्यायवाचक है, परन्तु जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त होता है तो महत् का अर्थ प्रकृति के प्रथम विकार को ही कहते हैं।

प्रश्न यह कि यहाँ महत् महान् अर्थों में है अथवा सांख्य वाले अर्थों में ?

क्योंकि प्रकृति का उल्लेख किया जा रहा है, इस कारण महत् प्रकृति के प्रथम विकार के अर्थ में ही है।

स्वामीजी का यह कहना तो ठीक है कि जगत् स्वतः नहीं बनता। इसके बनाने वाला परमात्मा है, परन्तु जिस पदार्थ का यह बना है वह भी अनादि है और उसे प्रधान कहते हैं।

यह उपनिषद् वाक्य से भी सिद्ध है। श्वेताश्वतर १-९, १२ में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

वहाँ लिखा है कि एक ज्ञानवान्, दूसरा अज्ञ और तीसरा भोगार्थ पदार्थ, तीनों अजन्मा हैं। अर्थात् वे अक्षर हैं।

श्वेताश्वतर ४-५ में लिखा है कि लोहित, शुक्ल, कृष्ण (तीन) गुणों वाली प्रकृति अजन्मा है। एक जीवात्मा अजन्मा है। इस प्रकार प्रकृति को अजन्मा लिखा है। जो पैदा नहीं हुई, वह नष्ट भी नहीं होती। अतः प्रकृति अक्षर है। अव्यक्त ही अक्षर हो सकता है।

स्वामीजी असंगत अर्थों वाले उदाहरण देते हैं।

अतः स्वामीजी प्रधान को अक्षर-तत्त्व अस्वीकार कर सूत्रकार के आशय को गलत बता रहे हैं।

सूत्रकार का आशय है कि महत् की भाँति प्रकृति भी कार्य-जगत् का स्रोत है। महत् की उपमा इस कारण दी है; क्योंकि प्रकृति महत् में परिवर्तित हुए बिना कार्य-जगत् में परिवर्तित नहीं हो सकती। महत् का उल्लेख कई उपनिषदों में आया है।

चमसवदविशेषात् ॥८॥

चमस+वत्+अविशेषात्।

चमस—यज्ञ में आहुति डालने वाली कलछी, जो एक ओर से खुली और दूसरी ओर से बन्द होती है। चमस की भाँति सामान्य अर्थों में।

चमस के कहीं विशेष अर्थ भी हो सकते हैं, परन्तु यहाँ इस सूत्र में अविशेष अर्थात् सामान्य अर्थों में ही लिया है।

इस सूत्र का अभिप्राय है कि जैसे कलछी का एक ओर मुख होता है और दूसरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर से बन्द होती है, वैसे ही महत् की सृष्टि होती है। अर्थात् वह एक ओर से बन्द होती है और दूसरी ओर से खुली।

यह महत् के स्वरूप का वर्णन है। अनन्त ब्रह्माण्ड में सृष्टि रचना के समय ब्रह्माण्ड के एक कोने में प्रकृति में विक्षोभ उत्पन्न होता है और उससे महत् बनता है। वह चमस की भाँति रूप वाला होता है।

ब्रह्मसूत्र के जिन भाष्यकारों को बिना उपनिषद का वाक्य दिये अर्थ समझाने की सामर्थ्य नहीं, उन्होंने 'चमस' शब्द को बृहदारण्यक उपनिषद् (२-२-३) में ढूंढ़ निकाला है। वहाँ वाक्य है—

...अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर...।

अर्थात्—नीचे छिद्र ऊपर मूल वाला पात्र जैसे मनुष्य की खोपड़ी है। यह तो चमस के अर्थ बताये हैं, परन्तु सूत्र में इस चमस का क्या अभिप्राय है, इसको भाष्यकार सर्वथा असंगत प्रमाणों से वर्णन करते हैं।

भाष्यकारों ने (श्वेताश्वतर ४-५) से अर्थ समझाने का यत्न किया है, परन्तु उस मन्त्र के अर्थ की चमस से कैसे संगति बैठती है, कोई नहीं बता सका।

हमारा यह मत है कि सूत्रार्थ स्पष्ट करने के लिए उपनिषद् ठीक साधन नहीं हैं। सूत्रकार ने सूत्र उपनिषद् वाक्यों को समझाने के लिए नहीं लिखे। ये सूत्र तो कुछ सत्य बातों को स्पष्ट करने के लिए लिखे गये हैं। उपनिषद में वह है अथवा नहीं, यह गौण बात है।

हमारा यह भी मत है कि सूत्रों को सरल भाषा में ज्यों-के-त्यों स्वीकार करने से पूर्ण ग्रन्थ अर्थयुक्त समझ में आने लगेगा।

अतः सामान्य अर्थों में चमस की भाँति महत् का रूप है, यह है इस सूत्र का अर्थ।

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥९॥

ज्योतिः + उपक्रमा + तु + तथा हि + अधीयते + एके।

तु = निश्चय ही। ज्योतिः उपक्रमा = ज्योति ही आरम्भ है। तथाहि = जैसे कि। अधीयत = पढ़ते हैं (समझते हैं)। एके = कई एक।

अर्थ स्पष्ट ही हैं। जगत्-रचना का आरम्भ तेज से हुआ है। उस तेज ने ही परमाणु की साम्यावस्था भंग की है। उससे महत् बना है। इसमें वेद प्रमाण है। ऋ० १-१६३-१, २, ३ में कहा है कि सबसे पहले शोर मचाता हुआ अर्वाः उत्पन्न हुआ। वह परमाणु पर लगाम बन अधिष्ठित हो गया। पहले उस पर इन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिष्ठित था। अब अर्वाः हो गया। इससे परमाणु की साम्यावस्था भंग हुई और उससे तीन प्रकार के संयोग बने। ये आपः हैं। इनसे पूर्ण जगत् बना।

इस सूत्र में ज्योति का अर्थ परमात्मा का तेज है। मंत्र (ऋ० १०-१२६-२), में यह आनीत अवातम् कहा है और ऋ० १०-१२६-३ में इसे तेज के नाम से स्मरण किया गया है।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ।।१०।।

कल्पनोपदेशात्+च+मध्वादिवत्+अविरोधः।

ज्योति उपक्रम में थी, यह (ब्र० सू० १-४-६ में) कहा है। यह कैसे पता चला? और अब वह अग्नि कहाँ गयी? ये प्रश्न स्वाभाविक थे। सूत्रकार इसका उत्तर देता है कि हमको यह बात कल्पना करने से पता चली है। जैसे मधु आदि की कल्पना कर ली जाती है।

कल्पना का आधार होता है। किसी न किसी प्रकार की समानता देखकर ही कल्पना की जाती है। महत् में बीज डालने पर सहस्रों सूर्यों के समान ज्योतिः तो हिरण्यगर्भ (nebulae) में देखने में आती है। उस ज्योतिः की कल्पना है। जैसे वाणी में मिठास को मधु कह दिया जाता है। वाणी को धेनु कह दिया जाता है।

इसी प्रकार ज्योतिः की कल्पना की गई है। जैसे मिठास से मधु की कल्पना की जाती है। ऐसी कल्पना करने में विरोध नहीं।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।।११।।

न+संख्योपसंग्रहात्+अपि+नानाभावात्+अतिरेकात्+च।

गिनती अधिक होने से भी नहीं और अनेक भावों से भी नहीं और अतिरेक —अतिरिक्त से भी नहीं। क्योंकि प्रकृति (जिससे ये अनेकानेक रूप नाम वाली वस्तु बनी है) वह एक ही है। प्रकृति अनेक नहीं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (४-५, ६, ७) में इसे बहुत स्पष्टतता वर्णन किया है। अधिकांश भाष्यकारों ने, श्री स्वामी शंकराचार्यजी ने भी उक्त सूत्रों के भाष्य में इस मन्त्र का उल्लेख किया है, परन्तु क्योंकि स्वामीजी प्रकृति को अनादि और अक्षर नहीं मानते, इस कारण उन्होंने इस उपनिषद् को और उक्त सूत्रों को भी विकृत करने का यत्न किया है।

एक बात तो हम ऊपर लिख आये हैं कि श्वेताश्वतर (४-५) के लोहित शुक्ल कृष्ण को छांदोग्य० ६-४-१ के रोहित शुक्ल कृष्ण से संगति मिलाने का यत्न किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। वहाँ रोहित, शुक्ल, कृष्ण, अग्नि से उत्पन्न हुए बताये हैं। यहाँ ऐसा नहीं।

श्वेताश्वतर में इस प्रकार वर्णन है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

(श्वे० ४-५, ६, ७)

यहाँ लिखा है कि अजा ही लोहित शुक्ल कृष्ण है। अर्थात् वह त्रिगुणात्मक है। यहाँ इनका अग्नि से उत्पन्न होना नहीं लिखा। अतः बृहदारण्यक (६-४-१) में रोहित शुक्ल कृष्ण और श्वेताश्वतर (४-५) का लोहित, शुक्ल, कृष्ण पर्याय-वाचक नहीं। नामों में समानता तो इसी कारण है; जैसे कारण से रजस् प्रधान अहंकार को तेजस् अहंकार माना है, सात्त्विक प्रधान अहंकार को सात्त्विक (वैकारी) अहंकार माना है और तमस् प्रधान अहंकार को तामसी (भूतादि) अहंकार माना है।

प्रकृति के साथ ही 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र का कहा जाना और 'समानं वृक्षे' इत्यादि वाला मन्त्र यही प्रकट करता है कि प्रकृति और उसमें के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों का वर्णन है, अहंकारों का नहीं।

यही भाव इस सूत्र में लिखा है कि गिनती अधिक होने से और उनके अनेक व्यवहार होने पर भी वह अनेक नहीं, एक ही है।

इस सूत्र में 'न' शब्द किसके लिए आया है, इसको जानने से सूत्रार्थ सिद्ध होता है। हमने यह लिखा है कि कार्य-जगत् के नाना व्यवहार से और अनेक संख्या में होने पर भी यह नहीं। अर्थात् प्रकृति अनेक नहीं।

श्री स्वामी शंकराचार्यजी अर्थ करते हैं कि प्रकृति है ही नहीं। आप लिखते हैं—

एवं परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरन्यस्मान्मन्त्रात्सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते। 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्' (बृ० ४-४-१७) इति।

इसका अर्थ यह है—इस प्रकार अजा मन्त्र में सांख्याभिमत प्रधानादि परिहार होने पर भी अन्य मन्त्र के आधार पर सांख्य पुनः पूर्व पक्ष करता है। उत्तर पक्ष (स्वामीजी के मत से बृहदारण्यक उपनिषद् ४-४-१७) उपस्थित करता है। इसमें आत्मा को ही अमृत ब्रह्म माना है।

इसका अभिप्राय यह है कि श्वेताश्वर (४-५) में जो लिखा है कि प्रकृति एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और उसकी अनेक प्रजायें हैं, यह पूर्व पक्ष है और एक दूसरे मन्त्र में इससे विपरीत लिखा है।

वह दूसरा पक्ष (बृ० ४-४-१७) इस प्रकार है—

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्।।

(बृ० ४-४-१७)

इसका अर्थ है—जिसमें पच्चीस गण और आकाश प्रतिष्ठित हैं, उसको आत्मा मानता हूँ और मैं अमृत-आत्मा उसे अमृत-ब्रह्म जानता हूँ।

इसमें यह नहीं लिखा कि पच्चीस गण अमृत-आत्मा से उत्पन्न हुए हैं। एक सर्वव्यापक अमृत-आत्मा में पच्चीस गण स्थापित हैं और जानने वाला भी अमृत-आत्मा है।

पच्चीस गणों का स्रोत यहाँ नहीं लिखा। यह भी नहीं लिखा कि वे स्रोत नहीं। न ही यह लिखा है कि जिसमें पच्चीस प्रतिष्ठित हैं, वे ही पच्चीस हैं। वास्तविक बात सांख्य-दर्शन में लिखी है कि पच्चीस गण हैं। प्रकृति से उत्पन्न चौबीस गण और पच्चीसवाँ जीवात्मा; ये सब परमात्मा में प्रतिष्ठित हैं और परमात्मा तथा देखने वाला जीवात्मा दोनों ही ब्रह्म अमृत हैं। अनादि अव्यक्त होने से जीवात्मा भी ब्रह्म ही है। (देखें सांख्य १-६१)।

अतएव स्वामीजी ने अपनी भ्रान्त मान्यताओं को सिद्ध करने के लिए उपनिषद् ग्रन्थों के अर्थों को बहुत विकृत किया है। एतदर्थ ब्रह्मसूत्रों के भी मनमाने अर्थ लगाये हैं।

हमारा विचारित मत है कि इस सूत्र का अर्थ वही है जो हमने लिखा है। अर्थात् अनेक नाम, रूप वाले और व्यवहार वाले पदार्थ होने पर भी प्रकृति जिससे वे बने हैं; एक है, अनेक नहीं।

प्राणादयो वाक्यशेषात् ।।१२।।

प्राणादयः+वाक्यशेषात्।

प्राणादि (समझ लो) शेष वाक्य से। अभिप्राय यह है कि उक्त सूत्र में जो शब्द 'अतिरेकात्' है उसका अर्थ है 'अतिरिक्त'।

नाना व्यवहार वाले और नाना नाम रूप वाले से और अतिरिक्त से। अर्थात् प्राणशक्ति से भी यही पता चलता है कि प्रकृति एक है। प्राण से प्रकृति के अनेक रूप एवं नाम बने हैं। प्राण परमात्मा की शक्ति है। इस (१-४-११) सूत्र में अति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिक्त से अभिप्राय है कि प्राणादि से निर्मित रूपादि। सूत्र में अतिरिक्त से प्राणादि समझ लो।

प्राण है शक्ति, जिससे प्राणी की इन्द्रियाँ और शरीर काम करते हैं। हमने यह ऊपर भलीभाँति सिद्ध किया है कि इन इन्द्रियों में और शरीर के अन्य अंगों में शक्ति परमात्मा की ही है। वही प्राण है। इसी प्रकार द्युलोक में गतिमान पदार्थों की गति परमात्मा की शक्ति से होती है। यही प्राण है।

अतः जब कार्य-जगत् के नाना पदार्थ और उनके नाना प्रकार के व्यवहारों का वर्णन किया तो अतिरिक्त शब्द से क्या अभिप्राय है? यह इस सूत्र में बताया है कि प्राणादि है।

अर्थात् शक्ति भी भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट होती है, परन्तु प्रकृति एक ही है।

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१३॥

ज्योतिषा+एकेषाम्+असति+अन्ने।

ज्योतिषा=ज्योति से ही। असति=होने पर। अन्ने=अन्न में। एकेषाम्=कई एक के मत से।

इसका अर्थ है कि कई एक के मत से अन्न में भी ज्योति अर्थात् शक्ति (परमात्मा की शक्ति) द्वारा होती है।

क्या होती है? प्राण की शक्ति अर्थात् निर्माण की शक्ति।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मसूत्र (१-४-११) में जो यह लिखा है कि अनेक रूप होने से भी नहीं। अर्थात् वह अनेक नहीं। इसमें हमने 'प्रकृति' क्यों लिया है, परमात्मा क्यों नहीं लिया?

अनेक नाम रूप वाले पदार्थ होने से भी वह अनेक नहीं। यहाँ प्रकृति लेने में कारण यह है कि पूर्ण पाद ही प्रकृति के विषय में चल रहा है। इस पाद में यह हम ऊपर कह आये हैं—

(१) अनुमान से कुछ लोग कहते हैं कि वह (कार्य-जगत्) स्वयं ही है। यह गलत है; क्योंकि शरीर उदाहरण से (प्रकृति) स्वयं नहीं है।

(२) प्रकृति सूक्ष्म है। इस कारण वह व्यक्त मानी जाती है।

(३) इस (प्रकृति) के अधीनता में होने से वह (कार्य-जगत्) अर्थवत् है। अर्थ का अभिप्राय है भोग के योग्य।

(४) प्रकृति ज्ञेय नहीं अर्थात् इन्द्रियों से नहीं जानी जा सकती।

(५) ज्ञेय प्राज्ञः है और अज्ञेय अचेतन है, ऐसा नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् प्रकृति अज्ञेय इस कारण है कि यह इन्द्रियों से नहीं जानी जा सकती। इसमें चेतन, अचेतन के कारण नहीं। यह प्रकरण से कह रहे हैं।

(६) तीन का ही वर्णन है और प्रश्न है। जड़, प्रकृति, जीवात्मा और अधिष्ठाता परमात्मा। परमात्मा और जीवात्मा दो चेतन हैं। तीन का वर्णन है।

(७) कार्य-जगत् बनता है महत् की भाँति।

(८) ब्रह्माण्ड में महत् बनता है तो यह चमस की भाँति एक ओर से बन्द और एक ओर से खुला होता है।

(६) उपक्रम में (कार्य-जगत् के आरम्भ में) ज्योति होती है।

(१०) हिरण्यगर्भ (nebulae) देखे गये हैं और उनसे कल्पना की गई है कि अपने जगत् का आरम्भ भी वैसा ही ज्योतिर्मय रहा है।

(११) कार्य-जगत् में पदार्थों की अनेकता पर भी (प्रकृति) अनेक नहीं। सब सूत्र एक साथ पढ़ने से यहाँ अनेक नहीं का अर्थ प्रकृति ही है।

(१२) परन्तु 'अतिरेकात् च' और दूसरे में भी यही है। अर्थात् प्राण के कारण विविधता होने पर भी प्रकृति एक ही है।

यहाँ एक होने की तुलना करने के लिए परमात्मा और प्राण का उदाहरण दिया है।

(१३) इसमें लिखा है कि परमात्मा की शक्ति ही अन्न में है। अन्न खाने से प्राणी में शक्ति (प्राण) प्रकट होती है। यहाँ भी यह परमात्मा की देन ही है।

वैसे तो प्रकृति के सब रूप परमात्मा ही बनाता है।

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१४॥

कारणत्वेन=च+आकाशादिषु+यथा+व्यपदिष्टोक्ते।

कारणत्वेन=कारण होने से। च=और। आकाशादिषु=आकाशादि के विषय में। यथा=जैसे। व्यपदिष्टो=कहे गये के अनुसार। उक्तेः=कहा जाने से।

प्रकृति कार्य-जगत् का कारण है। इस विचार से यह भी आकाशादि (पंच महाभूत) के जगत् के नाना पदार्थों का कारण होने की भाँति जैसे कहा गया, वैसा ही यहाँ कहा गया है। अर्थात् प्रकृति आकाशादि का कारण कहा गया है। सूत्रकार कहता है कि वैसा ही वह भी कह रहे हैं कि प्रकृति इन सब का कारण है।

आकाशादि (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) पंच महाभूत जगत् के अनेकानेक पदार्थों का कारण (स्रोत) हैं। इसी प्रकार प्रकृति पूर्ण कार्य-जगत् का कारण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ स्वामी शंकराचार्य का मत लिख दें तो ठीक रहेगा। यह मानते हैं कि आकाशादि पंच महाभूत परमात्मा द्वारा बनाये गए हैं। इसी प्रकार पूर्ण कार्य-जगत् भी परमात्मा द्वारा बनाया गया है।

स्वामीजी की इस बात से मतभेद नहीं। मतभेद तो यह है कि कुम्हार घड़े को बनाता है तो मिट्टी से बनाता है। यह नहीं देखा जाता कि वह मिट्टी भी बनाता है। इसी प्रकार किसी वस्तु के बनने में दो कारण होते हैं और दोनों स्वतन्त्र रूप में रहते हुए पदार्थ का निर्माण करते हैं। एक निमित्त कारण कहलाता है और एक उपादान कारण। यही बात हम जगत् के उत्पादन में मानते हैं। जब घड़े के बनाने में कुम्हार का उल्लेख आता है तो मिट्टी के होने का विरोध नहीं होता। फिर जब उपनिषद् में (श्वेताश्वतर १-६, १२ तथा ४-५, ३) प्रकृति को अजन्मा (अनादि) कहा गया है तो उसको अस्वीकार करने में कोई कारण नहीं।

यहाँ एक बात और समझने की है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी पंच महाभूतों वाला आकाश वह नहीं, जो परमात्मा का प्रतीक माना जाता है।

ब्रह्मसूत्र (१-१-२२) में लिखा है कि उस (परमात्मा) का लिंग आकाश है। उस सूत्र की विवेचना में हमने भलीभाँति बताया है कि वहाँ आकाश का अभिप्राय अवकाश (space) से है। अवकाश अनन्त, असीम है और उसमें व्यापक परमात्मा भी असीम है। अतः वह आकाश जो पंच-भौतिक है, परमात्मा का लिंग आकाश नहीं।

वेद भाषा में यौगिक अर्थ वाले शब्द होने के कारण अनेक शब्द ऐसे हैं जो अनेकार्थवाचक हैं। आकाश भी वैसा ही शब्द है।

समाकर्षात् ॥१५॥

सम + आकर्षात्।

समान आकर्षण से।

समान आकर्षण से होता है जगत् का विघटन। प्रकृति के प्रत्येक कण में तीन गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) साम्यावस्था में रहते हैं। इन गुणों में आकर्षण, विकर्षण पाया जाता है। अतः जब ये गुण साम्यावस्था (balanced state) में होते हैं, तब प्रशान्त अविज्ञेय प्रकृति होती है।

सांख्य का कथन है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

प्रकृति में गुणों का समाकर्षण होता है। जगत्-रचना के समय यह समाकर्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भंग होता है तो प्रथम स्थिति ऐसी उत्पन्न होती है। जब प्रकृति के एक परमाणु में गुणों का आकर्षण सम नहीं रहता।

यह कैसे असमता को प्राप्त होता है ? यह इस प्रकार है कि प्रलय अवस्था में परमाणु के भीतर के गुण परस्पर विरोधी होने से भीतर ही एक-दूसरे को विलीन कर रहे होते हैं, परन्तु सर्ग-रचना के समय ईश्वर की यदृच्छा से गुणों का आकर्षण एक-दूसरे पर न रहकर वाह्याभिमुख हो जाता है और वे परस्पर भीतर ही एक-दूसरे को विलीन करने की अपेक्षा पड़ोस के परमाणुओं के विरोधी गुणों पर प्रभाव डालने लगते हैं।

परिणाम यह होता है कि दो-दो और अधिक परमाणु परस्पर आकर्षित होने से उनमें संयोग एवं समन्वय होने लगता है।

इससे प्रथम विकार जो उत्पन्न होता है, वह महत् कहलाता है। द्वयणुक, त्रयणुक इत्यादि बनते हैं। इन संयोगों में कुछ संयोग सत्त्व प्रधान हो जाते हैं। कुछ रजस् प्रधान और कुछ तमस् प्रधान होते हैं। सत्त्व प्रधान संयोग सात्त्विक (वैकारी) अहंकार कहाते हैं। रजोगुण प्रधान संयोग को रजस् (तेजस्) अहंकार कहते हैं और तमस् गुण प्रधान संयोग को तमस् (भूतादि) अहंकार कहते हैं। यह स्थिति अहंकार कहलाती है।

अहंकारों के फिर परस्पर संयोग होते हैं। वैकारी अहंकार और तेजस् अहंकार के संयोग से मन और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और तेजस् तथा भूतादि अहंकार के संयोग से पंच महाभूत बनते हैं।

अहंकारों से तन्मात्रायें भी उत्पन्न होती हैं। ये तरंगों की भाँति हैं। ये सूक्ष्म महाभूतों से स्थूल महाभूत बनाती हैं और कुछ अन्य कार्य भी करती हैं।

जो सृष्टि के इस क्रम को जानता है, वह इस सूत्र का अर्थ लगा सकता है। इस सूत्र का अर्थ है कि प्रकृति की मूल अवस्था 'समाकर्षात्' होती है।

इसी को प्रशान्त, अतीन्द्रिय एवं अविज्ञेय कहा है।

जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

जगत्+वाचित्वात्।

जगत् का वाचक होने से।

इसका अभिप्राय है कि गतिशील अर्थ है जगत् का। गतिशील होने से ही यह कार्य-प्रपंच जगत् कहलाता है।

समाकर्षात् से तो प्रकृति का स्वरूप प्रशान्त होता है और जब आकर्षण-विकर्षण परमाणु के भीतर ही परस्पर विलीन न रहकर बाहर के परमाणुओं में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोधी गुणों का आकर्षण करने लगते हैं तो गति उत्पन्न होती है। इन गतियों का नाम ही जगत् है।

पूर्ण जगत् में गति ही हो रही है। जिस क्षण यह गति रुकेगी, जगत् विनष्ट हो जायेगा और प्रलय का समय आ जायेगा। गति का आरम्भ दो अथवा अधिक परमाणुओं के विपरात गुणों के परस्पर आकर्षण-विकर्षण से होता है। परमाणुओं से अणु और अणुओं से द्वयणुक बनते हैं। तब द्वयणुकों से और अधिक अणु आकर्षित होते हैं। इससे गति उत्पन्न होती है।

ऐसा भी कई एक का मत है कि इसी आकर्षण-विकर्षण से 'रसायनिक ऐटम' की सृष्टि होती है। इसमें भी घन विद्युत् वाले प्रोटोन के चारों ओर ऋण विद्युत् वाले इलैक्ट्रोन परस्पर आकर्षण से ही घूमते हैं। एक रसायनिक ऐटम में न्यूट्रोन भी होते हैं। यही भूतादि अहंकार हैं। भूतादि अहंकार तो परमाणु का भार बनाते हैं और इलैक्ट्रोन, प्रोटोन ऐटमों के संयोग पैदा कर पंच महाभूत की सृष्टि करते हैं। तन्मात्रा अहंकारों से अर्थात् वैकारी, तेजस् और भूतादि अहंकारों से उत्पन्न होती हैं और उनसे निम्न पाँच प्रकार के कार्य होते हैं। 'ऐटम' का दार्शनिक नाम परिमण्डल है।

(१) 'ऐटम' अन्तर्गत आकर्षण जिससे 'ऐटम' संगठित रहता है।

(२) रसायनिक शक्ति जिससे संयुक्त पदार्थ बनते हैं तथा जिससे दो अथवा अधिक ऐटम मिलकर एक 'मॉलिक्यूल' बनता है।

(३) संशक्ति (adhesion) जिससे किसी पदार्थ के छोटे-मोटे टुकड़े जुड़कर बड़े बनते हैं। इसका वैज्ञानिक नाम molecular dynamics है इसे आण्विक विकम्पन भी कहते हैं।

(४) चुम्बकीय आकर्षण (magnetic power)।

(५) भू-आकर्षण (gravity)।

जगत् की सब गतियाँ इन्हीं तन्मात्राओं से उत्पन्न होती हैं। इन गतियों से ही जगत् शब्द सार्थक होता है।

क्योंकि प्रथम प्रकृति के परमाणुओं में गुणों के समाकर्षण को हटाकर गुणों का मुख बाहर को कर दूसरे परमाणुओं के विपरीत गुणों में आकर्षण उत्पन्न करने से ही यह गति उत्पन्न हुई है और यह परमात्मा की यदृच्छा से होता है। इस कारण परमात्मा को ही सृष्टि का रचने वाला मानना चाहिए।

जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१७॥

जीवमुख्यप्राणलिंगात्+न+इति+चेत्+तत्+व्याख्यातम्।

मुख्य प्राण के लिंग (लक्षण) से प्राणी नहीं है। क्या नहीं है? उक्त समाकर्षण को भंग करने वाला और गति उत्पन्न कर जगत् की सृष्टि करने वाला। यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहो कि ऐसा है तो इसका वर्णन ऊपर (ब्र० सू० १-१-३१ में) किया जा चुका है।

अर्थात् प्राणी की करनी से जगत् की रचना नहीं। यद्यपि प्राण (हिलने-डोलने की शक्ति) तो उसमें भी है।

इसके लिए सूत्र १-१-३१ की विवेचना पढ़ लीजिए।

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

अन्यार्थम्+तु+जैमिनिः+प्रश्न+व्याख्यानाभ्याम्+अपि+च+एवम्+एके।

जैमिनि आचार्य और कई अन्य के वचन से प्रश्न और व्याख्यान से। यह किसी दूसरे के लिए है। ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि जैमिनि और कुछ एक अन्य आचार्य यह कहते हैं कि (प्रश्न और व्याख्यान से) विचार विनिमय से यह प्रकट होता है कि उक्त सूत्र में और सूत्र १-१-३१ में वर्णित प्राणी का मुख्य प्राण-लिंग किसी अन्य के लिए है। अर्थात् जीवात्मा के लिए है।

किस दूसरे के लिए हैं? जीवात्मा के लिए। अभिप्राय यह कि प्राण-लिंग है परमात्मा का। लिंग का अर्थ है संकेत। प्राणी में प्राण परमात्मा का ही संकेत करता है।

अभिप्राय यह है कि प्रकृति से जगत् की रचना में अर्थात् प्रकृति के परमाणुओं में गति उत्पन्न करने में तो ईश्वर की शक्ति का संकेत मिलता ही है। इसी प्रकार प्राणी के मुख्य लिंग प्राण में भी परमात्मा का संकेत है। यह दूसरे अर्थात् जीवात्मा के लिए है। प्राण का अर्थ गति अथवा प्रयत्न करने वाली शक्ति है।

जगत् में तो परमात्मा की शक्ति किसी विशेष के लिए नहीं, परन्तु प्राणी में यह जीवात्मा के लिए है। यह जैमिनि और कई एक ऋषियों का मत है।

वाक्यान्वयात् ॥१९॥

वाक्य+अन्वयात्।

वाक्य का अभिप्राय है वेद वाक्य। अन्वयात् का अर्थ है सामञ्जस्य। अभिप्राय है उचित अर्थ लगाने से।

वेद-वाक्यों के अनुशीलन से क्या पता चलता है? यह पता चलता है कि जगत् में गति और प्राणी में गति परमात्मा का लिंग है।

वेद-वाक्य उस परमात्मा का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामाऽऽविश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥

(ऋ० ३-३८-४)

(आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषन्) विश्व में विराजमान होने से भूषित करती है; (श्रियः वसानः चरति स्वरोचिः) जैसे सूर्य की किरणें चलती हुई; (महत् तत् वृष्णः असुरस्य नाम) उस महान् (परमात्मा) (असुर) विघ्न-बाधाओं को झुकाने के लिए (विश्वरूपः) विश्व के रूपों को अर्थात् विश्व के नक्षत्रादि को; (अमृतानि तस्थौ) अमृत में ठहराता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे सूर्य की किरणें पूर्ण विश्व में फैलकर चलती हुई प्रकाश करती हैं, वैसे ही परमात्मा की शक्ति विश्व की सब वस्तुओं में विरोधी शक्तियों का दमन करती है।

और भी कहा है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समाश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

(श्वे० ६-८)

उस परमात्मा के कार्य और साधन कार्य करने के लिए नहीं। इस पर भी उसके कार्य हो रहे हैं। उसके समान अथवा उससे अधिक कोई बल वाला दिखाई नहीं देता और न ही सुना जाता है। उससे अधिक विविध प्रकार एवं अधिक स्वाभाविक शक्ति और ज्ञान किसी अन्य का नहीं है। कार्य करने के लिए नहीं का अभिप्राय यह है कि परमात्मा के अपने निमित्त कोई कार्य नहीं होता है, दूसरे के हित के लिए ही होता है।

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥२०॥

प्रतिज्ञासिद्धेः + लिङ्गम् + आश्मरथ्यः।

प्रतिज्ञा की सिद्धि में चिह्न है। ऐसा आश्मरथ्य ऋषि का कहना है। प्रतिज्ञा के अभिप्राय में ही यहाँ मतभेद हो गया है।

प्रतिज्ञा के अर्थ हैं कोई काम करने अथवा किसी बात के जानने में निश्चय करना।

श्री आप्टे अपने शब्द कोष में इसके अर्थ लिखते हैं—

admission, acknowledgement, a vow, solemn declaration, इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ प्रतिज्ञा का अर्थ किसी बात को स्वीकार करने अथवा निश्चय करने से है। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इसके भिन्न-भिन्न अर्थ लिये हैं।

उदाहरण के रूप में श्री स्वामी शंकर ने इसके अर्थ किये हैं—

'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' यह प्रतिज्ञा है। अपने ज्ञान से इस सब (जगत्) का ज्ञान हो जाता है। यह प्रतिज्ञा है अर्थात् स्वीकारोक्ति है।

प्रतिज्ञा के यह अर्थ करने से सूत्र का अर्थ बनता है कि इस बात के सिद्ध होने से चिह्न है अर्थात् संकेत है कि जीवात्मा भी परमात्मा ही है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इसका इस सूत्र के पूर्वापर से सम्बन्ध बैठता है अथवा नहीं?

ऊपर यह लिखा जा चुका है कि मनुष्य में मुख्य प्राण चिह्न है परमात्मा का और अगले सूत्र में लिखा है कि यह परमात्मा शक्ति किसी दूसरे (जीवात्मा) के लिए है। इन सूत्रों के प्रकाश में प्रतिज्ञा यह नहीं हो सकती कि अपने ज्ञान से सब जगत् का ज्ञान हो जाता है; वरन् निश्चय बात यह हो जाती है कि जीवात्मा परमात्मा से अन्य है और इस बात को भली-भाँति सिद्ध कर लेने से ही परमात्मा की भी सिद्धि का संकेत मिलता है। यह इस प्रकार कि जीवात्मा का प्राण उसका अपना नहीं है। यह किसी दूसरे (परमात्मा) का दिया हुआ है।

श्री आचार्य उदयवीर शास्त्री इस प्रतिज्ञा का अभिप्राय इस प्रकार समझते हैं। वे लिखते हैं—

"(प्रतिज्ञासिद्धं) प्रतिज्ञा सिद्धि का (लिङ्गम्) चिह्न है।..."

आश्मरथ्य आचार्य का विचार है कि उस प्रसंग में जीव विषय का कथन प्रतिज्ञा सिद्धि का लक्षण है।

आगे चलकर आप लिखते हैं—

'गत सूत्र की व्याख्या में सूत्रकार के आशय के अनुसार इसका समाधान किया कि जीवात्मा का शरीर प्रवेश स्वतन्त्रता से ईक्षणपूर्वक नहीं होता। यह जीवों के कर्मानुरूप परब्रह्म की व्यवस्थानुसार होता है। यह परमात्मा का औपचारिक प्रवेश उसकी व्यवस्थानुसार जीवात्मा प्रवेश का द्योतक है। इसलिए यहाँ शरीरान्तः (शरीर में) प्रवेश को जीवात्मा का लिंग मानने की आवश्यकता नहीं।'

बात तो ठीक है, परन्तु यह पूर्व के सूत्र अथवा वर्तमान सूत्रों में कहीं नहीं कहा गया। यह असंगत भाव उपनिषद् के प्रमाणों के अनुसार हो तो हो, परन्तु सूत्रों से इस सिद्धान्त का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

स्वामी ब्रह्ममुनिजी प्रतिज्ञा का अभिप्राय इस प्रकार सिद्ध करते हैं—

(प्रतिज्ञा सिद्धेः—लिङ्गम्) 'आत्मा वा रे द्रष्टव्यः' इस वचन में परमात्मा का लिंग-द्योतन है प्रतिज्ञा की सिद्धि से, वहाँ यह प्रतिज्ञा है 'आत्मानि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्' (बृहद० ४-५-६) अर्थात् आत्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात् कर लेने पर यह सब जगत् जाना जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार मुनिजी कहते हैं कि परमात्मा को जान लेने से पूर्ण जगत् जाना जा सकता है। यह प्रतिज्ञा है।

हमारा यही कहना है कि इनका पूर्व के सूत्रों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

सूत्र १-४-१६ में तो यह कहा है कि उक्त (१-४-१७, १८) में कही बात वेद-वाक्यों में भी है। अतः इस सूत्र में प्रतिज्ञा वही है जो (१-४-१७, १८) में वर्णन की गई है।

इन सूत्रों में यह कहा है—

मनुष्य में मुख्य प्राण के संकेत से यह पता चलता है कि वह प्राण भी परमात्मा की शक्ति का ही लिंग है। यदि ऐसा नहीं मानते तो सूत्र १-१-३१ में देख लो। वहाँ वर्णन किया है।

इससे अगले सूत्र में लिखा है कि यह (प्राण) जो परमात्मा का लिंग है, यह दूसरे (जीवात्मा) के लिए है। ऐसा जैमिनि और अन्य भी कई एक मानते हैं।

अतः इस सूत्र में यही विचार उपस्थित है कि ईश्वर की शक्ति किसी दूसरे के लिए है। इसीसे यह सिद्ध होता है कि यह शक्ति (प्राण) परमात्मा की है। ऐसा आश्मरथ्य आचार्य का मत है कि परमात्मा की शक्ति जीवात्मा के लिए है। यह ही निश्चय है, यही प्रतिज्ञा है।

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

उत्क्रमिष्यतः+एवम्+भावात्+इति+औडुलोमिः।

इति औडुलोमिः=यह औडुलोमि ऋषि का मत है। उत्क्रमिष्यतः=ऊपर उठता हुआ है। एवम् भावात्=ऐसा होने से।

ऊपर उठते हुए अर्थात् जीवात्मा के मोक्ष की ओर जाने की प्रक्रिया में ऐसा होने से। कैसा होने से क्या? ईश्वरीय प्राण के सहायक होने से ही मोक्ष की सिद्धि है।

इसमें ईश्वरीय प्राण किसी दूसरे के लिए है, इसकी व्याख्या की है। यह जीवात्मा की क्या सहायता करता है? लिखा है कि जीवात्मा की, मोक्ष-प्राप्ति में सहायता करता है।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि शरीर में दी गई ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग कर जीवात्मा मोक्ष की सिद्धि कर सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥२२॥

अवस्थितेः+इति+काशकृत्सनः ।

इति काशकुत्सनः—यह काश कृत्स्न ऋषि का कहना है कि उत्क्रमण करने में जीव परमात्मा के प्राण से सहायता लेता है । यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि अवस्थितेः—ईश्वर में अवस्थित होने से । पूर्ण संसार परमात्मा में स्थित है । इस कारण जीवात्मायें भी उसी परमात्मा में स्थित हैं । अतः जीवात्मा उत्क्रमण करते समय परमात्मा की प्राण शक्ति से सहायता पाता है । निकृष्ट योनियों से उत्कृष्ट योनियों में जाते समय मोक्ष तक पहुँचने में ईश्वर ही सहायक है ।

इस स्थान पर विचारणीय बात यह है कि सब जीव ही क्या उत्क्रमण करते हैं ? ऐसा नहीं है । जो ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग उत्क्रमण के लिए करते हैं, वे ही उत्क्रमण करते हैं । कुछ लोग उच्च योनियों से नीचे की योनियों में जाने के लिए भी संलग्न हैं । इस कारण ईश्वर की शक्ति के प्रयोग की दिशा, तो जीवात्मा के ईक्षण पर है । इसी में उसकी स्वतन्त्रता है ।

एक प्रश्न यहाँ और उत्पन्न होता है कि मनुष्य में मन तथा बुद्धि तो कर्म से मिलते हैं । बिना मन और बुद्धि के मनुष्य उत्क्रमण अथवा अपक्रमण नहीं कर सकता । कारण यह कि ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग इन्हीं से सम्पन्न होता है तो जीवात्मा की स्वतन्त्रता किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है ? जीव तो मन और बुद्धि के अधीन ही होता है ।

यदि यह मानें कि जीवात्मा मन और बुद्धि के बिना मनन एवं निश्चय कर ही नहीं सकता तो सत्य ही जीवात्मा को स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता । परन्तु ऐसा माना है कि मन और बुद्धि तो केवल करण हैं और इन करणों को प्रयोग करने वाला जीव ही है ।

यह कहा है कि—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः । स परेऽक्षारआत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ (प्रश्न० ४-६)

यह (जीव) ही देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, रस लेने वाला, मनन करने वाला, निश्चय करने वाला और कार्य करने वाला है । इन्द्रियाँ नहीं । यह विज्ञानात्मा आत्मा है । वह परम अक्षर परमात्मा में प्रतिष्ठित अर्थात् स्थित है ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने इत्यादि की शक्ति रखता है । अतः यह मन और इन्द्रियाँ नहीं, वरंच आत्मा ही है जो कार्य करता है । वह ईश्वरीय शक्ति (प्राण) का उपयोग अथवा दुरुपयोग करता हुआ उत्क्रमण करता है अथवा अपक्रमण करता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥२३॥

प्रकृतिः + च + प्रतिज्ञादृष्टान्त + अनुपरोधात्।

और प्रकृति (बांधती है अर्थात् उत्क्रमण करने नहीं देती) प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त अर्थात् शास्त्र ज्ञान की बाधा न होने से।

प्रतिज्ञा उत्क्रमण करने का निश्चय अर्थात् संकल्प और ज्ञान प्रकृति के बाँधने के कर्म में बाधक होते हैं। बाधा न हो तो प्रकृति मनुष्य को भोगों में लिप्त रखती है।

जीवात्मा संकल्प और ज्ञान के आश्रय संसार से अलिप्त हो उत्क्रमण करता है, अन्यथा अपक्रमण करता है।

अतः सूत्रार्थ यह है कि संकल्प एवं ज्ञान के विरोध न करने पर जीव संसार में बँधा रहता है और उत्क्रमण नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, जीव के उत्क्रमण (ऊपर उठने) के लिए दृढ़ संकल्प और ज्ञान आवश्यक है।

हमारा मत है कि इस सूत्र का आशय है, "प्रकृति अपने गुणों से मनुष्य को बाँधती है।" जैसा कि गीता में लिखा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(भ० गी० १३-२१)

अर्थात्—जीवात्मा प्रकृति में स्थित प्रकृति से उत्पन्न गुणों के कारण पदार्थों को भोगता है और गुणों का संग ही इस जीवात्मा का अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है।

और इस बन्धन से मुक्ति कब होती है? वह भी गीता में लिखा है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

(भ० गी० १३-२३)

जो इस प्रकार पुरुष (जीवात्मा) को और प्रकृति को गुणों सहित जानता है, वह वर्तमान में विचरता हुआ भी पुनः जन्म नहीं पाता।

अर्थात् प्रकृति अपने गुणों से जीवात्मा को बाँधती है और जो शास्त्रज्ञान से दिशा प्राप्त कर यत्न करता है, वह उत्क्रमण करता है।

इस पूर्ण बात को सूत्रकार ने ऊपर संक्षेप में कहा है कि यत्न से तथा शास्त्र-ज्ञान से मनुष्य प्रकृति से नहीं बँधता।

परन्तु विस्मय इस बात का है कि उक्त सबकुछ जानकर भी श्री शंकराचार्य सूत्रार्थ में हेर-फेर कर गये हैं।

वह उक्त परिणामों से उलट परिणाम निकालने का यत्न कर गये हैं। वह इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र के भाष्य में पहले पूर्व पक्ष लिखते हैं। पूर्व पक्ष में वह लिखते हैं कि जगत्-रचना में दो कारण हैं। प्रकृति उपादान कारण और परमात्मा निमित्त कारण। स्वामीजी का पूर्व पक्ष हमने नहीं लिखा। कारण यह कि हमारा भी पक्ष यही है। देखना यह है कि स्वामीजी इस पूर्व पक्ष का खण्डन किस प्रकार करते हैं।

आप लिखते हैं—

एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव। कस्मात् ? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। एवं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ श्रौतौ नोपरुध्येते। प्रतिज्ञातावत्—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्।' (छा० ६-१-२) **इति।**

इसका अर्थ है—ऐसा (पूर्व पक्ष) प्राप्त होने पर हम कहते हैं। प्रकृति उपादान कारण और उसके ऊपर ब्रह्म निमित्त कारण मानना चाहिए। केवल निमित्त कारण ही नहीं, क्योंकि प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का अनुपरोध है। दोनों प्रकार का कारण ब्रह्म को मानने से श्रुति प्रतिपादित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त बाधित नहीं होते। इस प्रकार प्रतिज्ञा है—'क्या तूने गुरु से यह उपदेश पूछा है ? जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मंत हो जाता है और अविज्ञात ज्ञात हो जाता है।'

(छा० ६-१-२)

इसके आगे आप युक्ति करते हैं—

तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातमपि विज्ञातं भवतीति प्रतीयते। तच्चोपादानकारणविज्ञाने सर्वविज्ञानं संभवत्युपादानकारणाव्यतिरेकात्कार्यस्य। निमित्तिकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति; लोके तक्षणः प्रासादव्यतिरेकदर्शनात्। दृष्टान्तोऽपि—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्युपादनकारणगोचर एवाम्नायते। तथा 'एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६-१-४, ५, ६) **इति च।**

अर्थात्—उसमें ऐसा दिखाई देता है कि एक के विज्ञात होने से अन्य सब अविज्ञात् भी विज्ञात हो जाते हैं। इससे उपादान कारण के विशेष ज्ञान से सब विशेष ज्ञान सम्भव है; क्योंकि कार्य उपादान कारण से अभिन्न होता है और निमित्त कारण से कार्य अभिन्न नहीं होता। लोक में भी बढ़ई भवन से भिन्न दिखाई देखने में आता है, परन्तु दृष्टान्त है—छा० ६-१-४, ५ और ६।

इसकी हम आगे व्याख्या करेंगे।

स्वामीजी के उक्त सूत्र के भाष्य में से इतना बड़ा उद्धरण देने का प्रयोजन यह है कि दिखाया जाये कि स्वामीजी ने अपने सिद्धान्त की पूर्ण भित्ति को जिस आधार पर खड़ा किया है, वह कितना थोथा है !

देखिये, स्वामीजी ने पहले पूर्व पक्ष में यह लिखा है कि जगत् का निमित्त कारण परमात्मा है और उपादान कारण प्रकृति है। अब वह इसका उत्तर इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार देते हैं कि परमात्मा को उपादान कारण को भी निमित्त कारण माना जाये। वह प्रकृति का भी निमित्त कारण है। ब्रह्म को दोनों मान लेना चाहिए।

इसमें वह छान्दो० ६-१-२ का उद्धरण देते हैं।

इसलिए ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों मान लेना चाहिए, क्योंकि छान्दो० ६-१-२ में लिखा है।

आइये, देखें ६-१-२ में क्या लिखा है? इसके साथ ही हम छान्दो० ६-१-३, ४, ५ और ६) भी लिख रहे हैं। एक तो उक्त उद्धरण श्री स्वामीजी अपनी थोथी युक्ति में देते हैं और दूसरे उपनिषद् के पूर्ण प्रसंग को जाने बिना अर्थ लगा रहे हैं।

उपनिषद् मन्त्र इस प्रकार है—

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्वि ँ शतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानीस्तब्ध एयाय। त ँ ह पितोवाच—श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ।।२।।

येनाश्रुत ँ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति,
कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ।।३।।
यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञात ँ स्यात्,
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।।४।।
यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञात ँ स्यात्,
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ।।५।।

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञात ँ स्यात्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यम्। एव ँ सोम्य स आदेशो भवतीति ।।६।।

अब इस उपनिषद् का अर्थ देखिये।

वह श्वेतकेतु बारह वर्ष गुरु के पास रहकर जब चौबीस वर्ष का हुआ तो सारे वेद पढ़कर, बड़ा मनस्वी, अपने-आपको वेदज्ञ मानने वाला और हठी बनकर अपने पिता के पास आया। उसको उसके पिता ने कहा—

'क्या तूने अपने आचार्य से यह पूछा था कि किससे न सुना हुआ सुना हुआ हो जाता है, न जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है और अमत मत हो जाता है?'

लड़के ने कहा, 'भगवन्! वह आदेश क्या होता है?'

'हे सौम्य! जैसे एक मिट्टी के ढेले को जान लेने से सब मिट्टी के पदार्थ जान लिए जाते हैं। जैसे एक सुवर्ण पिण्ड के समझ लेने से सभी सुवर्ण से बने पदार्थों में सुवर्ण का ज्ञान हो जाता है। इनमें विकार केवल कहने मात्र का है। इसी प्रकार यह है।'

श्वेतकेतु ने कहा, 'यह मैंने नहीं सुना। मेरे पढ़ाने वाले ने निश्चय ही यह नहीं बताया। (छान्दो० ६-१-२, ३, ४, ५, ६, ७)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब आरुणि ने कहा, 'यह जगत् पहले सत् ही था। केवल अकेला सत्। कुछ एक का मत है कि अभाव से भाव हो गया। यह कैसे हो सकता है? अभाव से भाव नहीं हो सकता। इस कारण जगत्-रचना से पूर्व भाव था। कुछ था। वह एक था।' (छान्दो० ६-२-१)।

इसका अर्थ यह है कि स्वर्ण को जान लेने से स्वर्णकार उससे भाँति-भाँति के भूषण बना लेता है। कुम्हार मिट्टी को जानकर उससे अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तन बना लेता है। यही सोने की भाँति जगत् का पूर्व सत् था। उससे ही सब जगत् के पदार्थ बने हैं।

इसी प्रकार यह पूर्ण जगत् बनाने वाले ने एक पदार्थ से सब भिन्न-भिन्न नाम रूप वाले पदार्थ बनाये हैं।

इतने वाक्य से तो यह सिद्ध नहीं होता कि जगत् का उपादान कारण नहीं है। केवल यह पता चलता है कि जगत् के सब पदार्थों का एक ही उपादान कारण है। आगे के मन्त्रों में लिखा है—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते। (छान्दो० ६-२-३)

ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त। तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते।

(छान्दो० ६-२-४)

इसका अर्थ इस प्रकार बनता है—

(तद् ऐक्षत् बहुःस्याम् प्रजायेयेति) उस समय परमात्मा ने ईक्षण किया कि मैं बहुत प्रजा उत्पन्न करूँ। तब उसने अन्न का सृजन किया। अतः जहाँ कहीं वर्षा होती है, बहुत अन्न होता है। जल से ही अन्न होता है।

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार करने से तो यह सिद्ध होता है कि उपादान कारण जो ऊपर बताया है कि पूर्ण जगत् का कारण एक ही है, उसने बहुत प्रजायें उत्पन्न करने के लिए ईक्षण किया।

इन्हीं मन्त्रों का यह भी अर्थ किया जाता है कि वह मूल प्रधान ने ही ईक्षण किया और वह ही परमात्मा का रूप है, परन्तु वह अन्य उपनिषद् वाक्यों के विपरीत जाता है। ईक्षण करने वाला तो चेतन तत्त्व ही है और अपां: तेज अन्न इत्यादि जिनके ईक्षण करने की बात आरुणि ने कही कि वे जड़ पदार्थ कैसे ईक्षण करने वाले माने जा सकते हैं? अभिप्राय स्पष्ट है कि उस जगद्-रचना से मूल भाव से परमात्मा ने सृष्टि रचना का ईक्षण किया।

परन्तु हमारी मुख्य आपत्ति शंकर भाष्य पर यह है कि उनकी इस सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या में सूत्र की व्याख्या कहाँ है ? उससे इसकी कहाँ संगत बैठती है ? सूत्र में तो शब्द स्पष्ट है—

प्रकृतिः च—और प्रकृति (बाँधती है।)

प्रतिज्ञा दृष्टान्त अनुपरोधात्—जब संकल्प और शास्त्र ज्ञान-बाधक नहीं होते।

इनका उक्त सब दृष्टान्तों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

अभिध्योपदेशाच्च ।।२४।।

अभिध्या+उपदेशात्+च।

अभिध्या=संकल्प। उपदेशात्=उपदेश से। और प्रश्न उत्पन्न होता है कि संकल्प किसका ?

हमारा मत यह है कि उसका, जो सूत्र १-४-२१ के अनुसार उत्क्रमिष्यत अर्थात् ऊँची योनियों को जाता है। इस प्रकार यहाँ उसके संकल्प से अभिप्राय है। सूत्र (१-४-२३) के अनुसार प्रकृति के बन्धन से प्रतिज्ञा और दृष्टान्त से छूटता है।

अर्थात् यहाँ भी अभिध्या—संकल्प जीवात्मा का ही है। उपदेश से अर्थात् शास्त्र ज्ञान से यह संकल्प बनता है। उत्क्रमण का संकल्प वेदान्त के उपदेश से निर्माण होता है।

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।।२५।।

साक्षात्+च+उभय+आम्नानात्।

और साक्षात् अर्थात् दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष से आम्नान (पठन-पाठन) से।

पूर्व सूत्र (१-४-२४) में लिखा है कि उपदेश से संकल्प उत्क्रमण का बनता है। यहाँ लिखा है—और साक्षात् से भी अर्थात् दोनों के साथ-साथ ज्ञान से संकल्प सुदृढ़ होता है।

साक्षात् के दो अर्थ लिए जा सकते हैं। इतर योनियों में प्राणी के कष्ट देखने से जीवात्मा संकल्प करता है उत्क्रमण करने का। कुत्ते, बिल्ली इत्यादि का विवशता का जीवन देखकर मनुष्य अपक्रमण करने से डरता है। यह एक प्रकार का साक्षात् है। दूसरे प्रकार का साक्षात् है स्वाध्याय तथा योग, ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों के साक्षात् का अभिप्राय यह भी है कि हृदय की गुहा में जीवात्मा और परमात्मा का साक्षात् होने से भी उत्क्रमण होता है।

आत्मकृतेः परिणामात् ॥२६॥

आत्म+कृतेः+परिणामात्।

आत्म=आत्मा। कृतेः=कर्मों के। परिणामात्—परिणाम से।

यह उत्क्रमण अथवा अपक्रमण जीवात्मा के कर्मों के परिणाम अर्थात् कर्मफल से होता है।

योनिश्च हि गीयते ॥२७॥

योनि=उद्गम स्थान। च=और। हि=क्योंकि। गीयते=वर्णन किया गया है।

और क्योंकि परमात्मा इस (जगत्) का योनि स्थान कहा गया है; इस कारण 'जन्माद्यस्य यतः' सिद्ध होता है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि योनि कहने से वहाँ पर बनने वाला पदार्थ और उस पदार्थ का मूल स्रोत योनि से पृथक् होता है। योनि उद्गम स्थान है। उद्गम होने वाला पदार्थ भिन्न तत्त्वों से बनता है। यह बात स्पष्ट है कि योनि केवल मात्र स्थान का प्रतीक है। बनने वाले पदार्थ का मूल योनि से भिन्न है। इसी प्रकार बनाने की शक्ति भी स्थान से भिन्न है।

जगत्-रचना में योनि स्थान तो आकाश है। मूल पदार्थ प्रकृति अर्थात् प्रधान है और रचना की शक्ति रखने वाला परमात्मा है।

ऊपर आकाश को परमात्मा का लक्षण लिखा जा चुका है। यह इस कारण कि आकाश (space) परमात्मा से व्याप्त है। अतः जहाँ-जहाँ आकाश है, वहाँ परमात्मा का होना भी निश्चय है।

जैसे अग्नि का लक्षण धुआँ है। जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि को भी मानना होता है। इसी प्रकार परमात्मा और आकाशं पर्यायवाचक हो गये हैं।

आम्नान् के अर्थ हैं पठन-पाठन द्वारा स्मरण रखना। विलियम मोनियर इसके अर्थ इस प्रकार लिखते हैं। आम्नान्—to utter, mention, to cite, to commit to memory, handed down in sacred text.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥२८॥

एतेन + सर्वे + व्याख्याता + व्याख्याताः।

इससे सबमें व्याख्या सहित व्याख्या किये गए (समझना चाहिए)। व्याख्या से व्याख्या किये गए का अर्थ है वेदादि शास्त्रों में व्याख्या सहित वर्णन किये गए समझ लो।

यहाँ सूत्रवत् वर्णन किया गया है। व्याख्या वेदादि शास्त्रों में मिलती है। यह वैसा ही कथन है जैसाकि ब्र० सू० १-१-१५ में भी आया है। (मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते) अर्थात् वेदमन्त्र के पदों में ऐसा कहा गया है।

सर्वे का अर्थ है सब प्रामाणिक शास्त्रों में।

यहाँ ब्रह्मसूत्रों के प्रथम अध्याय की समाप्ति होती है। अतः हम अपना मन पुनः लिख देना चाहते हैं।

(१) ब्रह्म शब्द का प्रयोग केवल परमेश्वर के लिए ही नहीं किया गया। इन सूत्रों में जहाँ-जहाँ ब्रह्म का प्रयोग हुआ है; विशेषतः ग्रन्थ के नाम में, वहां जगत् के तीन मूल पदार्थों से अभिप्राय है। परमात्मा, प्रधान और जीवात्मा गण। अन्य शास्त्रों में भी इस शब्द का प्रयोग तीनों मूल पदार्थों, दोनों अथवा किसी एक के लिए भी हुआ है। अतः अर्थ करने में सावधानी बरतनी चाहिए।

'सत्' इस ग्रन्थ में अथवा वेदादि शास्त्रों में भी केवल 'होने' के अर्थों में आया है। अर्थात् जो अनादि है और जो अक्षर है, वह 'सत्' है।

चित् से अभिप्राय चेतन है। चेतन पदार्थ का गुण ईक्षण करना है। ईक्षण से अभिप्राय कार्य का काल, स्थान और विधि निश्चय करना है। जो ऐसा करने की सामर्थ्य रखता है, वह ईक्षण करने योग्य माना जाता है और वह चेतन है।

परमात्मा और जीवात्मा सत् भी हैं और चेतन भी हैं। परमात्मा सत् एवं चित् के अतिरिक्त आनन्दस्वरूप भी है। इसी कारण परमात्मा को सच्चिदानन्द भी कहते हैं।

जीवात्मा आनन्दमय नहीं, परन्तु यह आनन्द की खोज में रहता है। विशेष प्रयत्न और परिस्थितियों में यह भी आनन्द का उपभोग करने के योग्य हो जाता है।

प्रकृति, जिसे प्रधान भी कहा है, भी सत् है अर्थात् अनादि और अनन्त है। परन्तु यह न तो चित् है और न ही आनन्दमय है। इसमें ईक्षण नहीं है। यह किसी भी अवस्था में आनन्दमय नहीं हो सकती। कारण यह कि इसमें चैतन्यता न होने से इसके लिए आनन्द तथा आनन्दमय अवस्थाएँ समान हैं। यह परिणामी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् इसमें विकार उत्पन्न होते हैं और वे विकार विनष्ट होते हैं। इस पर भी मूल पदार्थ अनादि और अक्षर है।

अतएव हमारा मत है कि ब्रह्मसूत्र-ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों का ज्ञान कराने वाला है। केवल परमात्मा का नहीं।

हम यह मानते हैं कि ब्रह्मसूत्रों में जिस सत्य का निरूपण किया गया है, वह वेदादि शास्त्रों में भी मिलता है। परन्तु उसी सत्य की सिद्धि ब्रह्मसूत्रों में युक्ति का आश्रय लेकर की गयी है। इसी कारण इसे मीमांसा (philosophy) का ग्रन्थ कहा गया है।

हम युक्ति को वर्जित (taboo) नहीं करते, परन्तु युक्ति बुद्धि का विषय है और बुद्धि एक करणमात्र है। इस करण को जितना निर्मल, सजग और तीव्र बनाया जाता है, उतनी ही अधिक स्पष्टता से सत्य के दर्शन होते हैं।

इस बुद्धि को निर्मल करने के लिए ही कुछ पूर्व-कर्म स्वीकार किये गए हैं। ये हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और विवेक।

ये वे साधन चतुष्टय नहीं, जिनकी आवश्यकता ब्रह्म में लीन होने के लिए आवश्यक समझी गयी है। इनमें कम-से-कम मुमुक्षत्व सम्मिलित नहीं। मुमुक्षत्व तो ज्ञान के उपरान्त उत्पन्न होता है। ज्ञान प्राप्ति के लिए वे सब साधन चाहिए, जिनसे बुद्धि निर्मल हो। शेष ज्ञान प्राप्त होने के उपरान्त होता है।

□

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय में वर्णित विषय का संक्षेप

सूत्रकार यह बताने के लिए कि उसका मत वैदिक शास्त्रों का ही मत है, एक विशेष बात का स्पष्टीकरण करता है। वह यह कि यदि किसी शास्त्र में किसी विषय का वर्णन न हो तो इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि वह शास्त्र उस विषय का विरोध करता है। 'अनवकाश' अर्थात् किसी विषय अथवा पदार्थ का उल्लेख न होने से यह अर्थ नहीं निकलता कि वह शास्त्र उस विषय का विरोध कर रहा है अथवा उस पदार्थ के अस्तित्व को नहीं मानता।

इस प्रकार सूत्रकार ने उन शास्त्रों की सफाई प्रस्तुत कर दी जिनमें जीवात्मा और प्रकृति का उल्लेख नहीं है। जीवात्मा और प्रकृति का उल्लेख कई उपनिषदों में नहीं है।

योग क्रियाओं में कैवल्यावस्था प्राप्त करने के लिए मनुष्य द्वारा किये जाने वाले प्रयास का वर्णन है। इसमें परमात्मा के सहयोग का वर्णन नहीं। इस कारण यह कहना ठीक नहीं कि योग की सिद्धि में परमात्मा का कुछ हाथ है ही नहीं। विषयान्तर होने से ऐसा वहाँ नहीं लिखा।

प्रकृति के जो गुण सांख्य-दर्शन में वर्णन किये हैं, वे कार्य-जगत् में भी उपस्थित हैं। इससे कार्य-जगत् का कारण प्रकृति को मानना ही होगा। कार्य-जगत् में प्रकृति जैसे गुण होने से ऐसा समझ में आता है।

कार्य-जगत् में भिन्न-भिन्न पदार्थों की गतियाँ कुछ ऐसी प्रतीत होती हैं जैसेकि नाट्यकार रंगमंच पर नाटक करते हैं; परन्तु कराने वाला सूत्रधार भी होना चाहिए। वह परमात्मा है।

प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि जगत्, जिसमें के पदार्थ नाटक करते प्रतीत होते हैं, यह प्रलयकाल में कहाँ होता है? उस समय तो कुछ भी दिखाई नहीं देता। शास्त्र में भी लिखा है कि अन्धकार शून्य-समान ही सबकुछ होता है। यदि वह प्रकृति है तो कार्य-जगत् वैसा न होने से प्रकृति से नहीं बना।

सूत्रकार इस प्रश्न का उत्तर देता है कि अव्यक्त से व्यक्त बनने में अयुक्तिसंगत बात नहीं। यदि अव्यक्त से व्यक्त होने को अयुक्तिसंगत मानते हो तो शून्य से जगत्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भाव कैसे युक्तिसंगत हो सकता है ? अर्थात् नास्तिक जो अभाव से भाव मानते हैं, वे यह नहीं बता सकते कि अव्यक्त से व्यक्त कैसे हो गया ?

अब सूत्रकार उक्त आधाररहित युक्ति करने वालों को एक सिद्धान्त की बात बताता है। वह कहता है कि युक्ति निराधार नहीं हो सकती। अर्थात् जब युक्ति करनी होती है तब वैसी अनुभव में आयी बात की ओर संकेत करना होता है। यदि संकेत की हुई बात ठीक है तो युक्ति भी सत्य होगी।[1]

हम नित्य देखते हैं कि जो पैदा होता है वह मरता भी है। अतः पैदा हुए प्राणी को देख उसके मरने की युक्ति करना सत्य है। कोई कहे कि देवदत्त का पुत्र मरा था तो यह असत्य नहीं हो सकता। यह सत्य है। प्रतिष्ठित युक्ति को अनुमान कहते हैं। यह सत्य की खोज में एक प्रमाण माना जाता है।

इस सूत्र का उल्लेख करने का कारण यह है कि शंका करने वाले ने निराधार युक्ति उपस्थित की थी। उसकी अपनी युक्ति से उसका अपना मत ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अव्यक्त से व्यक्त, शून्य से जगत् की रचना की अपेक्षा अधिक सत्य है। अतः विद्वत् जनों से अस्वीकृत बातें अस्वीकृत ही होनी चाहिए। विद्वान् लोग ठीक प्रकार से युक्ति कर अनुमान लगाते हैं।

जो परमात्मा को नहीं मानते और जड़ जगत् को ही सबकुछ मानते हैं, वे यह युक्ति करते हैं कि अन्न जड़ है। अन्न खाने से शरीर बनता है। वह चेतन है, तो यह सिद्ध हो गया है कि चेतन शरीर भी जड़ है। कारण यह कि शरीर अचेतन अन्न से बना है। सूत्रकार इसमें लौकिक उदाहरण देता है। एक भवन का स्वामी भवन की मरम्मत करता है। मरम्मत में पदार्थ अचेतन लगते हैं। भवन मरम्मत हो जाने से स्वामी को सुख मिलता है, परन्तु बनता भवन है। यही बात शरीर की है। अन्न से शरीर बनता है, परन्तु शरीर का स्वामी सुख भोगता है। अतः जैसे भवन का स्वामी भवन में लगने वाले चूने, सीमेंट से भिन्न है, वैसे ही जीवात्मा शरीर-निर्माण करने वाले अन्न से भिन्न है।

कारण से ही कार्य होता है और मूल गुण, कारण के, कार्य में देखे जाते हैं। उक्त सब युक्तियों से यह सिद्ध किया गया है कि प्रकृति के मूल गुणों को रखने वाला जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। उसे प्रकृति अथवा प्रधान का नाम दिया है। वह कारण सदा उपस्थित रहने वाला होना चाहिए। अतः प्रकृति का एक गुण है कि यह 'सत्' है, अनादि है और अक्षर है। इसे अजन्मा कहा जाता है।

जगत् सत् नहीं। जहाँ कहीं इसे सत् कहा जाता है वहाँ केवल तुलनात्मक भाव में ही कहा जा सकता है। जगत् का एक धर्म है कि यह व्यक्त है। यह बना है। जो बनता है वह बिगड़ता भी है। अतः जगत् बनता और बिगड़ता है। इससे इसके

---

१. ब्रह्मसूत्र २-१-११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल कारण 'प्रकृति' में व्यक्त होने का गुण नहीं। यह अव्यक्त है। बनती नहीं। अनादि है।

यह जगत् ऐसे ही बना है जैसेकि सूत से कपड़ा बनता है। सूत के मूल गुण कपड़े में रहते हैं। प्रकृति के परमाणुओं से जगत् के अनेकानेक पदार्थ बनते हैं।

प्राणी का शरीर भी प्रकृति का बना है। इसमें इन्द्रियाँ इत्यादि ऐसे ही गुँथी हुई हैं जैसे कि सूत कपड़े में होता है। इन्द्रियाँ भी तो प्रकृति के परमाणुओं से बनी होती हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि प्रकृति के अतिरिक्त चेतना इस जगत् में कार्य कर रही है। वह एक ही है जो भिन्न-भिन्न कार्य करती है। सूत्रकार का कहना है कि चेतना एक प्रकार की नहीं है। वह दो प्रकार की है। यदि प्राणियों में चेतन तत्त्व भी वही मान लेंगे जो जगत् में है, तो दोष यह होगा कि प्राणी तो अच्छे-बुरे कर्म सब करता है। तो वह चेतन तत्त्व जो पूर्ण जगत् का निर्माता, भर्ता और प्रलयकर्ता है, वह बुरे कर्म करने वाला भी मानना पड़ेगा। इस कारण, सूत्रकार का कहना है कि प्राणी में चेतन तत्त्व भिन्न है। यह वह नहीं जो जगत् का संचालन करता है। अर्थात् जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है।

पत्थर इत्यादि जड़ हैं। इनमें गति चेतन के करने से होती है, परन्तु इनकी गति और प्राणी की गति में अन्तर है। यह एक दिशा में गति और कभी विपरीत गति भी करता है। अर्थात् जीवात्मा प्राणी में गति करने वाला जगत् में गति करने वाले परमात्मा से भिन्न है।

जीवात्मा बिना साधनों के कार्य नहीं कर सकता। इसे उपकरण चाहिए। जैसे कुम्हार को बर्तन बनाने के लिए चक्का, डण्डा इत्यादि चाहिए। परन्तु परमात्मा को जगत् बनाने के लिए उपकरण दिखायी नहीं देते। चन्द्र, सूर्य, पृथिवी बनाने के लिए उपकरण नहीं हैं। अतः परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर है।

जो जगत् का उपादान कारण परमात्मा को मानते हैं उनसे सूत्रकार पूछता है कि पूर्ण परमात्मा ही जगत् में परिवर्तित हो जाता है अथवा केवल कुछ भाग? यदि तो मानो कि पूर्ण परमात्मा जगत् में बदल जाता है तो परमात्मा के गुणों वाली वस्तु ब्रह्माण्ड में नहीं रहेगी और यदि कहो कि कुछ परिवर्तित होता है और कुछ नहीं होता तो परिवर्तित होने वाले और न परिवर्तित होने वाले में सीमा बन जाएगी। एक के दो भाग हो गये। अर्थात् परमात्मा सावयव हो जायेगा। अतः सूत्रकार का मत है कि जगत् का उपादान कारण परमात्मा नहीं। यह प्रकृति है।

परमात्मा जड़ प्रकृति से जगत् की रचना करता है। वह विचित्र प्रकार की शक्तियों का स्वामी है।

परमात्मा सर्वव्यापक होने से बिना करणों के रचना करता है। इसका सम्पर्क प्रकृति के प्रत्येक परमाणु से होने के कारण वह बिना करणों के रचना कर सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और वह सब कुछ देखता है और जानता है।

परमात्मा की शक्ति से इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। जगत् की रचना भी वही करता है। यह सबकुछ विशेष प्रयोजन से हो रहा है, परन्तु जगत् रचना लीलावत् होती है। स्वाभाविक रूप में ही हो रही है। परमात्मा का सम्बन्ध प्रकृति और जीवात्माओं से स्वाभाविक है। इसीसे यह रचना होती है।

जीवात्माओं के भोग के लिए जगत् रचना होती है। परमात्मा का जीवात्माओं से सम्बन्ध के कारण ही रचना होती है। परमात्मा भोग नहीं करता, अतः यह भोग-सामग्री जीवों के लिए है; परमात्मा के लिए नहीं।

कार्य-जगत् जो प्रत्यक्ष है उसमें तीनों मूल पदार्थों के गुणों के उपस्थित होने से तीनों की सिद्धि है।

लोग मूल प्रकृति से ही जगत् की रचना हुई मानते हैं। इसमें किसी चेतन के सहयोग को नहीं मानते। सूत्रकार कहता है कि यह युक्ति से भी सिद्ध नहीं होता तथा न प्रकृति के गुणों से और न ही प्रकृति की प्रवृत्ति अर्थात् स्वभाव से जगत्-रचना होती देखी जाती है।

प्रकृति का एक गुण है कि यह जड़ है और जड़ पदार्थ न तो स्वयं हिल सकते हैं और यदि हिल रहे होते हैं तो स्वयं ठहर नहीं सकते। प्रकृति का कोई भी कण खड़ा है तो खड़ा ही रहता है, चल रहा है तो उसी गति और दिशा में चलता रह सकता है, जिसमें यह चल रहा है; जब तक इस पर किसी दूसरे का प्रभाव न पड़े। (यह गतियों में न्यूटन का प्रथम नियम है।) अतः केवल प्रकृति से जगत् की रचना नहीं मानी जा सकती। बिना किसी के हिलाये एक तिनका भी नहीं हिलता।

साथ ही बिना किसी प्रयोजन के कुछ होता नहीं। इस कारण प्रकृति स्वयं जगत्-रचना नहीं कर सकती। कोई चेतन-शक्ति रचना करने वाली होनी चाहिए और किसी अन्य चेतन के लिए रचना होनी चाहिए।

कभी अन्धा और लँगड़ा सहयोग से चल सकते हैं और चुम्बक से जड़ पदार्थ हिल पड़ते हैं, परन्तु सूत्रकार का कहना है कि जगत्-रचना ऐसे नहीं हो सकती। उक्त दोनों उदाहरणों में भी चेतन तत्त्व के बिना कार्य नहीं हो सकता। अन्धे और लँगड़े के सहयोग में भी चेतना तो है ही। चुम्बक में भी चेतन का सहयोग रहता है। बिना चेतन के प्रयत्न के लौह-कण चुम्बक के क्षेत्र में आ ही नहीं सकता; साथ ही दिशा में परिवर्तन नहीं हो सकता।

जगत्-रचना होती है प्रकृति के परमाणुओं से। परमाणुओं में गुण रहते हैं। ये परमाणु के अंग हैं। अतः इन अंगों के हेर-फेर से सृष्टि-रचना होती है। यह हेर-फेर करने वाली कोई ज्ञानवान् चेतन शक्ति है। यह परमात्मा है।

परन्तु परमात्मा सृष्टि का उपादान कारण नहीं। प्रकृति के मूल गुण तो सृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में हैं, परन्तु परमात्मा के मुल गुण—ज्ञानवान् होना, शक्तिमान् होना इत्यादि सृष्टि में नहीं हैं।

परमाणुओं में सत्त्व, रजस् और तमस् के आकर्षण-विकर्षण से ह्रस्व-दीर्घ परिमण्डल बनते हैं, परन्तु प्राणी की रचना इतने मात्र में नहीं होती।

प्राणी अर्थात् चेतन शरीर की रचना, जब परिमण्डल एक ओर से तथा जीवात्मा दूसरी ओर से आकर सम्पर्क में आते हैं, तो होती है।

पाँचभौतिक प्रकृति से जीवात्मा का सम्पर्क होने पर प्राणी की रचना होती है।

पाँचभौतिक पदार्थ बनते हैं परिमण्डलों के संयोग-वियोग से। इस संयोग-वियोग में परिमण्डलों का कुछ भी हेतु नहीं। हेतु है जीवात्मा के लिए भोग प्राप्त कराना।

जब परिमण्डलों के संयोग-वियोग से पदार्थ बनते हैं, तो कुछ विनष्ट होते हैं, कुछ बनते हैं। विनष्ट होने वालों से ही दूसरे बनते हैं। विनष्ट होने वाले में दोष उत्पन्न होता है तो दूसरा बनता है।

यह कार्य-जगत् अभाव से नहीं बना। इसका कारण जड़ प्रकृति है और उससे जगत् बना है। बनाने वाला चेतन इसका निमित्त कारण है।

सूत्रकार ने जगत् को स्वप्नादिवत् नहीं माना। इसमें वह युक्ति देता है कि कार्य-जगत् में वैधर्म्य होने से। अनेक प्रकार के धर्म हैं कार्य जगत् के। स्वप्न में पदार्थों के वैधर्म्य नहीं होते।

जड़ जगत् में कार्य परमात्मा से होता है। जगत् में कार्य होता देखकर परमात्मा की उपलब्धि होती है। अर्थात् परमात्मा की सिद्धि होती है। जगत् क्षणिक है। अर्थात् अल्पकाल में बनता-बिगड़ता है। यहाँ अल्पकाल ब्रह्माण्ड के अनादि काल की तुलना में कहा गया है। वास्तव में ब्रह्म दिन और रात्रि सौर-वर्ष की तुलना में बहुत बड़ा है। यह दिन अथवा रात प्रत्येक ४,६४,००,००,००० (चार अरब चौंसठ करोड़) वर्ष का है।

कार्य-जगत् एक ही तत्त्व से नहीं बना। इसमें तीन तत्त्वों का संयोग है। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। यदि यह मानें कि कार्य-जगत् एक ही तत्त्व से बना है तो उस तत्त्व की सम्पूर्णता सिद्ध हो जायेगी।

जगत् विकारयुक्त है अर्थात् परिणामी है। परिणाम में अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनती हैं। इसपर भी उनके बनने में विरोध नहीं। उन सबमें प्रकृति के एक मूल गुण की समानता है। वह गुण है जड़त्व का।

परन्तु परमात्मा को ही जगत् में परिवर्तित मानने से परमात्मा के दो रूप मानने पड़ेंगे। एक नित्य और दूसरा अनित्य। जगत् के पदार्थ अनित्य हैं।

परमात्मा जगत् का पति भी नहीं। इसका जगत् से पति-पत्नी का सम्बन्ध भी नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोक्ता का सम्बन्ध भी नहीं है। परमात्मा जगत् का भोग नहीं करता। जगत् परमात्मा का निवास-स्थान भी नहीं। परमात्मा की इन्द्रियाँ भी नहीं। परमात्मा अन्त वाला और असर्वज्ञ भी नहीं। यह अनादि, अनन्त है और सर्वज्ञ है। परमात्मा की उत्पत्ति भी असम्भव है। यह अयुक्तियुक्त है।

परमात्मा बिना साधनों के जगत् की रचना करता है। विशेष ज्ञान एवं सर्व-व्यापकता होने से इसको करणों की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार कई प्रकार की युक्तियों से सूत्रकार ने परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन किया है।

इतना वर्णन कर सूत्रकार इस अध्याय में वर्णित सिद्धान्त में दोष निकालने वालों का उत्तर देता है।

सबसे पहले आकाश के विषय में ही लिखा है। किसी ने आपत्ति की है कि वेदों में आकाश का कथन नहीं। सूत्रकार कहता है कि है।

इसपर आक्षेप करने वाला कहता है कि वह वर्णन गौण है। वहाँ परमात्मा को आकाश कहा है।

सूत्रकार का कहना है कि गौण नहीं है। आकाश और परमात्मा का कथन साथ-साथ आने से दोनों में कोई भी गौण नहीं। दोनों का कथन है। इस कारण इस प्रतिज्ञा की कि वेदों में आकाश शब्द का कथन है, हानि नहीं हुई। आकाश का परमात्मा के साथ सम्बन्ध वर्णन किया है। यह परमात्मा के लक्षण के रूप में है। लक्षण भी तो कुछ होता है। वह न होने के समान नहीं।

कई स्थानों पर आकाश की उत्पत्ति लिखी है। वहाँ उस आकाश से अभिप्राय नहीं, जो परमात्मा का लिंग है। उत्पत्ति उस आकाश की है जो पाँचभौतिक है।

पाँचभौतिक आकाश अहंकारों से बनता है। पंच महाभूतों में यह सबसे पहले बनता है। तदनन्तर इससे मातरिश्वा बनता है। मातरिश्वा उस वायु को कहते हैं जिससे पाँचभौतिक अग्नि उत्पन्न होती है और पाँचभौतिक अग्नि से पाँचभौतिक जल और जल से पृथ्वी बनती है।

ये सब प्रकृति के परिणाम हैं और प्रकृति की सत्ता है। अर्थात् शून्य से ही इस जगत् की उत्पत्ति नहीं होती। कारण यह कि शून्य से कुछ अस्तित्व वाली वस्तु बन नहीं सकती।

इस प्रकार सृष्टि क्रम है→प्रकृति→महत्→अहंकार→पंच महाभूत→प्राणी। और विपर्यय (विपरीत कार्य) अर्थात् प्रलय कार्य इससे उलट क्रम पर चलता है। प्राणी→पंच महाभूत→अहंकार→महत्→प्रकृति।

रचना और प्रलय दोनों के क्रम से इसके करने वाले निमित्त कारण का ज्ञान होता है। उक्त सृष्टि-क्रम में पंच महाभूतों से प्राणी की सृष्टि लिखी है। यह सृष्टि पंच महाभूतों के क्रम में नहीं। यह मन और बुद्धि के पंच भूतों के संयोग से होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। मन और बुद्धि महत् का अंश है और ये अविशेष कहलाते हैं।

प्राणी जगत् में पंच महाभूत, मन और बुद्धि से शरीर-निर्माण होता है, परन्तु यह शरीर प्राणी में गौण है। मुख्य है जीवात्मा, जो शरीर के जन्म-मरण से पृथक् रहता है। जन्म और मरण शरीर का होता है। जीवात्मा का अविनाशी होना शास्त्र से भी प्रमाणित है। आत्मा चेतन है। चेतन के मुख्य लक्षण—कार्य का ढंग, दिशा और काल निश्चय करना—जीवात्मा में पाये जाते हैं।

मरण-जन्म से शरीर में से जीवात्मा का जाना और आना ही प्रकट होता है। यह आना और जाना दो प्रकार का है—उत्क्रमण और निम्नक्रमण। अर्थात् निम्न योनियों से उच्च योनियों में जाना अथवा उच्च योनियों से निम्न योनियों में जाना आत्मा के उत्क्रमण और निम्नक्रमण के साथ ही सम्बन्ध रखता है। शरीर तो मरण के समय विनष्ट हो जाता है।

उत्क्रमण अथवा निम्नक्रमण का सम्बन्ध जीवात्मा से है। यह न तो शरीर से सम्बन्ध रखता है और न ही परमात्मा से। जीवात्मा अणु मात्र है और परमात्मा विभु अर्थात् सर्वव्यापक है। इस कारण भी गति-अगति का सम्बन्ध जीवात्मा से ही है। जीवात्मा का अणु मात्र होना शास्त्र में लिखा है। साथ ही यह चेतन है।

यह अणु मात्र होने पर भी पूर्ण शरीर में कार्य करता है। जैसे चन्दन की गन्ध उस पूर्ण आगार में फैल जाती है, जिसके एक कोने में चन्दन की लकड़ी रखी हो। इसी प्रकार इसकी शक्ति का प्रसार उस पूर्ण शरीर में होता है, जिसमें यह उपस्थित हो।

जीवात्मा हृदय की गुहा में स्थित है और इसकी शक्ति का प्रसार शरीर में इन्द्रियों द्वारा होता है। ऐसे ही जैसे लोक में राजा अपने कर्मचारियों द्वारा राज्य करता है।

जीवात्मा और परमात्मा में समानता चेतना की है। इस पर भी दोनों में भेद है। प्रथम भेद तो यह है कि एक अणु मात्र है और दूसरा विभु है। एक को अपने से बाहर कार्य करने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता रहती है और दूसरे को इनकी आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वतः ही सर्वत्र व्यापक है।

शरीर में रहते हुए ही जीवात्मा के अस्तित्व का पता चलता है। जीवात्मा सदा शरीर सहित रहता है। केवल ब्रह्मरात्रि के समय इसका सम्बन्ध स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर से छूटता है। तब यह सक्रिय नहीं रहता। तब इसकी सुषुप्ति अवस्था कही जाती है।

मोक्षावस्था में इन्द्रियाँ और शरीर न रहने पर भी यह चेतन रहता है। इसकी कार्य करने में स्वतन्त्रता रहती है। ब्रह्मरात्रि की अवस्था में भी इसका चेतन गुण साथ रहता है; यद्यपि वह प्रकट नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह ऐसे ही है जैसेकि पुरुषत्व तो बालक और वृद्ध में भी रहता है; यद्यपि इसका प्रकटीकरण नहीं हो सकता।

इस प्रकार जीवात्मा में अनुभव करने की सामर्थ्य तो रहती है; यद्यपि इसकी अभिव्यक्ति (प्रकट होना) विशेष अवस्था में ही होती है। साथ ही जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। इसको मिले करण इसकी इच्छानुसार कार्य करते हैं। शरीर में इसके करण हैं इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ)। ये करण जीवात्मा की इच्छा के अनुसार ही कार्य करते हैं, परन्तु इसके कर्मों का फल इसकी इच्छा के अधीन नहीं। कर्म से फल की उपलब्धियों में इच्छा का नियम नहीं चलता।

कभी जीवात्मा के कार्य अधूरे रह जाते हैं; यद्यपि उसकी इच्छा इनको पूर्ण करने की होती है। इसके करणों (बाह्य एवं आभ्यन्तरिक इन्द्रियों) की सामर्थ्य सीमित है। कभी इच्छायें सामर्थ्य से अधिक हो जाती हैं। साथ ही कर्म की उपलब्धि (कर्मफल) जीवात्मा के अधीन नहीं।

समाधि के अभाव के कारण भी इच्छाएँ पूर्ण नहीं होतीं। समाधि से अभिप्राय है बुद्धि को लक्षित विषय पर केन्द्रित करना। जब बुद्धि को विषय पर केन्द्रित न किया जा सके तो सफलता नहीं मिलती।

करण सामर्थ्यवान् होते हुए भी कभी जीवात्मा काम नहीं भी करता। जैसे बढ़ई के हथियार सब ठीक होने पर काम करे अथवा न करे, यह बढ़ई के अधीन है।

कर्म करने में स्वतन्त्र होते हुए भी वह कर्म की शक्ति के लिए परमात्मा के आश्रय है। प्राण परमात्मा की देन है और उनसे ही जीवात्मा कार्य करता है। इसी प्रकार परमात्मा जीवात्मा के सब कार्यों पर देख-रेख रखता है और उनका फल देता है।

कुछ एक आचार्य जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानते हैं। सूत्रकार कहता है कि 'दाशकित्वादि' जैसा सम्बन्ध है। अर्थात् माता-पिता का पुत्र के साथ जैसा सम्बन्ध है।

जीवात्मा परमात्मा का ऐसा ही अंश है जैसे मन्त्र में वर्ण का।

दोनों सम्बन्ध जिनका सूत्रकार ने वर्णन किया है, बाह्य सम्बन्ध ही हैं। माता-पिता और पुत्र का सम्बन्ध शरीर का है, जीवात्मा का नहीं। इसी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध है।

मन्त्र और वर्ण में भी केवल मन्त्र के आकार-विस्तार का सम्बन्ध है, मन्त्र के भाव का नहीं। अतः जीवात्मा परमात्मा का वास्तविक अंश नहीं। केवल बाहरी शरीर और जगत् के पदार्थों का ही सम्बन्ध है।

जीवात्मा परमात्मा का ऐसा अंश नहीं जैसे कि गुड़ का टुकड़ा, गुड़ की भेली का अंश होता है। यह ऐसा ही अंश है जैसेकि पुत्र, माता-पिता का अंश होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा प्रकाशादि की भाँति नहीं। प्रकाशादि का अभिप्राय अग्नि आदि पंच महाभूत है। ये निर्मित पदार्थ हैं। परमात्मा निर्मित नहीं। साथ ही प्रकाश दूसरों को प्रकाशित करता है और परमात्मा सर्वव्यापक होने से स्वयं ही सबके सम्पर्क में है। अतः यह प्रकाश की भाँति नहीं। जीवात्मा का शरीर से सम्बन्ध तो एक ज्योति की भाँति हो सकता है, परमात्मा का नहीं।

जीवात्मा में ऐसे वृद्धि नही होती जैसी कि देह से देहों की वृद्धि होती है। इस कारण एक जीवात्मा के कर्म फल का उत्तराधिकारी कोई अन्य जीवधारी नहीं हो सकता।

जीवात्मा आभास मात्र ही नहीं। आभास में तो एक का दोष सब प्रतिबिम्बों में दिखायी देना चाहिए। जीवात्मा में सांकर्य (अदला-बदली) भी नहीं हो सकता।

जीवात्मा के कर्म-फलों में भी सांकर्य नहीं होता। जिसके कर्म हैं उसको ही फल मिलता है। यह नहीं कि करे कोई और भरे कोई दूसरा।

राग-द्वेषादि में भी जीवात्मा का परमात्मा से भेद है। यह परमात्मा का अंश नहीं है। यदि यह कहें कि राग-द्वेषादि शरीर (चित्त) के कारण हैं तो यह ठीक नहीं। कारण यह कि चित्त (मन, बुद्धि और अहंकार) जड़ होने से भीतर रहने वाले जीवात्मा से कार्य करते हैं। बिना जीवात्मा के ये कार्य नहीं कर सकते।

शरीर कार्य करता है प्राण से। प्राण गौण नहीं। अर्थात् यह प्रकृति (शरीर) अथवा जीवात्मा का गौण अंग नहीं। यह इनसे उत्पन्न नहीं होता। वेद में वर्णन किया गया है कि जगत्-रचना से पूर्व भी यह उपस्थित था। अतः यह गौण नहीं। प्राण से ही वाकादि इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। शरीर की सात गतियों में यह कार्य करता है। इस गति विशेष के कारण प्राण सात माने गये हैं। मूलतः प्राण एक ही है। कार्य विशेष से इसको सात माना है।

इन सात प्राणों में वह शक्ति सम्मिलित नहीं जिससे कि हाथ-पाँव और शरीर के अन्य अंग संगठित हैं। उदाहरण के रूप में शरीर की पेशियों का माँस भी तो किसी शक्ति से गठित है। प्राण वह शक्ति नहीं।

प्राण अति सूक्ष्म होते हैं। सात प्राणों में एक श्रेष्ठ अथवा मुख्य प्राण कहलाता है। यह रक्त संचालन यन्त्र को और अन्य अनैच्छिक गति करने वाले अंगों को गति प्रदान करता है।

वायु भी शरीर का भीतर से नियमन करने के लिए है, परन्तु वह प्राण नहीं। शरीर की पेशियाँ वायु से नियमन होती हैं। प्राण उससे भिन्न है। प्राण मुख और चक्षु आदि इन्द्रियों में कार्य करते हैं।

श्रेष्ठ प्राण तो ऐसे हैं कि उनके बिना शरीर नहीं रह सकता, परन्तु अन्य छः प्राणों के न रहने से भी शरीर रह सकता है। छः प्राणों में पाँच तो ज्ञानेन्द्रियों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य करते हैं। इनका कार्य मन की भाँति होता है। ये सब प्राण अणुवत् हैं अर्थात् अति सूक्ष्म हैं। इनके टिकने के स्थान स्थूल इन्द्रियाँ हैं।

वेद में प्राण का स्वामी परमात्मा माना है। शरीर में इन्द्रियाँ इससे काम करती हैं। परमात्मा नित्य है, अतः प्राण भी नित्य हैं।

इन्द्रियों वाला प्राण और श्रेष्ठ प्राण भिन्न-भिन्न हैं। इनमें भेद है। श्रेष्ठ प्राणों की विलक्षणता यह है कि इसका विषय (भोग) कुछ नहीं। इसीसे यह थकता नहीं। यह चलता रहता है।

शरीर में प्राण अन्न से बनते हैं। अन्न से शरीर भी बनता है। अतः प्राण भी विशेषों में कहलाते हैं।

संक्षेप में मुख्य रूप में प्राणी का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। शरीर, जीवात्मा, प्राण एवं वायु, सब इस अध्याय के अन्तर्गत आ गये हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम पाद

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति
चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोप्रसङ्गात् ।।१।।

स्मृति + अनवकाश + दोषप्रसङ्गः + इति + चेत् + न + अन्य + स्मृति + अनवकाश + दोष + प्रसङ्गात् ।

अवकाश का अर्थ है दिखाई देना अथवा प्रकट होना। अतः अनवकाश का अर्थ है कि न प्रकट होना अथवा न दिखाई देना।

इस प्रकार स्मृतियों में किसी बात के न दिखायी देने के दोष का प्रसंग है। यदि यह कहो तो (सूत्रकार कहता है) कि यह दोष नहीं। (कारण यह) कि दूसरी स्मृतियों में (दूसरी बात के) दिखायी न देने के दोष से।

स्मृति ग्रन्थ श्रुति ग्रन्थों से भिन्न हैं। वास्तव में श्रुति वेद (जो अपौरुषेय हैं) का नाम है और स्मृति ग्रन्थ उनको कहते हैं जो मनुष्यों ने लिखे हैं और लोगों को स्मरण कराने के लिए जिनको ग्रन्थों का आकार दिया गया है।

सूत्रकार कहता है कि मनुष्य-कृत ग्रन्थों में कहीं-कहीं किसी विषय के दिखायी न देने से ग्रन्थ में दोष प्रतीत होने लगता है। वास्तव में यह दोष नहीं है। कारण यह है कि किसी स्मृति में पहली स्मृति के विषय का उल्लेख नहीं होता। इससे यह दोष नहीं, वरन् अपने-अपने विषय का उनमें प्रतिपादन किया गया है और दूसरे का वर्णन वहाँ नहीं है।

सूत्रकार ने यह बात सामान्य रूप में लिखी है। जब किसी पुस्तक में किसी विषय का वर्णन न हो तो यह मत समझो कि वह ग्रन्थ दोषपूर्ण है। किसी दूसरे ग्रन्थ में पहले ग्रन्थ का विषय न होने से।

अर्थात् किसी ग्रन्थ में किसी वस्तु पर कोई कथन न होने से यह नहीं माना जा सकता कि वह ग्रन्थ उस वस्तु को स्वीकार ही नहीं करता।

कुछ उपनिषदादि ग्रन्थों में परमात्मा का उल्लेख है और लिखा है कि सब जगत् का कर्ता परमात्मा है। वहाँ प्रकृति एवं जीवात्मा का उल्लेख नहीं। अतः यह मान लेना भूल होगी कि उपनिषद में जीवात्मा और प्रकृति का खण्डन किया गया है और न ही यह कहा जा सकता है कि वह स्मृति दोषपूर्ण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रकार ने किसी ग्रन्थ विशेष को दोषपूर्ण नहीं लिखा। एक सामान्य कथन ही दिया है, परन्तु स्वामी शंकराचार्य तथा कुछ अन्य ग्रन्थकारों ने कपिल मुनि का उल्लेख कर दिया है। कपिल के सांख्य दर्शन में तो अनवकाश दोष है नहीं। वहाँ प्रकृति और पुरुष का उल्लेख है। सांख्य जीवात्मा को भी मानता है और परमात्मा को भी। हाँ, कई उपनिषदों में यह 'कथित' दोष आता है।

उदाहरण के रूप में माण्डूक्य उपनिषद् है। वहाँ लिखा है—

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥१॥

यह जो अक्षर है, यह सब ओ३म् है। उसका ही व्याख्यान किया है। भूत, वर्तमान और भविष्य सब ओंकार ही है जो कुछ अन्य, तीनों कालों से ऊपर है, वह भी ओंकार ही है।

इस उपनिषद् में केवल परमात्मा का ही वर्णन है। इसपर भी यह दोषयुक्त नहीं। अन्य स्थानों पर परमात्मा का उल्लेख नहीं भी आता।

परन्तु शंकराचार्य इस सूत्र का अर्थ अन्य प्रकार से करते हैं। वह कहते हैं—

स्मृति (ग्रन्थों) में किसी विषय का प्रसंग न होने से दोष है। दोष यह कि उस विषय का अन्य ग्रन्थों में होना दोष हो जायेगा। सूत्रकार कहता है कि यह ठीक नहीं। अर्थ तो वही हैं जो हमने किये हैं।

इस प्रकार शंकराचार्यजी इस सूत्र का अर्थ करते हैं। अर्थात् वह इस सूत्र में एक पूर्व पक्ष उपस्थित कर सूत्रकार की ओर से उसे गलत बता रहे हैं। इसी प्रसंग में वह कपिल मुनि की आलोचना भी कर रहे हैं।

इस सूत्र पर भाष्य करते हुए आप लिखते हैं—

कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते। श्रुतिश्च भवति—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे० ५-२) इति। तस्मान्नैषां मतमयथार्थं शक्यं संभावयितुम्। तर्कावष्टम्भेन चैतेऽर्थं प्रतिष्ठापयन्ति। तस्मादपि स्मृतिबलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः।

अर्थात्—कपिलादि का ज्ञान आर्ष और अप्रतिहत है। ऐसा स्मरण किया जाता है। श्रुति है—ऋषि प्रसूतं—(श्वे० ५-२) ऐसा है। इसलिए उनके मत को अयथार्थ कहना सम्भव नहीं हो सकता। वह तर्क के बल से अर्थ का स्थापन करते हैं। इस पर भी स्मृति के वल से वेदान्तों (उपनिषदों) की व्याख्या करनी चाहिए। इस पर आक्षेप (आपत्ति) है।

किसको आपत्ति है? शंकराचार्य का मत है कि सूत्रकार को आपत्ति है।

वास्तव में यह उक्त वाक्य अयथार्थ है। प्रथम तो कपिल मुनि के वचन में अनवकाश नहीं। वह पूर्ण है। द्वितीय यह कि ब्रह्मसूत्र के सूत्रकार ने अनवकाश पर आपत्ति नहीं की। अनवकाश को दोष कहने पर आपत्ति की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी कारण हमने सूत्रार्थ इस प्रकार किये हैं कि अनवकाश होने का दोष कहो तो नहीं। अन्य स्मृतियों में भी अनवकाश होना दोष का प्रसंग हो जायेगा। अर्थात् दोष मानना पड़ेगा।

यदि यह मान भी लिया जाये कि कपिल मुनि के सांख्यदर्शन में परमात्मा के वर्णन का अनवकाश है तो भी यह दोष नहीं; क्योंकि ऐसा अन्य स्मृति में दूसरे विषय पर पाया जायेगा।

अब देखेंगे कि स्वामी शंकराचार्य ने उक्त पूर्व पक्ष का क्या उत्तर दिया है। शंकराचार्यजी का कहना है कि यह सूत्र में है। कपिल के ग्रन्थ में अनवकाश है। शंकराचार्यजी ने अपने मन से उठाये इस संशय का इस प्रकार समाधान किया है—

तस्य समाधिः—नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति। यदि स्मृत्यनवकाश-दोषप्रसङ्गेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत, एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्यः स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्येरन्।

दूसरी स्मृतियों में अनवकाश दोष प्रसंग हो जायेगा। यदि स्मृति में अनवकाश से ईश्वर के कारण होने पर ही आक्षेप किया जाये तो 'ईश्वर को कारण मानने वाली स्मृतियों में अनवकाश दोष प्रसक्त हो जायेगा।

बात यह है कि कथित पूर्व पक्ष में कपिल मुनि के सांख्यदर्शन में परमात्मा का उल्लेख न होने पर उसे अनवकाश दोष से युक्त माना गया था। इसीसे स्वामीजी ने उक्त लँगड़ी युक्ति उपस्थित कर दी है। कपिल को वह क्षमा नहीं कर सकते। कारण यह कि कपिल मुनि ने प्रकृति को उपादान कारण स्वीकार किया है। इस कारण सूत्र के अर्थ बिगाड़कर कपिल मुनि की उन्होंने आलोचना की है।

देखिये, कहाँ लँगड़ी युक्ति की है।

सूत्र में लिखा है कि यदि किसी स्मृति में अनवकाश हो। अनवकाश का अर्थ हम ऊपर लिख आये हैं।

अवकाश का अर्थ मोनियर अपने कोष में इस प्रकार लिखता है—

to be visable, be menifest.

अतः अनवकाश का अर्थ है दिखायी न देना। इसका अर्थ विरोध होना नहीं है, परन्तु स्वामीजी कहते हैं कि जब अनवकाश से ईश्वर के कारणत्व का विरोध होने लगे तो अनवकाश दोषपूर्ण है।

हमारा यह कहना है कि जहाँ किसी बात का विरोध हो तो वह अनवकाश में लिया ही नहीं जा सकता।

क्योंकि कपिल की आलोचना करनी थी, इस कारण सूत्र के अनवकाश का अर्थ ही विकृत कर दिया है। इसका अर्थ विरोध कर दिया है।

यह बात प्रसिद्ध है कि कपिल मुनि ईश्वर को जगत् का कारण मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कपिल सांख्यदर्शन में लिखते हैं—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ।। (सां० ३-५६)

यह भी—

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा । (सां० ३-५७)

इन सूत्रों की उपस्थिति में कपिल को ईश्वर न मानने वाला कहना अज्ञानता का सूचक ही है। साथ ही सांख्यदर्शन में अनवकाश नहीं।

यह तो मानना पड़ेगा कि जहाँ दो ग्रन्थों में परस्पर विरोध कथन हो तो दोनों ठीक नहीं हो सकते, परन्तु अनवकाश का अर्थ विरोध नहीं।

हमने माण्डूक्योपनिषद् के पूर्वोक्त मन्त्र का उल्लेख किया है, परन्तु वहाँ विरोध नहीं है। उसी उपनिषद् में प्रकृति का भी उल्लेख है।

माण्डूक्योपनिषद् में अनवकाश तो है, परन्तु यह दोष नहीं। कारण यह कि इसमें परमात्मा के विषय पर ही लिखा है। प्रधान (प्रकृति) और जीवात्मा का वहाँ पृथक् उल्लेख नहीं। किसी अध्यात्म की पुस्तक में गणित की बात न होनी स्वाभाविक ही है।

इतरेषां चानुपलब्धेः ।।२।।

इतरेषाम्+च+अनुपलब्धेः।

और अन्यों के उपलब्ध न होने से।

वही उदाहरण जो हमने माण्डूक्योपनिषद् के प्रथम सूत्र के भाष्य में दिया है, यहाँ पर लिया जा सकता है। उसमें हमने लिखा है कि परमात्मा का स्मरण ओंकार शब्द से कहा है। उसमें ब्रह्म का उल्लेख है।

उसमें जीवात्मा तथा प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख नहीं, अर्थात् यहाँ अनवकाश है।

यही बात इस सूत्र में लिखी है कि परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य का जगत्-रचना में उपलब्ध (सहयोग) न लिखे होने से अनवकाश है, परन्तु दोष नहीं। कारण यह कि जीवात्मा का विरोध नहीं।

शंकराचार्यजी ने यहाँ भी अपनी अयुक्त अप्रमाणित बात लिख दी है। आप इस सूत्र के भाष्य में भी सांख्य की रट लगा रहे हैं।

आप लिखते हैं—

प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतौ कल्पितानि महदादीनि न तानि वेदे लोके पोपलभ्यन्ते । भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते स्मर्तुम् । अलोकवेदप्रसिद्धत्वात्तु महदादीनां षष्ठस्येवेन्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदपि क्वचित्तत्परमिव श्रवणमवभासते, तदप्यतत्परं व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० १-४-१) इत्यत्र।

अर्थ है—

प्रधान से अन्य अर्थात् प्रधान के परिणाम रूप से, स्मृतियों (सांख्य) में कल्पित किये महदादि, लोकशास्त्रों तथा वेद में उपलब्ध नहीं होते। भूत और इन्द्रियाँ स्मृतियों में प्रसिद्ध (प्रतिपादित) हो सकती हैं। लोकशास्त्रों और वेद में अप्रसिद्ध (न प्रतिपादित) होने से महदादि प्रधान के परिणाम छठवें इन्द्रिय के विषयों के समान सम्भव नहीं। यद्यपि कहीं-कहीं (परम् इव) महत् भी (श्रवणाभवभासते) श्रवण अर्थात् श्रुति में दिखायी देते हैं। उसका भी सूत्र (नानुमानक) (ब्र० सू०—१-४-१) के अनुसार व्याख्या करने से ऐसा नहीं।

इसका अभिप्राय यह है कि सांख्य में प्रधान और उसके परिणाम महदादि लिखे हैं। वे वेदों में और लोकशास्त्रों में नहीं लिखे। इस कारण उनकी कल्पना करनी ठीक नहीं।

साथ ही यह भी लिख दिया है कि कुछ एक स्मृतियों में महद् का आभास होता है, परन्तु ब्रह्मसूत्र नानुमानक (१-४-१) के अनुसार यह नहीं।

इस पूर्ण कथन में दोष यह है कि सांख्य में वर्णित प्रधान और उसके परिणाम महदादि वेद तथा अन्य शास्त्रों से प्रतिपादित हैं।

देखिए, महद् का उल्लेख भगवद्गीता में आया है। वहाँ पर लिखा है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(भ० गी० १४-३)

इसका अर्थ यह है कि महान् (महत्) को योनि बनाकर उसमें परमात्मा गर्भ धारण करता है। उससे सब भूत उत्पन्न होते हैं।

यह महत् प्रकृति का प्रथम रूप ही है। उसी से भूत और इन्द्रियाँ बनती हैं। यही बात सांख्य में लिखी है और इसका उल्लेख गीता में वैसा ही दिया है।

महत् का उल्लेख महाभारत में भी है। वहाँ लिखा है—

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः।
तस्मान्महत् समुत्पन्नं द्वितीयंराजसत्तम॥
अहङ्कारस्तु महतस्तृतीयमिति नः श्रुतम्।
पञ्चभूतान्यहंकारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः॥
एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश।
पञ्च चैव विशेषा वै तथा पञ्चेन्द्रियाणि च॥

(महा भा० शा० ३.६-२७, २८, २९)

प्रकृतिवादी अर्थात् प्रकृति का ज्ञान रखने वाले प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उससे महत् उत्पन्न होता है। यह दूसरा तत्त्व है। महत् से अहंकार तीसरा तत्त्व उत्पन्न हुआ। उनसे पंच महाभूत उत्पन्न हुए और पाँच तन्मात्रा उत्पन्न हुईं। यह आठ तत्त्व प्रकृति के हैं। इनके सोलह विकार हैं। इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच कर्मेन्द्रियाँ तत्त्व विशेष हैं।

महत् का आपः के नाम से मनुस्मृति में भी उल्लेख है। वहाँ पर लिखा है—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।

अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत्।। (मनु० १-८)

परमात्मा ने अपने शरीर से विविध प्रकार की प्रजायें उत्पन्न करने के लिए ध्यान लगाकर पहले आपः का सृजन किया।

शरीर का अभिप्राय प्रकृति से है अन्यथा परमात्मा और उसके शरीर को एक कैसे मान लेंगे?

वेदों में महत् शब्द अनेक स्थानों पर आता है। उदाहरण के रूप में एक मन्त्र है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।

यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश।।

(ऋ० १०-१७-१)

अर्थ है—(त्वष्टा) सर्वशक्तिमान् परमात्मा (दुहित्रे) प्रकृति में (वहतुं कृणोति) धारण करता है (विश्वं भुवनं समेति) बनाता है विश्व के भुवनों (नक्षत्रों तथा ग्रहों) को। (यमस्य महो माता) जिससे महत् माता (पर्युह्यमाना) सब प्रकार से धारण की हुई (जाया) जन्म देने वाली (विवस्वतो ननाश) सूर्यों को निर्माण करती है।

अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें प्रकृति और उसके परिणामी पदार्थों के उत्पन्न होने का वृत्तान्त लोकशास्त्रों में और वेदों में मिलता है।

शंकराचार्य ने कैसे कह दिया कि सांख्य का प्रकृतिवाद वेदों में तथा लोक-शास्त्रों में नहीं है? यह कहना ही पड़ेगा कि स्वामीजी न तो सांख्य के ज्ञाता थे और न ही वेदों के। अन्यथा इतनी बड़ी मिथ्या बात न कह सकते।

अतः इस सूत्र का अर्थ है—

परमात्मा के अतिरिक्त अन्यों के किसी शास्त्र में दिखाई न देने से अर्थात् अनवकाश होने से दोष नहीं। अन्य का अभिप्राय जीवात्मा और प्रकृति दोनों से है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥३॥

एतेन + योगः + प्रत्युक्तः ।

इससे योग के विषय में उत्तर हो गया ।

इससे का अभिप्राय है कि जो कुछ ऊपर के सूत्र में कहा गया है वह योग में समझो । ऊपर के सूत्र में कहा गया है कि कुछ अन्य के उपलब्ध न होने से । हमने इसका अभिप्राय यह बताया है कि परमात्मा के अतिरिक्त कुछ अन्य भी है और जहाँ उनका वर्णन उपलब्ध नहीं, वह अनवकाश है और यह दोष नहीं ।

इसके कहे जाने से योग विषयक का उत्तर मिल जाता है । योग का क्या अभिप्राय है ? स्वामी शंकराचार्य तथा आचार्य उदयवीर शास्त्री योगः से योग दर्शन का अभिप्राय लेते हैं । आचार्य ब्रह्म मुनि योगः से योग-क्रिया का अर्थ लेते हैं ।

हमारे विचार में यहाँ अभिप्राय योगदर्शन से नहीं है । पूर्व सूत्र में सांख्यदर्शन का उल्लेख नहीं । वहाँ स्वामी शंकराचार्य ने अपने पूर्वग्रहों से प्रेरित कपिल मुनि की निन्दा करने के लिए सांख्यदर्शन को ला खड़ा किया है । हमने बताया है कि जो दोष स्वामी शंकराचार्य ने सांख्य में वर्णन किया है, वह दोष उसमें है ही नहीं । सांख्य में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया । अतः सांख्य में ईश्वर के विषय में अनवकाश नहीं और दोष-गुण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता ।

यहाँ प्रश्न यह है कि क्या योगदर्शन में परमात्मा की बात का अनवकाश है ? योगदर्शन के पढ़ने वाले जानते हैं कि नहीं है । योग दर्शन का प्रवक्ता परमात्मा के अस्तित्व को मानता है । स्वामी शंकराचार्य का यह कहना कि—

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन, योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्यतिदिशति । तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते ।

इसका अर्थ है—इससे सांख्यस्मृति का खण्डन करने से योगस्मृति का भी खण्डन हो गया है । द्रष्टव्य स्पष्ट दिखायी देता है । श्रुति के विरोध में प्रधान को स्वतन्त्र कारण माना है और महदादि कार्यों का लोकशास्त्रों में और वेदशास्त्रों में अप्रसिद्ध करने की कल्पना की गयी है ।

सांख्य के विषय में हमारा प्रत्युत्तर ऊपर दिया जा चुका है । वही उत्तर योग दर्शन के विषय में है । इस विषय में ब्रह्ममुनिजी के ब्रह्मसूत्र भाष्य से उद्धरण दे दिया जाये तो अधिक ठीक होगा । श्री ब्रह्ममुनिजी इसी सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

'इस सूत्र पर शंकर भाष्य असंगत है; क्योंकि उन्होंने इस सूत्र पर योगदर्शन का खण्डन किया है कि योगदर्शन में जगत् का कारण प्रकृति मानने का भी प्रत्युत्तर अर्थात् खण्डन या निषेध जानना चाहिए । परन्तु योगदर्शन में कहीं भी ऐसा सूत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं जिसमें जगत् का कारण प्रकृति प्रतिपादित हो। तब योग प्रतिपादित प्रकृति का जगत् कारण होना खण्डित या निराकृत हो गया। इसका अवसर ही नहीं है। और भी शंकर भाष्य से सूत्र की व्यर्थता का दोष भी आता है। जबकि 'स्मृत्यन-वकाशदोषप्रसङ्ग···।' पूर्वोक्त इस सूत्र में प्रकृति नाम अव्यक्त का जगत् कारण होना प्रतिषिद्ध कर दिया, तब उसका सांख्य प्रतिपादित प्रकृति हो या योग प्रतिपादित प्रकृति हो, वह सब ही प्रतिपादित हो गया। पुनः पृथक्-पृथक् सूत्र की रचना की आवश्यकता नहीं है।'

योग-दर्शन में सृष्टि-रचना का प्रसंग तो है नहीं, वहाँ योग से सिद्धि प्राप्त करने के ढंग का वर्णन है और उस ढंग में परमात्मा का वर्णन आया है। जैसे वहाँ पर सूत्र है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।। (योग० १-२३)

अर्थात्—ईश्वर में ध्यान लगाने से भी समाधि की सिद्धि हो सकती है। और भी कहा है—

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः । (योग० २-१)

योग की क्रिया में तप, स्वाध्याय और ईश्वर में विश्वास आवश्यक है। इस कारण योग-दर्शन में परमात्मा का अनवकाश नहीं। अतः दोष का प्रश्न ही नहीं उठता है।

अतः इस सूत्र में योगः से योग सूत्रों का अभिप्राय नहीं। हमारा यह मत है कि यहाँ योगः से योग-क्रियाओं का उल्लेख है। जहाँ पहले सूत्र (२-१-१, २) में पुस्तक अथवा प्रकरण का अभिप्राय है, वहाँ इस (२-१-३) में योग-क्रिया का उल्लेख है। योग-क्रियाओं को कैवल्यावस्था प्राप्त करने का साधन माना जाता है। अतः यदि कोई कहे कि योग-क्रिया के उल्लेख में परमात्मा का अनवकाश है तो इसका उत्तर भी उक्त सूत्र में हो गया है, ऐसा समझना चाहिए। अभिप्राय यह कि वह अनवकाश किसी दोष का सूचक नहीं। कारण यह कि वहाँ परमात्मा का खण्डन नहीं।

पतञ्जलि के योगसूत्र में तो ईश्वर प्रणिधान को योग का विशेष अंग माना है। इस कारण यह सूत्र योग-दर्शन के विषय में नहीं। यहाँ भी परमात्मा पर विश्वास का खण्डन नहीं।

जगत्-रचना में जीवात्मा और प्रकृति का उल्लेख सूत्रकार प्रथम अध्याय में कर चुका है। इस द्वितीय अध्याय के प्रथम तीन सूत्रों में सूत्रकार का कहना है कि किसी ग्रन्थ अथवा क्रिया में यदि प्रकृति अथवा जीवात्मा का उल्लेख न हो अर्थात् उनका उल्लेख दिखायी न दे तो यह दोष नहीं। कारण यह कि दूसरी स्मृतियों में जहाँ उनका उल्लेख है और परमात्मा का उल्लेख नहीं तो वहाँ भी अनवकाश दोष नहीं मानना चाहिए।

अब आगे प्रकृति और जीवात्मा का स्पष्ट वर्णन आ गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।।४।।

न+विलक्षणत्वात्+अस्य+तथात्वं+च+शब्दात् ।

न विलक्षण होने से इसका वैसा ही होना है और शास्त्र (प्रमाण) से (भी सिद्ध है) ।

ऊपर जो सूत्र (२-१-२) में 'इतरेषां' लिखा है अर्थात् कुछ अन्यों की बात लिखी है, वे अन्य हैं । कारण यह कि उनसे विलक्षण गुण इस (जगत्) में नहीं हैं, अर्थात् समान गुण हैं । इतर पदार्थों के समान गुण इस जगत् में होने से वे इस जगत् का कारण भी हैं, ऐसा शब्द प्रमाण से भी स्पष्ट होता है ।

युक्ति यह है कि कार्य में कारण के गुण होते हैं । प्रकृति जड़ है और जगत् के पदार्थ भी जड़ हैं । जड़त्व में समानता है । जड़त्व का अर्थ है अविचलता । यह अविचलता कार्य-जगत् के पदार्थों में देखी जाती है । इस जड़त्व अर्थात् अविचलता को वैज्ञानिक भाषा में स्थायित्व (inertia) कहते हैं । यह अपना स्थान तथा रूप स्वयं बदल नहीं सकता । इसको बदलने के लिए किसी चेतन शक्ति की आवश्यकता होती है ।

आचार्य उदयवीरजी ने इस सूत्र को पूर्व पक्ष का कथन समझा है । हम ऐसा नहीं मानते । इसमें स्पष्ट बात लिखी है कि प्रकृति के गुण कार्य-जगत् में मिलते हैं, इस कारण प्रकृति कारण है और जगत् कार्य है । शब्द प्रमाण से भी ऐसा ही प्रकट होता है ।

इस सूत्र का एक दूसरे प्रकार से भी अर्थ किया जाता है । इस अर्थ में 'न' को विलक्षणत्वात् के साथ लगाने के स्थान 'अस्य' के साथ लगा दिया है ।

इसका अन्वय इस प्रकार बन जाता है—

विलक्षणत्वात् न अस्य तथात्वं ।

अर्थात्—विलक्षण होने से जगत् का वैसा होना नहीं ।

अर्थात्—जगत् जड़ है और यह परमात्मा से, जो चेतन है, विलक्षण है । अतः इसका उपादान कारण परमात्मा नहीं ।

यह अर्थ श्री स्वामी शंकराचार्य ने किये हैं, परन्तु उन्होंने अपने पास से यह अर्थ लगा दिया है कि इस (जगत्) का उपादान और निमित्त कारण दोनों ब्रह्म हैं । यह बात सूत्र में न तो लिखी है और न ही इसका कहीं संकेत मिलता है ।

स्वामीजी लिखते हैं—

यदुक्तं चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिरिति तन्नोपपद्यते; कस्मात् ? विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः । इदं हि ब्रह्मकार्यत्वेनाभिप्रेयमाणं जगत् ब्रह्मविलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते ।

अर्थात्—जो यह कहा गया है कि चेतन ब्रह्म जगत् का कारण—प्रकृति है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह उपपद्य (सिद्ध) नहीं होता (युक्ति से सिद्ध नहीं होता)। क्योंकि यह प्रकृति से विलक्षण है। यह जगत् ब्रह्म कार्य रूप से माना हुआ ब्रह्म से विलक्षण, अचेत और अशुद्ध देखा जाता है।

स्वामीजी की मिथ्या दृष्टि को दर्शाने से लिए इतना उद्धरण ही पर्याप्त है।

इसमें मिथ्यात्व यह है कि इस जगत् को चेतन माना है। लिखा है—'चेतनं ब्रह्म जगतः' यह ब्रह्म जगत् चेतन है। जगत् चेतन नहीं। चेतन के लक्षण ऊपर ईक्षण करना कह आये हैं (सूत्र १-१-५)।

ईक्षण करना चेतना के लक्षण हैं। ईक्षण के शाब्दिक अर्थ हैं किसी की देख-भाल करना, परन्तु किसी क्रिया (जगत्-रचना) की देख-भाल का अर्थ है क्रिया को आरम्भ करने वाला, उसके स्थान तथा दिशा का निश्चय करने वाला। अतः हमने ईक्षण से चेतन के उस गुण को माना है जिससे चेतन यह निश्चय करता है कि कोई कर्म कब, कहाँ और कैसे आरम्भ हो, चले अथवा अन्त हो। किसी क्रिया के आरम्भ, चलन और अन्त में काल, दिशा और स्थान निश्चय करने का गुण ईक्षण कहलाता है। इस विषय को हमने अधिक व्याख्या से सूत्र १-१-५ के भाष्य में लिखा है।

अब देखना यह है कि जगत् में ईक्षण करने की शक्ति है क्या? क्या जगत् स्वयं में अपने बनने का काल, स्थान और दिशा निश्चय करता है। जगत्, किस प्रकार चले, यह क्या स्वयं निश्चय करता है? यह अनुभव की बात है और शास्त्र भी इसमें प्रमाण है कि यह गुण जगत् में नहीं है। अतः 'चेतनं ब्रह्म जगतः' का वाक्य मिथ्या दृष्टि का सूचक है।

इसमें अयुक्तता यह है कि ब्रह्म के गुणों से विलक्षण गुण जगत् में पाये जाते हैं। इस कारण जगत् का उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता।

स्वामीजी गुणों के विलक्षण होने को, उपादान कारण होने में युक्ति मानते हैं।

अर्थात् सोने से बनने वाले भूषण में सोने से विलक्षण गुण हो सकते हैं। घड़े के गुण मिट्टी से विलक्षण हो सकते हैं। जगत् में ऐसा दिखायी नहीं देता।

भगवान् जाने किस बात से शंकर के अनुयायी शंकर को मीमांसक (logician) मानते हैं। इस सूत्र के भाष्य में स्वामीजी ने अपने को युक्ति करने के अयोग्य होने का ही प्रमाण दिया है।

यथापूर्व इस सूत्र में भी कपिल और सांख्य की निन्दा अकारण कर दी है।

इस सूत्र का स्पष्ट अर्थ है—(न विलक्षणत्वात्) विलक्षण न होने से (अस्य) इस जगत् का (तथात्वं) वैसे होना (सिद्ध है)।

प्रकृति से जगत् के गुण विलक्षण नहीं, इस कारण जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। यही इस सूत्र के अर्थ बनते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥५॥

अभिमानिव्यपदेशः + तु + विशेषानुगतिभ्याम् ।

अभिमानिव्यपदेशः = अभिनय अलंकार के रूप में कहे जाने से । तु = परन्तु । विशेषानुगतिभ्याम् = विशेष अनुगतियों से ।

इस सूत्र में प्रथम समझने योग्य शब्द है—अभिमानी । अभिनय के रूप में कार्य करने से किसी भी पदार्थ में उसकी अभिमानी शक्ति कही जाती है । यह शक्ति तो परमात्मा की ही है । कार्य-जगत् में प्रत्येक पदार्थ परमात्मा रूपी प्राण से ही कार्य करता है । प्राण से अभिप्राय यह है कि ईश्वरीय शक्ति तो एक ही है, परन्तु प्रत्येक पदार्थ में भिन्न-भिन्न ढंग से वह शक्ति कार्य करती है । अतः प्रत्येक पदार्थ में सब स्थान वाली शक्ति उस अंग के अनुरूप कार्य करती है ।

अभिनय नाटक करने को भी कहते हैं । एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न वेशों में मंच पर आता है तो अपने रूप के अनुकूल अभिनय करता है । यही अभिनय अलंकार है । ईश्वर की शक्ति भिन्न-भिन्न कार्य-जगत् के पदार्थों में कार्य करती है और उस पदार्थ के अनुरूप हो उसका कार्य होता है । सामान्य भाषा में कहा जाता है कि उस पदार्थ में उसका अभिमानी देवता कार्य करता है । वास्तव में ईश्वरीय शक्ति ही काम करती है, परन्तु अभिनय करने वाले की भाँति पदार्थ के अनुरूप कार्य करती है; इस कारण वह अभिमानी कहलाती है ।

यह अभिमानी शक्ति प्रत्येक पदार्थ में विशेष रूप में कार्य करती है उसकी अनुगतियों के अनुसार । अभिप्राय यह कि सूर्य, चन्द्र, तारागण, पृथिवी और पृथिवी पर के अनेकानेक पदार्थ ईश्वरीय शक्ति से नियन्त्रित अपने-अपने ढंग से कार्य करते हैं ।

अतः सूत्र का अर्थ बनता है—अभिनय अलंकार के रूप में कार्य-जगत् के पदार्थ, जो एक ही प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं और एक ही शक्ति से संचालित हैं, अपने-अपने कार्यानुसार भिन्न-भिन्न (विशेष) गतियों में चलते हैं ।

दृश्यते तु ॥६॥

दृश्यते + तु ।

देखे जाने से (भी) ।

'तु' शब्द पहले सूत्र २-१-५ में भी आया है । अतः यह सूत्र भी २-१-४ से व्यावृत्ति भेद (विपरीत भाव) दिखाने के लिए है । कार्य-जगत् प्रकृति से विलक्षण न होने से वैसा ही है, अर्थात् जड़ है और इन दोनों सूत्रों में प्रकृति और जड़ कार्य-जगत् में समानता होने पर भी भिन्नता का वर्णन किया गया है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र २-१-५ में विलक्षणता यह बतायी है कि जड़ प्रकृति के पदार्थ नाटकमंच पर अभिनय की भाँति भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। इस जगत्-नाटक का सूत्रधार एक ही है और उसी के सूत्रों में बँधे हुए जगत् के पदार्थ भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। सूत्र २-१-६ में यह कहा है कि देखने में भी जगत् के पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखायी देते हैं।

जैसे जगत् के पदार्थ भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, परन्तु वे तो नाटक मात्र हैं। उनसे अभिनय कराने वाला एक परमात्मा है। वे देखने में अनेक रूप और नाम वाले हैं, परन्तु वे एक ही अव्यक्त पदार्थ (प्रधान) से बने हुए हैं।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥७॥

असत्+इति+चेत्+न+प्रतिषेधमात्रत्वात्।

इति=यह। असत्=शून्य (से है)। चेत्=यदि कहो तो। न=नहीं। प्रतिषेधमात्र से (ऐसा कहा जाता है)।

यह जगत् शून्य से उत्पन्न हुआ है। यह कहना ठीक नहीं। प्रतिषेध मात्र से ऐसा कहा जाता है।

प्रतिषेध का अर्थ है कि भेद बताने के विचार से। यह जगत् तो इन्द्रियों से अनुभव किया जाता है और इसका कारण मूल प्रकृति इतनी सूक्ष्म है कि उसे असत् (शून्य) कहा जाये तो यह दोनों में बहुत बड़ा अन्तर बताने के लिए ही है। वास्तव में जगत् का मूल कारण शून्य नहीं है।

इस अन्तर का अनुमान लगाना हो तो सूर्य से पृथिवी और पृथिवी से उस भवन का अन्तर, जिसमें मनुष्य रहता है और मनुष्य से अन्न के एक दाने की तुलना तथा एक अन्न के दाने की तुलना उसमें के अणु और उसके अन्तर्गत इलैक्ट्रोन, प्रोटोन से करके अनुमान लगायें तो सूर्य और प्रकृति के परमाणु में अन्तर का विचार करते हुए बुद्धि चकराने लगती है।

सूर्य हमारे सौर-जगत् में सबसे बड़ी वस्तु है, परन्तु ब्रह्माण्ड में तो सूर्य से भी बहुत बड़ी-बड़ी वस्तुएँ हैं।

इस कारण कभी कोई लेखक कार्य-जगत् के पदार्थों से प्रकृति की सूक्ष्मता को प्रकट करने के लिए प्रतिषेध मात्र के लिए मूल को असत् कह दे तो कह दे। वास्तव में मूल असत् नहीं है। यह ठीक नहीं कि जगत् का मूल कारण असत् है। असत् से सत् कैसे हो गया?

इससे सूत्रकार यह सिद्ध करना चाहता है कि कार्य-जगत् जड़ होने से, परमात्मा नहीं है। **कार्य-जगत् जड़ है।** जगत् जड़ प्रकृति से ही बना है। यह भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रकार ने कहा है कि यह शून्य से भी उत्पन्न नहीं हुआ। कारण असत् से सत् नहीं हो सकता।

जहाँ कहीं कहा भी जाता है कि यह शून्य से उत्पन्न हो गया है, वहाँ इसे प्रतिषेध मात्र मानना चाहिए। तुलना करने के विचार से समझना चाहिए।

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्चसम् ।।८।।

अपीतौ+तत्+प्रसङ्गात्+असमञ्जसम्।

अपीतौ=प्रलय काल में। तत् वत्=उसकी भाँति। प्रसङ्गात्=प्रसंग से। असमञ्जसम्=अनियमित अथवा अयुक्तिसंगत (है)।

यह पूर्व पक्ष है। प्रयलकाल में यह जगत् नहीं रहता और यह कहा जाता है कि अव्यक्त प्रकृति कारण रूप में रह जाती है। उसके अव्यक्त, अदृश्य, अनीन्द्रिय होने से कार्य-जगत् से भिन्नता है। अर्थात् कार्य-जगत् के लक्षण मूल प्रकृति में नहीं होते। इससे अव्यक्त प्रकृति कार्य-जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकती।

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि प्रलय-काल में कहीं नहीं दिखायी देते। इस कारण प्रकृति इनका मूल कारण नहीं है। कर्म के लक्षण मूल पदार्थ में होने ही चाहिए।

यह संशय प्रायः कुछ विचारक उपस्थित करते हैं।

अतः पूर्व पक्ष इस प्रकार है। प्रलय काल में (प्रकृति) उसकी (कार्य-जगत् की) सी ही होनी चाहिए। यह ही कार्य-कारण का सम्बन्ध है। यह है नहीं। इस कारण प्रकृति जगत् का मूल कारण नहीं हो सकती।

इस संशय का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में करता है।

न तु दृष्टान्तभावात् ।।९।।

न+तु+दृष्टान्त+भावात्।

पूर्व सूत्र के 'असमंजस' की पुनरावृत्ति इस सूत्र में लेनी चाहिए। कारण यह कि यहाँ उक्त सूत्र के संशय का समाधान है।

संशय यह था कि प्रलय काल में (प्रकृति) ऐसी (कार्य-जगत् सी) नहीं होती; इस कारण प्रकृति इस जगत् का कारण नहीं हो सकती। इस असम्भव होने अर्थात् अयुक्तिसंगत होने के लिए 'असमंजस' शब्द का प्रयोग किया है।

इस सूत्र में लिखा है कि यह असमंजस (अयुक्तिसंगत बात) नहीं है। कारण यह है कि ऐसे दृष्टान्त हैं जिनमें हम देखते हैं कि कार्य के लक्षण कारण में दिखायी नहीं देते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीज से वृक्ष बनता है। यदि कोई व्यक्ति बीज में वृक्ष देखना चाहे तो दिखाई नहीं देता। यद्यपि यह प्रत्यक्ष है कि बीज से वृक्ष बना है। अंडे से मुर्गी उत्पन्न हुई है। दोनों के रंग-रूप में अन्तर है। इसी प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

यह कार्य और कारण में अन्तर उनके दृष्टिगत रूप में होता है। उस पदार्थ के मौलिक गुणों में नहीं, जो कारण में भी होते हैं और कार्य में भी होते हैं।

बीज और वृक्ष में मौलिक पदार्थ है जीवित कोषिका। यह बीज में भी है और वृक्ष में भी है। अण्डे में भी है और मुर्गी में भी है। अन्तर है बाहरी रूप में।

इसी प्रकार प्रलयकाल की प्रकृति त्रिगुणात्मक परमाणुओं से बनी है। कार्य-जगत् का प्रत्येक पदार्थ भी त्रिगुणात्मक परमाणुओं से बना है। अतः कार्य-कारण का सम्बन्ध तो है; परन्तु वह सम्बन्ध रूप का नहीं, उसमें मूल पदार्थ का है। कारण से कार्य बनता है तो कारण पदार्थ ज्यों-का-त्यों रहता हुआ भी रूपों में अन्तर पड़ जाता है।

सूत्रकार इस विषय पर आगे भी लिखता है।

स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

स्वपक्ष+दोषात्+च।

और अपने पक्ष में भी दोष होने से।

अपना पक्ष। किसका पक्ष? जिसने संशय उपस्थित किया है। यह संशय उनकी ओर से उपस्थित किया जाता है जो शून्य (असत्) से भाव (सत्) की उत्पत्ति मानते हैं। वे कहते हैं कि कार्य-कारण का सम्बन्ध 'असमंजस' है।

इनके अपने पक्ष में दोष यह है कि शून्य और कार्य-जगत् में भी तो असमंजस है। शून्य और भाव भी तो परस्पर नहीं मिलते।

शंकराचार्य प्रकृति के अस्तित्व को मानते नहीं और इस (द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद) के १ से १० सूत्रों में प्रकृति का ही उल्लेख आया है। इस कारण स्वामी शंकराचार्यजी ने सूत्रार्थों में बहुत अधिक गड़बड़ी की है और प्रकृति को सर्वथा बीच में से निकाल देने का यत्न किया है।

पहले तो स्वामी शंकराचार्य ने सांख्यदर्शन के प्रणेता कपिल मुनि की निन्दा कर पाठकों को भ्रम में डालने का यत्न किया है।

कपिल तो सांख्य में परमात्मा के अस्तित्व को मानता है। परमात्मा को जगत् का रचने वाला और इसका पालन-पोषण करने वाला मानता है। अतः सांख्य और कपिल को बीच में ला खड़ा करना ठीक नहीं था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब सातवें से दसवें सूत्रों के सर्वथा विलक्षण अर्थ किये हैं। उदाहरण के रूप में सातवें सूत्र का अर्थ तो ठीक किया कि यह कहना ठीक नहीं कि जगत् असत् से बना है। असत् से सत् नहीं होता, परन्तु वह सत् क्या था जो जगत् के पहले था ? उसे शंकराचार्य अपनी सम्मति से ब्रह्म (परमात्मा) मानते हैं।

आप इसी ब्रह्मसूत्र (२-१-७ के) भाष्य में लिखते हैं।

यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याचेतनस्याशुद्धस्य शब्दादिमतश्च कार्यस्य कारणमिष्येत, असत्तहि कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत। अनिष्टं चैतत्सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत्—नैष दोषः, प्रतिषेधमात्रत्वात्।

अर्थात्—यदि चेतन, शुद्ध, शब्दादि से रहित ब्रह्म अपने से विपरीत, अचेतन, अशुद्ध शब्दादि युक्त जगत् समान कार्य का कारण माना जाये तो उत्पत्ति के पूर्व यह कार्य असत् प्रसक्त होगा। इस प्रकार सत्कार्यवादी के लिए यह अनिष्ट होगा। ऐसा कहो तो यह दोष नहीं है; क्योंकि प्रतिषेध मात्र है।

हमने इस सूत्र के अर्थ किये हैं कि मूल कारण को असत् केवल प्रतिषेध भाव से कहा जाता है। अर्थात् प्रकृति अति सूक्ष्म, अदृश्य और तमोभूत होने से वर्तमान कार्य-जगत् से सर्वथा विलक्षण दिखाई देती है। इस कारण अभाव (शून्य) कह दी जाती है। यह तुलना मात्र से ही कहा है। हमने प्रतिषेध का अर्थ तुलना किया है।

इस सूत्र में असत् के स्थान पर क्या था, इसका उल्लेख नहीं। स्वामी जी ने इसे ब्रह्म (परमात्मा) माना है और कहा है कि यदि ब्रह्म को कारण नहीं मानेंगे तो सत्कार्य करने वालों का अनिष्ट हो जायेगा। अर्थात् वे मुक्त होकर कहाँ जायेंगे ?

कितनी निकृष्ट युक्ति की है, यह प्रकट करने के लिए कि यदि असत् के स्थान पर ब्रह्म (परमात्मा) न माना तो अनिष्ट हो जायेगा।

वास्तव में इस अध्याय का आरम्भ ही ऐसा किया गया है जिससे जगत् का मूल कारण प्रकृति जैसे लक्षण वाला पदार्थ सिद्ध होता है। प्रथम सूत्र में लिखा है कि यदि किसी मनुष्य-कृत ग्रन्थ में किसी विषय का अनवकाश हो तो वह ग्रन्थ का दोष नहीं। इस ग्रन्थ की बात किसी दूसरे ग्रन्थ में अनवकाश हो सकती है।

स्पष्ट संकेत कुछ उपनिषद् ग्रन्थों की ओर है। वहाँ परमात्मा का वर्णन करते-करते प्रकृति जीवात्मा का वर्णन नहीं किया गया।

दूसरे सूत्र में लिखा है कि अनेक अनवकाश वाले ग्रन्थों में इतर पदार्थों का उल्लेख नहीं। फिर तीसरे सूत्र में लिखा है कि ऐसे ही योग में (योग प्रक्रिया में) भी इसका उल्लेख नहीं। चतुर्थ सूत्र में लिखा है कि कार्य-जगत् और प्रकृति में विलक्षणता नहीं। अतः कारण-कार्य का सम्बन्ध है।

पाँचवें सूत्र में कहा है कि प्राकृतिक पदार्थों में कार्य ऐसे ही होता है जैसे कि मंच पर नाट्यकार कार्य करता है। सबमें कर्म करने वाला सूत्रधार परमात्मा है, परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य अभिनय की भाँति है। छठा सूत्र है कि ये पदार्थ अभिनय करते हुए दिखाई भी देते हैं।

इस प्रकार इस पाद का आरम्भ ही ऐसा किया गया है कि प्रकृति की ओर संकेत स्पष्ट है। अन्यथा 'इतरेषां' दूसरे सूत्र में बहुवचन न होता।

इसी प्रकार सूत्र संख्या ७ में भी असत् तो केवल प्रतिषेध मात्र (तुलना के विचार से) माना है, परन्तु असत् के मूल में प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा थे। अर्थात् ब्रह्म था। ब्रह्म से केवल परमात्मा की ओर संकेत नहीं। यदि यह कहा जाय कि यहाँ सत् से अभिप्राय केवल प्रकृति से है तो वह भी ठीक है; क्योंकि कार्य-जगत् का एक मूलस्रोत वह भी है।

इस पर असत् मानने वाले आपत्ति करते हैं कि कार्य-जगत् का रूपादि कारण प्रकृति में दिखाई नहीं देता; इस कारण यह कारण नहीं है।

सूत्रकार समाधान करता है कि यह कोई युक्ति नहीं। यह इसलिए कि यह कारण-कार्य का सम्बन्ध रूपादि में नहीं होता, वरन् पदार्थ के मूल गुणों में होता है। ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ कारण और कार्य में रूपादि का सम्बन्ध नहीं। जैसे बीज और वृक्ष।

संशय करने वाले स्वयं इस आपत्ति का उत्तर नहीं दे सकते कि जब शून्य से चराचर जगत् बन सकता है तो एक प्रकृति से अनेक रूप-रंग की वस्तुएँ क्यों नहीं बन सकतीं?

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥११॥

तर्क+अप्रतिष्ठानात्+अपि+अन्यथा+अनुमेयम्+इति। चेत्+एवम्+अपि+अविमोक्षप्रसङ्गः।

तर्क=युक्ति। अप्रतिष्ठानात्=अप्रतिष्ठित होने से। अपि=भी। अन्यथा=अन्य प्रकार से। अनुमेयं=अनुमान से सिद्ध की जाने वाली बात। चेत् इति=यदि यह कहो। एवम् अपि=ऐसा होने पर भी। अविमोक्ष प्रसङ्गः=मोक्ष न होने का प्रसंग आ जाएगा।

युक्ति के अप्रतिष्ठित होने से, अर्थात् युक्ति के निराधार होने से दूसरे ढंग से भी (युक्ति) हो सकती है। यदि यह है तो अनुमेय की विनिर्मुक्ति अर्थात् अनुमेय की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी।

युक्ति अर्थात् अनुमान प्रमाण की शर्त यह है कि वह भली-भाँति आधार युक्त हो। अनुमान सदा किसी आधार पर होता है। जैसे धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगाया जाता है। इसमें आधार यह है कि इस युक्ति करने से पहले अग्नि और धुएँ का सम्बन्ध सिद्ध हो चुका है। धुआँ अग्नि से होता है। कोई कहे कि धुआँ देखकर वृक्षों का अनुमान होता है तो यह अप्रतिष्ठित युक्ति होगी। इसी प्रकार कोई कहे कि राम का पुत्र अनन्त काल तक जीवित रहेगा तो यह भी अप्रतिष्ठित युक्ति होगी। पुत्र तो जन्म से होता है और जन्म लेने वाली वस्तु मर्त्य होती है। अतः राम का पुत्र अनन्त काल तक जीवित रहा, अप्रतिष्ठित युक्ति है। अप्रतिष्ठित का अभिप्राय है जिसकी किसी पूर्व अनुभव से प्रतिष्ठा न हुई हो। वृक्षों से धुआँ होता नहीं देखा जाता। जब तक वृक्ष काटकर सुखा कर जलाया न जाये, धुआँ नहीं होता। इसी प्रकार सूत्रकार कहता है कि अप्रतिष्ठित तर्क से तो दूसरे प्रकार से भी युक्ति की जा सकती है। यदि ऐसा करोगे तो जो सिद्ध होने योग्य बात है, वह भी अनिर्मुक्त अर्थात् असिद्ध ही रह जायेगी।

आधाररहित युक्ति को कल्पना कहते हैं। आधारयुक्त युक्ति को अनुमान प्रमाण कहते हैं। हम अनुमान के लक्षण 'जन्माद्यस्त यतः' (१-१-२) के भाष्य में दे आये हैं। अतः हम आधारयुक्त युक्ति को अनुमान प्रमाण मानते हैं। निराधार तर्क को वितण्डा कहते हैं।

निराधार युक्ति यदि करोगे तो कोई दूसरा वैसी ही निराधार युक्ति कर देगा। अतः निराधार युक्ति नहीं करनी चाहिए। यदि ऐसा करेंगे तो सिद्ध होने वाली बात भी अनिर्मुक्त अर्थात् असिद्ध रह जायेगी।

अन्य भाष्यकारों ने इस सूत्र के अर्थ कुछ भिन्न किये हैं। उदाहरण के रूप में श्री शंकराचार्य इस प्रकार लिखते हैं—

इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम्। यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति, उत्प्रेक्षाया निरंकुशत्वात्। तथा हि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम्, पुरुषमतिवैरूप्यात्। अथ कस्यचित्प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चान्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत, एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव, प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्। अथोच्येतान्यथा वयमनुमास्यामहे यथा नाप्रतिष्ठादोषो भविष्यति। नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम्।

अर्थात्—इसलिए आगम गम्य (व्यावहारिक शास्त्र) के अर्थ करने में केवल तर्क से प्रत्यावस्था (विरोध) करना ठीक नहीं। क्योंकि आगम (व्यवहार शास्त्र) और केवल पुरुष कल्पनामूलक तर्क प्रतिष्ठित नहीं होते। कल्पना निरंकुश होती है। जैसे कुछ से यत्नपूर्वक कल्पित तर्क दूसरों से आभासमात्र दिखाये जाते हैं। उनसे भी कल्पित तर्क दूसरों से आभास सिद्ध हो जाते हैं। **अतएव तर्क का आश्रय**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहण नहीं करना चाहिए। कारण यह कि पुरुषों की बुद्धियाँ विलक्षण होती हैं। यदि किसी प्रसिद्ध कपिल महात्मा द्वारा अथवा किसी अन्य महात्मा द्वारा प्रतिष्ठित बात है तो वह पूर्वोक्त दोष से अप्रतिष्ठित ही है। इस पर भी प्रतिष्ठित अनुमान भी कपिल कणाद इत्यादि जैसे शास्त्र-प्रणेता में भी परस्पर विरोध दिखाई देता है। यह कहा जाये कि हम दूसरे ढंग से अनुमान करें जिससे अप्रतिष्ठित दोष न आये तो प्रतिष्ठित तर्क हो ही नहीं सकता।

इस लम्बे उद्धरण को देने के दो कारण हैं। एक यह कि श्री स्वामीजी और उनका अन्धानुकरण करने वाले अन्य भाष्यकारों ने कल्पना, युक्ति और अनुमान के अर्थों को गलत-मलत कर दिया है।

हम युक्ति को एक सामान्य बात समझते हैं। जब युक्ति आधारसहित हो तो उसे अनुमान कहते हैं। कल्पना युक्तियुक्त भी हो सकती है और युक्तिरहित भी।

हमारा यह मत है कि भारतवर्ष में एक समय शंकराचार्य जैसे भ्रान्त मस्तिष्क वालों का बोलवाला रहा है और उन्होंने केवल युक्ति को प्रमाण मान उसका खण्डन किया था। उसी समय से भारतवर्ष की उन्नति अवरुद्ध हुई है। युक्ति आधारयुक्त हो, तब ही प्रमाण होती है।

महाभारत काल में भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठा सार्वभौमिक थी। तत्कालीन ज्ञान-विज्ञान में भारत सर्वोत्कृष्ट था। पीछे भर्तृहरि जैसे व्यक्ति तार्किक माने गए और तर्क करना दूषित माना गया।

भर्तृहरि ने ही यह प्रसिद्ध वाक्य कहा है—

"यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥"

अर्थात्—कुशल अनुमाता लोग बड़े प्रयत्न से जिस अर्थ को तर्क से सिद्ध करते हैं, उसी अर्थ को अन्य अनुमाता तार्किक अपने अनुमान तर्कों द्वारा अन्यथा ही सिद्ध कर देते हैं।

भर्तृहरि का काल महाभारत युद्ध से चार-पाँच सौ वर्ष उपरान्त माना जाता है और यह कहा जा सकता है कि उस समय उक्त तर्कहीन बात देश के विद्वानों को ठीक प्रतीत होने लगी थी और तब से देश का ह्रास आरम्भ हुआ।

तदुपरान्त वाम-मार्ग, बौद्ध, जैन, वैष्णव और अद्वैतवाद पनपे और वह समय आया कि पूर्ण समाज तर्कहीन अर्थात् बुद्धिविहीन हो गया।

बाबर के काल में यहाँ तोपें आयीं और अकबर तथा औरंगजेब के काल तक राजपूत राजा तोपें नहीं बनवा सके।

आज यूरोपियन विज्ञान की उन्नति का आधार ही दो बातें हैं प्रत्यक्ष और युक्ति। वर्तमान युग की पूर्ण वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति प्रत्यक्ष और अनुमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण के आधार पर हो रही है। हिन्दू समाज में अभी भी कोल्हू के बैल हैं जो बुद्धि के प्रयोग को दूषित घोषित करते हैं।

यह एक (उक्त वर्णित) कारण है, जिससे हमने स्वामी शंकराचार्य का उक्त उद्धरण दिया है और दूसरा कारण यह है कि स्वामी शंकराचार्य ने कपिल मुनि और कणाद को परस्पर विरोधी बताया है। हम बता चुके हैं कि छहों वैदिक दर्शन-शास्त्र परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे अपने-अपने विषय का वर्णन करते हुए एक ही ध्येय पर पहुँचते हैं। वह ध्येय है मूल कारण का ज्ञान। ये तीन हैं। परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा। ये तीनों सत् हैं, अव्यक्त हैं और अक्षर हैं। इनमें परमात्मा निमित्त कारण है, प्रकृति उपादान कारण है और जीवात्मा भोक्ता है।

इस भाष्य का विषय सांख्य और वैशेषिक की व्याख्या नहीं। हम वेदान्त दर्शन का वर्णन कर रहे हैं। अतः इसमें भी तीनों मूल तत्त्वों का प्रतिपादन सिद्ध होता है। दूसरी बात जो वैदिक दर्शनशास्त्रों में सिद्ध है, वह है कार्य-जगत् का ज्ञान। इसे दूषित नहीं माना गया। जगत् में रहने को भी वर्जित नहीं किया गया। हम यही बात वेदान्त दर्शन में भी देखते हैं।

स्वामी शंकराचार्य और अन्य तर्कविहीन, आँखें मूँदकर उनका अनुकरण करने वाले भाष्यकार वेदान्त वाक्यों का विकृत अर्थ कर भटक रहे प्रतीत होते हैं।

अब देखें कि स्वामीजी के भाष्य में अयुक्तिसंगत बात क्या है? स्वामीजी कहते हैं कि जब एक बात युक्ति से कहते हैं तो दूसरा उसको युक्ति से गलत कह देता है।

हमारा कहना है कि वह युक्ति ही नहीं जो न्याय और सांख्य के अनुसार व्याप्ति सम्बन्ध न रखती हो अथवा जो पूर्व परिचित सम्बन्ध के आधार पर न हो। आज विज्ञान इसी आधार पर प्रगति कर रहा है। परीक्षण किए जाते हैं और परीक्षणों के परिणाम विचारकर निकाले जाते हैं। जब कई बार वैसे ही परिणाम प्रकट होते देखे जाते हैं तो परीक्षण सिद्ध मान लिये जाते हैं।

यह प्रक्रिया भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दिशाओं में चलती है।

स्वामी शंकराचार्य यह भी नहीं मानते कि लोक-व्यवहार में भी तर्क प्रतिष्ठित हो सकता है।

प्रतिष्ठित तर्क वह है जिसे हेतु और साध्य के अविचल सम्बन्ध पर आधारित किया गया है। इसके विपरीत अप्रतिष्ठित तर्क करने से दूसरे तर्क आते हैं और ऐसा करने से अनुमान से सिद्ध होने वाले विचार सिद्ध नहीं हो सकेंगे। यही सूत्र में लिखा है।

अभिप्राय यह कि 'अनुमान प्रमाण' आधारयुक्त तर्क ही होता है। यह अमान्य नहीं है।

सूत्रकार अनुमान को वर्जित नहीं मानता। वह अप्रतिष्ठित तर्क को अमान्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है। अप्रतिष्ठित तर्क पर ही विपरीत तर्क, जिसे वितण्डा भी कहते हैं, किया जा सकता है। प्रतिष्ठित तर्क, जिसे अनुमान प्रमाण भी कहा जा सकता है, विरोधी तर्क के लिए स्थान नहीं छोड़ता।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः॥१२॥

एतेन+शिष्ट+अपरिग्रहाः+अपि+व्याख्याताः।

एतेन=इससे। शिष्टापरिग्रहा=शिष्ट जनों से अस्वीकार किये गए। अपि =भी। व्याख्याताः=वर्णन किये गए हैं।

अभिप्राय यह है कि पूर्व सूत्र में बताए अनुसार वे सब कार्यों तथा मतों के विषय में भी समझ लें जो शिष्टजनों ने स्वीकार नहीं किए।

पूर्व सूत्र में यह कहा गया है कि अप्रतिष्ठित तर्क नहीं करना चाहिए।

इस सूत्र में कहा है कि शिष्टजनों से अस्वीकार बात को भी ऐसे ही समझ लो जैसे अप्रतिष्ठित तर्क।

शिष्टजन कौन हैं? जो सत्यवक्ता, विवेकयुक्त एवं धर्म तथा न्याययुक्त व्यवहार रखने वाले हों। ऐसे लोगों से अस्वीकृत मत भी अप्रतिष्ठित तर्क की भाँति त्याज्य हैं।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। आज यूरोप और अमेरिका में यह कहा जा रहा है कि स्त्री-पुरुष में अबाध यौन सम्बन्ध वासनाओं को कम कर देगा।

यह बात शिष्टजनों से स्वीकार नहीं की जा रही, अतः यह त्याज्य है।

एक अन्य उदाहरण लें। चार्वाकीय दार्शनिक कहते हैं—

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भाण्ड धूर्त्त निशाचराः।

तीनों वेदों के लिखने वाले भांड, धूर्त्त और निशाचर थे।

यह बात शिष्टजनों को स्वीकार नहीं; इस कारण मानी नहीं जाती।

इस प्रकार के कथनों में तर्क नहीं है। न प्रतिष्ठित और न ही अप्रतिष्ठित। इसमें कथन है और वह कथन वेदादि शास्त्रों को जानने वाले स्वीकार नहीं करते। अतः वे ग्रहण करने योग्य नहीं।

शिष्ट से अभिप्राय सभ्य नहीं। शिष्ट के लक्षण हमने ऊपर कर दिए हैं। मनुस्मृति में शिष्ट शब्द के अर्थ इस प्रकार किये गए हैं—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥

(मनु० १२-१०९)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन्होंने विधिपूर्वक अङ्ग, उपाङ्ग सहित वेदाध्ययन किया हो और जिन्होंने श्रुति का प्रत्यक्ष दर्शन किया हो, ऐसे विद्वान् शिष्ट कहलाते हैं।

ऐसे व्यक्ति से अस्वीकार किया मत वैसे ही त्याज्य है, जैसे कि अप्रतिष्ठित तर्क।

शंकरवादियों ने इस सूत्र में भी गड़बड़ कर दी है। शंकराचार्यजी की परिपाटी पर भाष्य करने वाले एक श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका इस सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं—

'पाँचवें सूत्र से ग्यारहवें सूत्र तक जो सांख्य मतावलम्बियों द्वारा उपस्थित की हुई शंकाओं का निराकरण करके वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, इससे दूसरे मत-मतान्तरों का भी, जो वेदानुकूल न होने के कारण शिष्ट पुरुषों को मान्य नहीं है, निराकरण हो गया।'

ये महानुभाव भी शंकर मत के हैं और सांख्य को वेद-विरुद्ध समझते हैं। यद्यपि उक्त कथित सूत्रों में कपिल तथा सांख्य का शब्द नहीं आया, परन्तु क्योंकि शंकराचार्यजी ने कपिल के विरुद्ध लिखा है; इस कारण इन भाष्यकार को भी सांख्य को हीन बताये बिना शान्ति नहीं मिली।

स्वामी शंकराचार्यजी इस प्रकार लिखते हैं—

एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदंशेनापरिगृहीता येऽण्वादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः, तुल्यत्वान्निराकरणकारणस्य, नात्र पुनराशङ्कितव्यं किंचिदस्ति।

इस उपस्थित प्रधान कारणवाद के निराकरण करने के लिए शिष्ट मनु, व्यास आदि ने कुछ अंश में भी ग्रहण नहीं किया। अतः अणु आदि कारणवाद भी परिषेध रूप से कारणवाद की भाँति अस्वीकार होना चाहिए।

अभिप्राय यह कि शिष्टजन जिसे स्वीकार नहीं करते, वह अस्वीकार होना चाहिए। इतना तो ठीक है, परन्तु मनु, व्यास इत्यादि ने कारणवाद नहीं माना अथवा अणुवाद नहीं माना, यह सत्य नहीं। न तो सूत्र में अण्वादि के विषय में किसी प्रकार का संकेत है और न ही कारणवाद के विषय में।

कारणवाद है कारण से कार्य का होना। क्या कार्य-जगत् बिना किसी के बनाये बन गया है? यदि इसके बनाने वाला है तो कारण तो है, परन्तु जिस बात को शंकर कहना चाहते हैं और वह कह नहीं पा रहे, वह यह है कि कारणवाद में एक नियम है। कारण के मूल गुण कार्य में विद्यमान होते हैं। स्वामीजी जगत् का मूल कारण परमात्मा मानते हैं और परमात्मा के मूल गुण कार्य-जगत् में दिखायी नहीं देते। इस कारण जगत् का कारण मानते हुए भी कारण कार्य के सम्बन्ध को स्वीकार करना नहीं चाहते।

मनु और व्यास कारणवाद को मानते हैं। जो सृष्टि की उत्पत्ति परमात्मा से मानता है, वह कारणवाद से बच नहीं सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥१३॥

भोक्त्रापत्तेः+अविभागः+चेत्+स्यात्+लोकवत्।

भोक्त्रापत्तेः=भोक्ता होने से। अविभागः=विभाग नहीं रहेगा। इति चेत्=यदि यह कहो तो। लोकवत्=जैसे लोक में। स्यात्=है।

इस सूत्र में संशय और समाधान दोनों हैं। संशय में यह कहा गया है कि जब जीव वृक्ष के फल खाता है तो खाने वाला जीवात्मा भोग (प्रकृति) से पृथक् नहीं रहेगा। वह वैसा ही हो जायेगा। सूत्रकार का उत्तर है—यदि यह है तो यह लोकवत् संसार की रीति के अनुसार है।

जब मनुष्य अन्न खाता है तो अन्न मनुष्य का भाग बन जाता है। इस कारण संशयकर्ता कहता है कि जीवात्मा जब प्रकृति का भोग करता है तो प्रकृति-जीवात्मा में भेद नहीं रह जायेगा। अतः जीवात्मा और प्रकृति एक ही हैं।

सूत्रकार कहता है कि यह कहो तो लोक में, जो कुछ हो रहा है, उसे देख लो।

लोकवत्—लोक में जो हो रहा है। क्या हो रहा है ? मनुष्य जब अन्न खाता है तो क्या हो जाता है ? अन्न शरीर का भाग बन जाता है, परन्तु क्या शरीर अन्न खाता है ? अन्न का स्वाद और तृप्ति क्या शरीर को होती है ? स्वाद और तृप्ति शरीर को नहीं होती। शरीर केवल साधनमात्र है। तृप्ति मन और बुद्धि द्वारा जीवात्मा को होती है। जीवात्मा ही अन्न को खाता है। वह ही भूख अनुभव करता है और उसे ही अन्न खाकर तृप्ति होती है।

यदि शरीर को भूख लगती और शरीर ही अन्न खाता और उसे ही तृप्ति होती तो मृत शरीर भी भूख अनुभव करता और वह भी अन्न को खाता और फिर उससे तृप्ति अनुभव करता। ऐसा नहीं है।

अतः सांसारिक उदाहरण गलत दिया गया है। जीवात्मा शरीर में अभाव अनुभव करता है। इसका नाम भूख है। अनुभव जीवात्मा को होता है। यह शरीर को नहीं होता; यद्यपि अभाव शरीर में होता है।

जैसे किसी भवन में फर्श टूट जाये तो अनुभव भवन को नहीं होता वरन् भवन के स्वामी को होता है। स्वामी फर्श की मरम्मत के लिए सीमेण्ट, रेत इत्यादि लाकर उसकी मरम्मत करवाता है। मरम्मत भवन की होती है और सीमेण्ट इत्यादि भवन का भाग बन जाते हैं, परन्तु तृप्ति भवन के स्वामी को होती है।

यही बात मनुष्य के अन्न खाने की है। शरीर में अभाव हो जाता है, वह भूख है। जीवात्मा भूख को अनुभव करता है। वह अन्नमय शरीर के अभाव को अन्न से पूर्ण करता है और उससे हुई तृप्ति को अनुभव करता है।

जैसे सीमेण्ट और रेत तो भवन को लगते हैं, परन्तु उससे सुख भवन का स्वामी अनुभव करता है। जैसे दुकानदार कहता है कि अमुक भवन के स्वामी ने सीमेण्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खरीदा है, इसी प्रकार अन्न के विषय में कहा जाता है कि अन्न जीवात्मा ने खाया है।

ये हैं लोकवत् के अर्थ। जीवात्मा प्रकृति (कार्य-जगत्) का भोग करता है। प्रकृति प्रकृति में वैसे ही मिल जाती है, जैसे कि सीमेण्ट भवन को लगता है। प्रकृति प्रकृति में भेद नहीं; परन्तु उस अन्न से अभाव का अनुभव जीवात्मा कर रहा था और अन्न खाने पर तृप्ति भी जीवात्मा को ही होती है। यद्यपि अन्न जीवात्मा का भोग नहीं बनता।

इस सूत्र में शंका करने वाले ने जीवात्मा और प्रकृति को एक सिद्ध करने का यत्न किया है, परन्तु लोक-व्यवहार को देखकर पता चलता है कि दोनों एक नहीं हैं।

स्वामी शंकराचार्य तो सूत्र का अर्थ ही विपरीत कर रहे हैं।

हमारे और श्री स्वामीजी के सूत्रार्थ करने में ही अन्तर है। स्वामीजी कहते हैं कि भोक्तृ और भोग्य होने से अन्तर नहीं होता। लोक-व्यवहार में भी देखा जाता है।

हमने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि भोक्तृ और भोग्य में अन्तर नहीं होना चाहिए। यह शंका है और सूत्रकार का मत है कि अन्तर है और यह लोक-व्यवहार में दिखाई देता है।

प्रश्न यह है कि कौनसा अर्थ ठीक है? दोनों अर्थों में लोक-व्यवहार निश्चय कर देगा। दोनों अर्थों में साक्षी लोक-व्यवहार माना गया है।

हम स्वामी शंकराचार्य के अर्थों को अशुद्ध मानते हैं। वह उदाहरण ही अशुद्ध दे रहे हैं। वह कहते हैं कि नहाने के जल या फेन अथवा बुदबुदे में अन्तर नहीं होता। जैसे फेन अथवा बुदबुदे का भोग नहीं। यह अन्न और शरीर की भाँति भोग और भोक्तृ नहीं।

यह अशुद्ध उदाहरण ही प्रकट करता है कि अर्थ अशुद्ध किये जा रहे हैं।

हमने उदाहरण दिया है मकान की मरम्मत और मकान मालिक का। मकान में सीमेण्ट मकान मालिक से भिन्न है। भोक्ता मकान मालिक है। सीमेण्ट इत्यादि भोग हैं।

लोक-व्यवहार मकान में सीमेण्ट वाला ठीक है। जल पर फेन अथवा बुदबुदा जल का भोग नहीं वह तो जल का पहले ही अविभाज्य अंग है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥१४॥

तत्+अनन्यत्वम्+आरम्भणशब्दादिभ्यः।

उससे अनन्यत्व अर्थात् अभिन्न होना। आरम्भ होने की क्रिया से (सिद्ध नहीं होता) यह अयुक्त हो जायेगी।

तत् से अभिप्राय प्रकृति है। जीवात्मा से इसका अन्य भाव न होने से आरम्भ की क्रिया अयुक्त हो जायेगी।

आरम्भ की क्रिया का अभिप्राय सर्ग आरम्भ की क्रिया से है। सर्ग आरम्भ में जीवात्मा और प्रकृति सब परमात्मा में मिले-जुले होते हैं। यदि यह माना जाये कि दोनों में अनन्य (अभिन्न) भाव है तो फिर दोनों के पृथक् होने में कोई कारण नहीं प्रतीत होता। जड़ एवं कार्य-जगत् में भिन्नता न आती। जब सर्गारम्भ में एक ही वस्तु थी तो कार्य-जगत् के आरम्भ होने के समय पृथक्-पृथक् होने में कोई कारण नहीं।

अद्वैत मतानुसार जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा एक ही पदार्थ हैं तो सर्ग आरम्भ के समय कार्य-जगत् में चेतन और जड़ तथा कार्य करता हुआ जगत् और कार्य न करने वाले जगत् में भिन्नता प्रकट होने में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

मनुष्य और इतर जीव-जन्तु सुख-दुःख में लिप्त रहते हैं। परमात्मा ज्ञानस्वरूप है तो यह क्या कारण है जिससे एक अंश तो जड़ बन जाता है, दूसरा सुख भोगता है और तीसरा दुःख भोगता है?

सब-कुछ अकारण ही हो रहा प्रतीत होगा। अतः सूत्रकार का कहना है कि—

यदि भोग्य पदार्थ भोक्ता से पृथक् नहीं मानेंगे तो सर्ग आरम्भ में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

सर्ग का आरम्भ है। सूत्रकार मानता है कि आरम्भ से पूर्व यदि सबकुछ एक ही था तो क्या प्रयोजन था कार्य-जगत् तथा भूत-ग्राम के बनने का? इसमें कोई युक्ति नहीं है कि ये बनें। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रकृति और जीवात्मा भिन्न-भिन्न हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र का अर्थ करते हैं—शब्द से जाने जाते हैं कि सर्ग आरम्भ में अभिन्न थे (प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा)।

स्वामी शंकराचार्य अर्थ करते हैं—सृष्टि के आरम्भ में कार्य-जगत् और ब्रह्म एक ही थे।

हमारा मत यह है कि यदि यह कहा जाय कि **वे अभिन्न थे तो आरम्भण (सृष्टि का आरम्भ होना) अयुक्त हो जायेगा।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् के आरम्भ में जीवात्मा और प्रकृति ब्रह्म में आश्रित होने के कारण मिले-जुले रहते हैं। यदि ये अभिन्न होते तो सर्ग के बनने पर उनमें भेद आने में कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता।

हम यह भिन्नता और अभिन्नता प्रकृति और जीवात्मा के विषय में कह रहे हैं। इसमें कारण यह है कि इस पाद (ब्र० सू० २-१) के आरम्भ से ही प्रकृति और जीवात्मा का प्रसंग चल रहा है।

भावे चोपलब्धेः ॥१५॥

भावे+च+उपलब्धेः।

च=और। भावे=होने पर। उपलब्धेः=उपलब्धि से (मिलते हैं)।

कारण होने पर कार्य की उपलब्धि होती है। इसका अभिप्राय यह है कि कारण और कार्य के मूल गुणों में समानता होती है। अतः कार्य और कारण का सम्बन्ध अटूट है। बिना कारण कार्य नहीं होता।

जहाँ यह बताया है कि ब्रह्मांड में परमात्मा के अतिरिक्त भी अक्षर पदार्थ हैं, वहाँ ही इस भू-लोक के कार्य-जगत् का कारण होता है, ऐसा बता दिया है। साथ ही कारण और कार्य के मूल गुणों में समानता होती है।

यह भी ऊपर बता चुके हैं कि सर्ग पूर्व के अक्षर पदार्थों में भेद है। यदि पूर्व के अक्षर पदार्थों में अभिन्नता मानें तो पीछे भिन्न होने में प्रयोजन नहीं रह जाता।

इसके अनुरूप ही यह सूत्र है कि कारण-कार्य में समानता होती है।

अर्थात् चेतन पदार्थों से ही चेतन तत्त्व की उपलब्धि माननी होगी। इसी प्रकार जड़ कार्य-जगत् में जड़ कारण तत्त्व की उपस्थिति माननी होती है।

मिट्टी से ही घड़ा बनता है। कुम्हार घड़ा नहीं हो जाता।

स्वामी शंकराचार्य यह मानते हैं, परन्तु अपने वाग्जाल से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इस प्रत्यक्ष उपलब्धि (भाव होने अर्थात् कारण होने से कार्य) में लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप कारण हैं। तदनन्तर केवल वायु और आकाश का अस्तित्व है, ऐसा अनुमान करना चाहिए। उसके अनन्तर केवल अद्वितीय परब्रह्म ही शेष रह जाता है। उसमें ही सब प्रमाणों का पर्यवसान उन्होंने माना है।

यह निष्कर्ष न तो सूत्र से निकलता है और न ही किसी प्रकार की युक्ति से। कारण-कार्य के सम्बन्धों पर विचार करते हुए किसी वेदान्त वाक्य से भी यह सिद्ध नहीं किया गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामीजी लिखते हैं कि किसी कपड़े में तन्तु ही होते हैं। तन्तु (ताना-बाना) न रहे तो पट ही नहीं रह जाता। तन्तुओं में उनके अवयव और उन अवयवों में उनके अवयव उपलब्ध होते हैं। इस प्रत्यक्ष का कारण लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप हैं। ऐसा स्वामीजी ने लिखा है।

'तदनन्तर केवल वायु और आकाश मात्र हैं।' बस यहीं स्वामीजी ने युक्ति और प्रमाण की टाँग तोड़ी है। लोहित, शुक्ल और कृष्ण क्या हैं? यह स्वामीजी नहीं जानते। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके ज्ञान की यही सीमा है।

लोहित, शुक्ल और कृष्ण प्रधान के तीन गुण हैं और इनके अनन्तर प्रधान हैं, जिसे स्वामीजी मानते ही नहीं।

उपनिषद् में यह स्पष्ट वर्णित है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

(श्वे० ४-५)

एक अक्षर है जिसके तीन गुणों सत्त्व, रजस् और तमस् के कारण अनेक उसी के रूप वाले पदार्थ बनते हैं। यह अक्षर प्रकृति अनादि और जड़ समान है।

यह जीवात्मा और परमात्मा नहीं। इसी मन्त्र के दूसरे भाग में लिखा है—

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

(श्वे० ४-५)

एक दूसरा (जीवात्मा) अक्षर है; वह (भोग्य का) सेवन करता हुआ भोग करता है और एक अन्य (परमात्मा) अक्षर है जो उस भुक्त भोग्या को छोड़ देता है।

इनके अनन्तर क्या है, वह तो लिखा नहीं। स्वामीजी ने लिख दिया है कि वह परब्रह्म है।

परब्रह्म तो है, परन्तु इस शब्द से तो तीनों (प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा) को स्मरण किया गया है। (इसी उपनिषद् के १-६, ७ को देखो।) वह वायु और आकाश नहीं है।

सूत्र का अर्थ स्पष्ट है कि कारण से कार्य होता है, अतः कारण के मूल गुण कार्य में भी रहते हैं।

सत्त्वाच्चावरस्य ॥१६॥

सत्त्वात्+च+अवरस्य।

सत्त्वात्=सत् होने से। अवरस्य=कार्य की (उत्पत्ति होती है) च=और।

सत् से अभिप्राय है प्रकृति का मूल रूप। वैसे सत् तो जीवात्मा भी है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा भी है, परन्तु यहाँ मूल प्रकृति से ही अभिप्राय है। कारण यह कि इससे कार्य (जगत्) की उत्पत्ति होती है।

अद्वैतवादी तो प्रकृति की उत्पत्ति भी परमात्मा से मानते हैं, परन्तु इसका खण्डन हम पूर्व के सूत्रों में कर आये हैं।

इससे पूर्व (भावे चोपलब्धेः) ब्रह्मसूत्र २-१-१५ में बताया गया है कि कारण से कार्य होता है और दोनों में मूल गुण समान होने चाहिए। देखना यह है कि परमात्मा के मूल गुण क्या हैं और क्या वे गुण कार्य-जगत् में मिलते हैं? परमात्मा का एक गुण है चित्=चैतन्यता। इसका लक्षण है ईक्षण करना। अर्थात् कार्य का देश, काल और दिशा का निश्चय करना। यह कार्य-जगत् नहीं कर सकता। अतः ब्रह्म का सबसे महान् गुण—चित् (ज्ञानवान् होना) कार्य-जगत् में नहीं है। इस कारण इस सूत्र में सत् का अर्थ चेतनायुक्त परमात्मा नहीं हो सकता।

इसी प्रकार परमात्मा का एक गुण है आनन्दमय होना। कार्य-जगत् आनन्दमय नहीं होता। कोई पदार्थ आनन्दमय नहीं है। इस कारण इस सूत्र में सत् का अर्थ परमात्मा नहीं।

सूत्रार्थ है सत् (मूल प्रकृति) से अवर की (कार्य-जगत् की) उत्पत्ति होती है।

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥१७॥

असत्+व्यपदेशात्+न+इति+चेत्+न+धर्मान्तरेण+वाक्यशेषात्।

असत् के कथन से नहीं। ऐसा कहो तो नहीं। दूसरे धर्म वाक्य-शेष से।

इसका अभिप्राय यह है कि कार्य-जगत् असत् से उत्पन्न हुआ कहा जाता है। यह ऐसा नहीं, अर्थात् इसका यह अभिप्राय नहीं। जहाँ यह कहा जाता है कि असत् से यह कार्य-जगत् हुआ है, वहाँ दूसरे धर्म से बात कही गयी है। धर्म का अभिप्राय है कि सत्-असत् धर्म से नहीं, वरन् व्यक्त तथा अव्यक्त धर्म से।

कार्य-जगत् का धर्म है कि वह इन्द्रियगोचर है। जगत् का मूल कारण इन्द्रियगोचर नहीं। इन्द्रिय का वह विषय नहीं है। इसलिए उसे असत् कहा जा सकता है, परन्तु वाक्य में एक दूसरे रूप में (धर्म से) वह उपस्थित है। अभाव से यह कार्य-जगत् नहीं हुआ।

पूर्व (ब्र० सू० २-१-१५) में अद्वैतवादियों का खण्डन किया गया है, अर्थात् कारण-कार्य का सम्बन्ध है। इस कारण परमात्मा से कार्य-जगत् नहीं बन सकता। दोनों के गुणों में अन्तर है। इस सूत्र (२-१-१७) में नास्तिकों के मत का खण्डन किया गया है। यहाँ बताया गया है कि अभाव से भाव नहीं होता। जहाँ कहीं ऐसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा गया हो तो इसको दूसरे धर्म से (व्यक्ताव्यक्त भाव से) बताने का अभिप्राय होता है।

'शेष' शब्द से अभिप्राय है कि अभी और आगे भी कुछ वक्तव्य है।

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥१८॥

युक्तेः + च + शब्दान्तरात् ।

दूसरे शब्दों से और युक्ति से भी यही बात सिद्ध होती है।

प्रत्येक बात को कहने के कई ढंग होते हैं। पिछले सूत्र (२-१-१७) में यह कहा है कि ऐसा कहा जाता है कि जो कुछ दिखाई देता है वह पहले नहीं था। यह 'असत्' था। इसी बात को दूसरे शब्दों में भी कहा जा सकता है कि अभाव नहीं हो सकता। प्रश्न है कि कुछ नहीं से कुछ कहाँ से आ सकता है?

श्री उदयवीर शास्त्री युक्तेः का अर्थ योजना से करते हैं और वह कहते हैं कि जगत् रचने की योजना बनती ही नहीं, यदि रचना से पूर्व केवल एक ही होता। कोई दूसरा जबतक न हो तबतक सृष्टि रचने की योजना का कुछ अर्थ नहीं रह जाता। जगत् क्यों बना? यह अर्थहीन हो जाता। यह युक्त है।

कुम्हार, मिट्टी और घड़ा प्रयोग करने वाला ग्राहक (भोक्ता) न हो तो घड़ा बने ही क्यों?

अतः निमित्त कारण, उपादान कारण और भोक्ता तीनों ही होने चाहिए, अन्यथा जगत्-रचना की योजना अर्थहीन हो जायेगी। युक्ति से कहें अथवा योजना से कहें, सूत्रार्थ में अन्तर नहीं पड़ता।

पटवच्च ॥१९॥

पटवत् + च।

और पट की भाँति।

पट का अर्थ है कपड़ा। कपड़े की भाँति। कपड़ा सूत से बनता है। जब बन जाता है तो सूत्र के गुण उसमें उपस्थित रहते हैं। सूत में रुई के गुण होते हैं। इसी प्रकार मूल प्रकृति के गुण कार्य-जगत् में रहते हैं।

मूल प्रकृति के गुण हैं—(१) वह अचेतन है। (२) वह त्रिगुणात्मक है। प्रकृति कणदार है। इसका प्रत्येक परमाणु अर्थात् इसका प्रत्येक कण अपने से छोटे कणों में विभक्त नहीं हो सकता। प्रकृति परिणामी है। इसका कारण यह है कि यह परमाणुवत् है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक परमाणु में तीन गुण रहते हैं। यह गुण प्रत्येक परमाणु में भीतर ऐसे सिक्त हैं कि ये परस्पर दूसरे के गुणों को प्रभावहीन (neutralize) करते रहते हैं।

यदि अलंकार रूप में वर्णन करें तो ऐसा कहा जायेगा कि प्रकृति के एक कण में तीन (पक्ष) भाव रहते हैं। इसका चित्र कुछ इस प्रकार का हो सकता है—

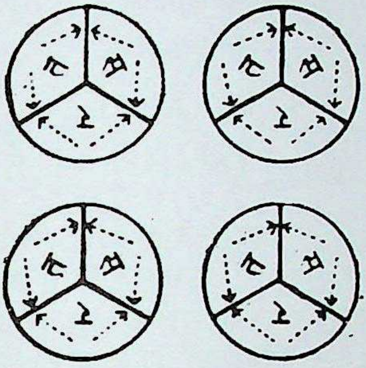

यह है साम्यावस्था। अर्थात् गुणों की साम्यावस्था परमात्मा के ईक्षण करने पर टूटती है। गुण जो परस्पर प्रभावहीन (neutralize) हो रहे थे, ऐसी स्थिति में हो जाते हैं कि वे असम अवस्था में हो जाते हैं। यदि चित्र से प्रकट करें तो वह कुछ इस प्रकार होगा—

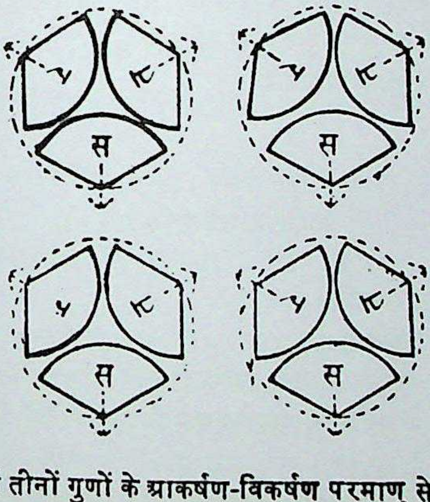

इस स्थिति में तीनों गुणों के आकर्षण-विकर्षण परमाणु से बाहर हो जाते हैं। तब इनका आकर्षण-विकर्षण दूसरे परमाणुओं पर होने लगता है। तब चित्र कुछ इस प्रकार का हो जायेगा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

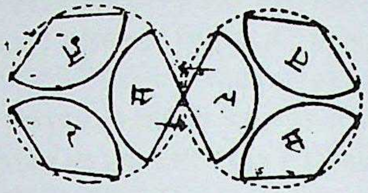

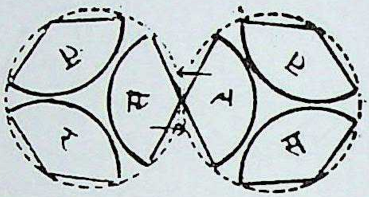

तीरों के संकेत आकर्षण प्रकट करने के लिए हैं। इससे दो-तीन अथवा अधिक परमाणु एकत्रित होने लगते हैं। ये द्वयणुक अथवा त्र्यणुक कहलाते हैं। इनसे कार्य-जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थ बन जाते हैं।

जब कई-कई परमाणु मिल जाते हैं तो जो शेष गुण उन परमाणु समूहों में मिलते हैं, वह मुख्य गुण उस परमाणु समूहों का होता है। छान्दो० ६-१६-१ में इसी का वर्णन किया है।

जैसे पट में सूत्र के गुण रहते हैं और सूत्र में कपास के तन्तुओं के गुण रहते हैं, वैसे ही कार्य-जगत् के पदार्थों में मूल प्रकृति के तीनों गुण उपस्थित रहते हैं। इसपर भी यदि कभी कोई गुण भीतरी आकर्षण-विकर्षण से प्रभावहीन नहीं होता तो वह उस पदार्थ का मुख्य गुण बना रहता है।

यही इस सूत्र का अभिप्राय है।

यथा च प्राणादि ॥२०॥

यथा + च + प्राणादि।

और जैसे प्राणादि हैं।

प्राणादि का अभिप्राय प्राण, इन्द्रियाँ और पाँच भौतिक शरीर, मन, बुद्धि एवं अहंकार है। ये शरीर में पृथक्-पृथक् दिखायी देते हैं, परन्तु ये सब कुछ मूल प्रकृति के रूप ही हैं।

हमने पिछले सूत्र के भाष्य में बताया है कि मूल प्रकृति में गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) से किस प्रकार द्वयणुक इत्यादि बनने लगते हैं। इन परमाणुओं के संयोग-वियोग से ही जगत् की रचना आरम्भ होती है। यह संयोग-वियोग भिन्न-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्न गुणों के परस्पर आकर्षण-विकर्षण से होते हैं। इन संयोग-वियोग से क्या पदार्थ बनते हैं, उसका वृत्तान्त इस प्रकार है—

मूल प्रकृति में सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था होती है। यह अवस्था हमने चित्र खींचकर पूर्व सूत्र के भाष्य में दिखायी है; तदनन्तर ये गुण परस्पर अर्थात् एक ही परमाणु में आकर्षण-विकर्षण त्यागकर पड़ोस के परमाणुओं के विपरीत गुणों से आकर्षण-विकर्षण में लग जाते हैं। जब एक परमाणु के गुण परस्पर आकर्षण-विकर्षण छोड़ बाह्याभिमुख हो जाते हैं, तब प्रकृति की उस अवस्था को महत् कहा है। उससे उपरान्त की अवस्था को आप: कहा है।

इस आप: अवस्था में भिन्न-भिन्न परमाणुओं के गुणों में आकर्षणादि होने पर द्व्यणुक अथवा त्र्यणुक अणु बनते हैं। इन संयोगों में कुछ ऐसे संयोग होतें हैं जिनमें सत्त्व और तमस् गुण प्रभावहीन होकर तेजस् गुण शेष रह जाता है। कुछ ऐसे संयोग होते हैं, जिनमें सत्त्व और रजस् परस्पर आकर्षण से प्रभावहीन हो जाते हैं और तमस् गुण शेष रह जाता है और कुछ ऐसे संयोग होते हैं जिनमें सत्त्व गुण शेष रह जाता है। जो गुण प्रभावहीन होते हैं, वे रहते तो हैं। प्रत्येक परमाणु में तीनों गुण रहते हैं। जब किसी पड़ोसी परमाणु से गुणों में आकर्षण अथवा विकर्षण होता है और एक गुण प्रभावयुक्त रह जाता है तो परमाणुओं के संयोग अहंकार कहलाते हैं। ये अहंकार तीन प्रकार के हैं—

(१) वैकारी अहंकार—यह परमाणुओं का वह संयोग है जिसमें सत्त्व गुण प्रभावी रह जाता है।

(२) तेजस् अहंकार—यह परमाणुओं का वह संयोग होता है, जिसमें रजस् गुण शेष रह जाता है और अन्य दो परस्पर प्रभाव से नि:शेष हो चुके होते हैं।

(३) भूतादि अहंकार—परमाणुओं का वह संयोग है, जिसमें तमस् गुण शेष होता है।

इस प्रकार मूल प्रकृति से महत् और महत् से तीन प्रकार के अहंकार उत्पन्न हो जाते हैं। अब इन अहंकारों के परस्पर संयोग होते हैं।

(१) वैकारी अहंकार और राजसी अहंकार के संयोग से मन और दस इन्द्रियाँ बनती हैं।

(२) तेजस् और भूतादि अहंकार से पंच महाभूत बनते हैं।

(३) अहंकारों से तरंगों की भाँति पंच तन्मात्राएँ निकलती हैं। इन तन्मात्राओं से, जो शक्ति रूप ही होते हैं, सूक्ष्म भूत और स्थूल भूत बन जाते हैं।

(४) ऐसा प्रतीत होता है कि तेजस् और भूतादि अहंकारों के संयोग एक प्रकार की तन्मात्राओं से सात्त्विक अहंकार की लपेट में आ जाते हैं। इस प्रकार जो संयोग बनते हैं, वे स्थूल भूत बनाने में योगदान देते हैं और उससे रासायनिक अणु (atom))-परिमण्डल बन जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) इन रासायनिक अणुओं में एक अन्य प्रकार की तन्मात्रा से रासायनिक संयोग (chemical compounds) बन जाते हैं और रासायनिक तत्त्वों (elements) के ढेले स्थूल बन जाते हैं।

(६) इनसे शरीर बनता है और शरीर में मन तथा इन्द्रियों के आने पर जीवन आता है और साथ ही इनमें आत्मा के प्रवेश से प्राणी बन जाता है।

इस पूर्ण प्रक्रिया को इस प्रकार चित्र में दिखाया जा सकता है।

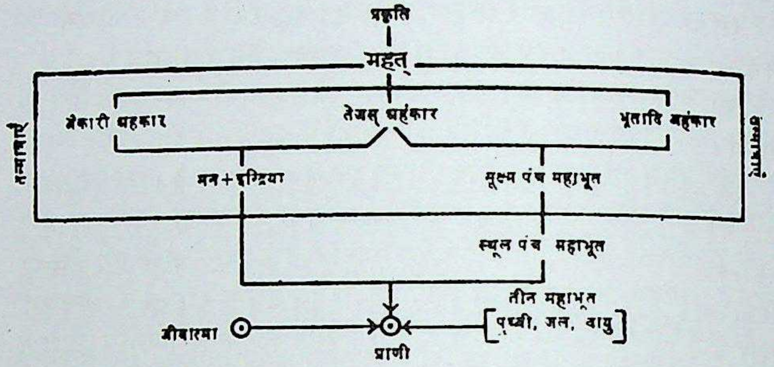

चौथी और पाँचवीं तन्मात्रा स्थूल भूतों में भू-आकर्षण (gravity) और चुम्बकीय शक्ति (magnetic attraction) उत्पन्न करती है।

यह है सूत्र का अभिप्राय। प्राणादि से भी यही सिद्ध होता है कि जगत् का उपादान कारण प्रकृति है।

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥२१॥

इतर+व्यपदेशात्+हिताकरण+आदि+दोष प्रसक्तिः।

इतर=दूसरे (परमात्मा से अन्य)। व्यपदेशात्=उपदेश अर्थात् कथन से। (कि वे भी परमात्मा हैं)। हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः=हित इत्यादि के न करने का दोष प्रसक्त होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि उत्पत्ति में उपादान कारण (प्रकृति) और जीवात्मा भी परमात्मा ही है, अर्थात् परमात्मा से जो अन्य हैं, उनको भी परमात्मा कहकर ही उपदेश करना एक दोष प्रकट करता है। वह दोष यह है कि जगत् में जो अहित हो रहा है, वह भी परमात्मा से किया जाता ही माना जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार में हिरण्यकशिपु, तैमूर, हलाकू, नैपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन इत्यादि अनेक विनाश करने वाले प्राणी उत्पन्न हुए हैं। यदि ऐसा मान लें कि सबकुछ परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है, तब सब अहितकर कर्म करने का दोष परमात्मा पर आ जायेगा।

अतः जगत् का उपादान कारण प्रधान तथा भोक्ता जीवात्मा, परमात्मा से पृथक् हैं।

इस सूत्र में यह कहा गया है कि यदि जगत्-रचना में केवल परमात्मा ही कारण मान लिया जाये तो इससे दोष उत्पन्न होता है। वह दोष भी बता दिया गया है कि संसार में हो रहा हित-अहित का कारण भी परमात्मा ही माना जायेगा।

इस सूत्र को कुछ भाष्यकारों ने संशय के रूप में समझा है। हमने इसको संशय रूप में न लेकर एक सिद्धान्त का निरूपण बताया है। इस सूत्र से कठिनाई शंकराचार्य के लिए उपस्थित हुई प्रतीत होती है। वह इसे एक आक्षेप बताकर उसका उत्तर देते हैं। उनका कहना है कि उत्तर अगले सूत्र में है। अगला सूत्र इस प्रकार है—

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥२२॥

शंकराचार्य इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

(तु) शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। (अधिकम्) जीव से भिन्न सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म-जगत् का स्रष्टा है। इसलिए उसमें हित अकरणादि दोष नहीं। (भेदनिर्देशात्) कल्पित भेद का निर्देश है।

यह अर्थ सर्वथा असंगत है। पहले स्वामीजी की युक्ति और प्रमाण देखें तो ठीक होगा। स्वामीजी लिखते हैं—

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः। न तस्मिन्हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते।

इसका अर्थ है—तु शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति करता है। जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव ब्रह्म शरीरी से अधिक माना जाता है, उसे हम जगत् का स्रष्टा कहते हैं। उसमें हित के अकरणादि दोष नहीं प्रसक्त होते।

अर्थात्—परमात्मा जगत् का स्रष्टा होने से दोषरहित है। जीवात्मा तो जगत् का स्रष्टा नहीं (इसी कारण इसमें दोष हो सकता है)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न तो यह था कि जीवात्मा से परमात्मा पृथक् है अथवा नहीं ? यदि एक स्रष्टा है और दूसरा नहीं तो भेद तो हो गया। तब आपने सिद्ध क्या किया ? पूर्व पक्ष को ही सिद्ध कर दिया है।

आप आगे लिखते हैं—

शारीरस्त्वनेवंविधः। तस्मिन्प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषाः; नतु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः। कुतः एतत् ? भेदनिर्देशात्। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ०२-४-५) 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८-७-१), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६-८-१), ''शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़ः'' (बृ० ४-३-३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति।

अर्थ है—परन्तु जीव तो ऐसा (परमात्मा जैसा) नहीं है। उसमें हित करना आदि दोष प्रसक्त होते हैं। परन्तु हम उसको जगत्-स्रष्टा नहीं मानते। वह क्यों ? श्रुति में भेद का निर्देश है (जैसे बृ० २-४-५, छा० ८-६-१ और छा० ६-३-३५ में)। इस प्रकार जाना जाता है कि कर्ता कर्मादि के भेद से जीव से परमात्मा अधिक दिखाया है।

स्वामीजी की युक्ति यह है कि परमात्मा जगत् का स्रष्टा है और जीवात्मा नहीं है। दोनों में भेद है। इस कारण पहला हित-अहित का दोषी नहीं और दूसरा है।

भला जगत् का कर्ता होने से निर्दोष और कर्ता न होने से दोषी ? यह क्या युक्ति है ?

एक बात आप मान गये हैं कि जीव और परमात्मा में भेद दिखायी देता है। यह भेद कल्पित है। यह आपने अपने पास से लगा दिया है। सूत्र में कल्पित शब्द नहीं है।

स्वामीजी सूत्र का अर्थ करते हैं—

'तु' शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। जीव से अधिक (सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परमात्मा) जगत् का स्रष्टा है; इस कारण उसमें हित अकरणादि दोष नहीं। क्योंकि भेद कल्पित दिखायी देता है।

स्वामीजी ने अपने सिद्धान्त 'जीव ब्रह्मैव नापरा' को बचाने के लिए 'कल्पित' शब्द अपने पास से लगा दिया है।

वास्तव में इन दोनों सूत्रों (ब्र० सू० २-१-२१, २२) के अर्थ इस प्रकार बनते हैं—

इतर को (परमात्मा के अतिरिक्त को) भी परमात्मा मान लेने से हित न करने का दोष (परमात्मा में) आ जाता है। (सू० २१)।

अधिक=महान्। तु=तो है। भेद निर्देशात्=दोनों में भेद दिखाये जाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से परमात्मा और जीवात्मा में भेद दिखाई देता है और परमात्मा बड़ा है—शक्ति में, व्यापकता में, ज्ञान में और सूक्ष्मता में। (सू० २२)।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥२३॥

अश्मादिवत्+च+तत्+अनुपपत्तिः।

च=और। अश्मादिवत्=पत्थरादि की भांति। तत्=जीवात्मा की। अनुपपत्तिः=(ब्रह्म होना) असिद्ध है।

इस अध्याय के प्रथम पाद में मुख्य विषय जीवात्मा ही है। वह परमात्मा नहीं है, यह सिद्ध किया जा रहा है।

इतर में प्रकृति और जीवात्मा दोनों को लिया है।

सूत्र (ब्र० सू० २-१-२२) 'अधिक' से परमात्मा के अर्थ लिए हैं, अतः अधिक से कम कार्य-जगत् में जड़ पदार्थ और जीवात्मा है।

अतः जीवात्मा को परमात्मा से कम बताने के लिए अश्मवत् कहा है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि जीवात्मा अश्मवत् जड़ है। इसका अर्थ यह है कि जीवात्मा परमात्मा से ही ऐसे तुच्छ हैं जैसे कि कोई भी जड़ पदार्थ है। यों तो जीवात्मा और अश्म में अन्तर है। यद्यपि परमात्मा से दोनों तुच्छ हैं।

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥२४॥

उपसंहार+दर्शनात्+न+इति+चेत्+न+क्षीरवत्+हि।

उपसंहार=उपसाधन संग्रह। दर्शनात्=देखे जाने से। न इति=ऐसा नहीं। चेत्=यदि कहो। न=नहीं। क्षीरवत्=क्षीर की भाँति।। ही= निश्चय से।

जगत् में मनुष्य जब कोई वस्तु बनाने लगता है तो उसे साधनों की आवश्यकता होती है। जैसे कुम्हार को चक्का और डण्डा इत्यादि। परमात्मा जब जगत् बनाता है तो उसे साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। यदि कहो कि परमात्मा ने कौन-से चक्के पर जगत् निर्माण किया तो सूत्रकार कहता है कि यह प्रश्न ठीक नहीं। जैसे दूध से दही स्वयमेव बन जाती है अथवा माँ के स्तन से दूध स्वयं उतरने लगता है वैसे ही प्रकृति से रचना होने लगती है।

माँ के स्तन से दूध प्रेरणामात्र से टपकने लगता है। माँ जब अपने बच्चे को देखती है तो उसके स्तनों में दूध उमड़ पड़ता है। यही बात प्रकृति से जगत् के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनने की है ।[१]

यहाँ एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि माँ के स्तनों से दूध स्रवित होता है तो इस कारण कि माँ में चेतन तत्त्व जीवात्मा है। बच्चे को देखने से जीवात्मा प्रेरणा करता है। इसे संवेदना भी कहते हैं।

इसी प्रकार प्रकृति में से रचना आरम्भ होती है क्योंकि परमब्रह्म में चेतन तत्त्व परमात्मा भी है। उसकी प्रेरणा से रचना आरम्भ होती है।

देवादिवदपि लोके ॥२५॥

देव+आदि+वत्+अपि+लोके।

लोक में देवादि की भाँति भी (परमात्मा की प्रेरणा से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध है)।

देवादि से अभिप्राय है लोक में दिव्य शक्ति सम्पन्न व्यक्ति। कुछ लोग जो योगी कहे जाते हैं, वे ऐसी शक्ति के स्वामी माने जाते हैं। वे मात्र कल्पना से कई कार्य सम्पन्न कर सकते हैं।

महाभारत में कृष्ण द्वारा कई ऐसे चमत्कार किए गये बताए जाते हैं। वैसे वर्तमान युग में 'मैस्मेरिज़्म' करने वाले भी इसी श्रेणी में गिनाये जा सकते हैं। वे अपने सामने बैठे व्यक्ति से अपनी इच्छानुसार कार्य कराने की क्षमता रखते हैं।

अतः, सूत्रकार कहता है कि दिव्यगुण सम्पन्न व्यक्तियों से अथवा (मैस्मेरिज़्म जैसा अभ्यास किये) योगियों की भाँति परमात्मा भी बिना उपकरण अर्थात् साधनों के कार्य सम्पन्न करता है। परमात्मा महान् गुण सम्पन्न होने से ऐसा कर सकता है।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥२६॥

कृत्स्नप्रसक्तिः+निरवयवत्व+शब्दकोपः+वा।

कृत्स्न प्रसक्तिः=पूर्ण का जगत् में परिवर्तित हो जाना। वा=अथवा। निरवयवत्व=निरवयव होना। शब्दकोपः=शास्त्र का विरोध। (होगा)।

यह उन मत वालों पर आक्षेप है जो यह मानते हैं कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है। कहा है कि या तो यह मानो कि सम्पूर्ण ब्रह्म कार्य-जगत् में

---

१. सां० द० ३-५६ में भी ऐसा ही कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसक्त हो जाता है अथवा यह मानो कि वह निरवयव है। पहली बात का विरोध होगा अथवा शास्त्र की दूसरी बात का विरोध होगा। शास्त्र में परमात्मा को निरवयव माना है।

शंकराचार्य इस प्रकार मानते हैं कि जगत् का उपादान कारण भी परमात्मा ही है। उक्त आक्षेप उनपर ही है। जगत् सीमित है। परमात्मा आकाशवत् असीम है। अतः जब परमात्मा उपादान कारण एतदर्थ जगत् में परिवर्तित होता है, तो वह सब स्थान पर परिवर्तित नहीं हो जाता। ऐसा मानने से परिवर्तित परमात्मा और अपरिवर्तित परमात्मा में सीमा बन जायेगी और परमात्मा अवयवी हो जायेगा। इससे शास्त्र का विरोध होगा। कारण यह कि शास्त्र में परमात्मा को निरवयव माना है।

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२७॥

श्रुतेः+तु+शब्दमूलत्वात्।

तु=किन्तु। श्रुतेः=श्रुति ग्रन्थ के। शब्द मूलत्वात्=वेद मूल [illegible] होने से।

इसका अभिप्राय यह है कि श्रुतियों में, अर्थात् उन सब शास्त्रों में जिनको श्रुतिनाम से स्मरण किया जाता है, मूल ग्रन्थ तो वेद हैं और वेदों में पढ़कर देखें तो उक्त संशय नहीं रह जायेगा।

श्रुति ग्रन्थ तो ब्राह्मण और उपनिषद् भी माने जाते हैं। सूत्रकार का मत है कि श्रुतियों में कुछ भी लिखा हो, ऐसा वेद में नहीं लिखा। कैसा नहीं लिखा? यह कि जगत् का उपादान कारण भी परमात्मा ही है।

हम परमात्मा और ब्रह्म को पृथक्-पृथक् अर्थों में लिख रहे हैं। ब्रह्म से हमारा अभिप्राय परमात्मा, जीवात्मा-समूह और प्रकृति, तीनों अजन्मा एवं अक्षरों के समूह से है जिससे भ्रम न हो सके। हम परमात्मा के लिए ब्रह्म शब्द का अथवा प्रकृति और जीवात्मा के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग नहीं कर रहे। उपनिषदादि ग्रन्थों में ब्रह्म इन तीनों में से एक के लिए, दो के लिए अथवा तीनों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

अतः किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न हो, हमने यह शैली स्वीकार की है। ब्रह्म तीनों के लिए प्रयुक्त होता है। इसका प्रमाण हम श्वेताश्वर (१-६, ७ तथा १-९) के उद्धरणों से दे चुके हैं।

इसी प्रकार श्रुति और वेद शब्दों में भी भ्रम उत्पन्न हो रहा है। श्रुति उन ग्रन्थों को कहा जाता है जो किसी ने कहे और किसी दूसरे ने सुने। वेदों के विषय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी यह परम्परा है कि अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा ऋषियों ने कहे और मनुष्यों ने सुनकर समझे। इस कारण इनको श्रुति कहते हैं। इसी प्रकार उपनिषद् ग्रन्थ भी कहने वाले के द्वारा कहलाये गये हैं और सुनने वाले ने सुने हैं। अतः ये भी श्रुति हैं। परन्तु वैदिक परम्परा यह है कि ईश्वरीय ज्ञान तो वेद ही है, उपनिषद् नहीं।

अतः आक्षेप करने वाले ने जब कहा कि या तो श्रुति असत्य सिद्ध हो जायेगी अथवा परमात्मा से ही सबकुछ उत्पन्न हुआ मानने वाले झूठे हो जायेंगे।

सूत्रकार ने इसका यह उत्तर दिया है कि जब आक्षेप करने वाले ने श्रुति का नाम लिया है तो उसको मानना होगा कि श्रुति ज्ञान का मूल वेद है। अतः यदि श्रुतियों में कुछ ऐसा कहा है जो वेद में नहीं, तो वेद माननीय हैं, श्रुति नहीं।

और वेदों में उक्त आक्षेप का समाधान है।

क्या समाधान है? वह यह कि जगत् में कारण तीन हैं। केवल परमात्मा नहीं। इसका प्रमाण सहित हम पूर्व उल्लेख कर चुके हैं। प्रकृति परिवर्तनशील अर्थात् परिणामी है। जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थ प्रकृति से बनते हैं।

प्रकृति अवयवी तो है, परन्तु यह सर्वत्र है। यह विभु नहीं है अर्थात् वह कणदार है। इसके परमाणु हैं। यह सर्वत्र तो है, परन्तु सर्वव्यापक नहीं है। इस कारण वह दोष जो परमात्मा को जगत् का कारण मानने पर दिखायी देता है, वह प्रकृति को जगत् का उपादान कारण मानने से नहीं है।

प्रायः भाष्यकारों ने इन दोनों सूत्रों का अर्थ अशुद्ध किया है।

शंकराचार्य लिखते हैं—

तुशब्देनाक्षेपं परिहरति। न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति। न तावत्कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति। कुतः? श्रुतेः। यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत, एवं विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते, प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात्, 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि'। (छा० ६-३-२)

इसका अर्थ इस प्रकार है—तु शब्द से आक्षेप का परिहार करते हैं। हमारे सम्पूर्ण पक्ष में कोई भी दोष नहीं। उस जगत्-रचना में सम्पूर्ण ब्रह्म की प्रसक्ति नहीं, क्योंकि ऐसी श्रुति है। जिस प्रकार ब्रह्म से जगत्-उत्पत्ति सुनी जाती है, उसी प्रकार कार्य से भिन्न ब्रह्म की अवस्थिति सुनी जाती है। क्योंकि (छान्दो० ६-३-२ में) लिखा है—इत्यादि।

अभिप्राय यह कि श्री स्वामी शंकराचार्यजी ने आक्षेप को मान लिया है, परन्तु उसका उत्तर दिया है कि ऐसा श्रुति में लिखा है कि ब्रह्म जगत् में परिवर्तित भी होता है और परिवर्तित नहीं भी होता। अर्थात् परमात्मा का एक भाग जगत् में प्रसक्त होता है और एक भाग प्रसक्त नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह उक्त आक्षेप का उत्तर नहीं। किसी भी ग्रन्थ को जो श्रुति है प्रमाण नहीं कहा जा सकता। प्रमाण वेद है।

आक्षेप करने वालों तथा जगत् का उपादान कारण परमात्मा को मानने वालों को सूत्रकार यह कहता है कि जगत् सीमित है। यदि परमात्मा ही बदलकर जगत् बना है तो असीम परमात्मा दो भागों में बँट गया मानना होगा। दोनों भागों के बीच सीमा बन जाने से परमात्मा अवयवी हो जायेगा। यह शास्त्र विरुद्ध है। वहाँ परमात्मा को निरवयव कहा है। शास्त्र का अर्थ वेद है।

सूत्रकार ने ही कहा है कि मूल शब्द प्रमाण वेद है। उसमें ऐसा नहीं कहा कि जगत् का उपादान कारण परमात्मा है। उपादान कारण प्रकृति है जो परमाणुओं में है। अतः इसमें परिवर्तित होने से इसका अवयवी बन जाना दोष होगा।

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२८॥

आत्मनि + च + एवम् + विचित्राः + च + हि।

च = और। आत्मनि = परमात्मा में। एवं = ऐसी। विचित्राः = विचित्र अथवा विविध प्रकार की। च = और। हि = क्योंकि।

इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा में तो अनेक प्रकार की विचित्र शक्तियाँ हैं। वह जड़ प्रकृति से जगत् की रचना कर सकता है।

सूत्रार्थ तो है कि परमात्मा की शक्तियाँ अनेक प्रकार की हैं और वह रचने की सामर्थ्य रखता है। प्रकृति से रचने की समर्थ तो है ही; क्योंकि अपने को बदल-कर जगत् रचने में कुछ प्रयोजन भी नहीं। प्रकृति में परिवर्तन कर जगत् की रचना की जाती है जीवात्माओं के भोग के लिए। जीवात्मा को संसार का भोग करते हुए मोक्ष-मार्ग-निर्माण करना होता है।

स्वपक्षदोषाच्च ॥२९॥

च + स्वपक्ष + दोषात्।

और अपने पक्ष में दोष होने से।

अपने पक्ष का अभिप्राय है कि आक्षेप करने वाले का पक्ष।

आक्षेप करने वाले का पक्ष है कि परमात्मा ही जगत् है, जो दिखाई देता है। इसमें दोष यह है कि जब परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई हो ही नहीं तो दिखाई किसको देता है? परमात्मा को भी भ्रम होता है क्या? यह दोष है।

वस्तुस्थिति यह है कि परमात्मा जगत् का उपादान कारण नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥३०॥

सर्व + उपेता + च + तत् + दर्शनात् ।

सर्वोपेता = सबसे उपेत (युक्त) है । च = और । तद्दर्शनात् = ऐसा देखे जाने से ।

सर्वोपेता का अर्थ सबसे जुड़ा हुआ है। प्रकृति के प्रत्येक परमाणु से यह (परमात्मा) युक्त (व्याप्त) है और ऐसा देखा जाता है । कैसा देखा जाता है ? कुछ लोग कहते हैं कि शास्त्र में लिखा देखा जाता है ।

यह ठीक है कि शास्त्र में ऐसा लिखा है, परन्तु हमारा मत यह है कि हम जड़ जगत् में प्रत्येक कार्य को देखकर अनुमान लगाते हैं कि जगत् का रचने वाला प्रत्येक परमाणु से युक्त (व्याप्त) है । ऐसा मानना ही पड़ेगा, अन्यथा सृष्टि की रचना की कल्पना की ही नहीं जा सकती ।

सांख्य मत है कि प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में तीन गुण हैं जो एक-दूसरे को सन्तुलित करते रहते हैं । इस अवस्था को गुणों की साम्यावस्था कहते हैं । गुणों में सन्तुलन टूटता है । गुणों के परस्पर सन्तुलन का प्रभाव बदलकर बाहर के परमाणुओं पर केन्द्रित हो जाता है । यह परमात्मा करता है । यह तब ही हो सकता है जबकि परमात्मा प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त हो । यदि परमात्मा को परमाणुओं से युक्त न मानें तो परमाणुओं में गुणों को संतुलन की भंग करने के लिए किसी करण (tool) की आवश्यकता होगी । ऐसा नहीं है ।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥३१॥

विकरणत्वात् + न + इति + चेत् + तत् + उक्तम् ।

विकरणत्वात् = करणों के बिगड़ जाने से । न = नहीं । इति चेत् = यदि यह कहो तो । तत् = वह । उक्तम् = कहा जा चुका है ।

संशय करने वाला यह कहता है कि परमात्मा इन्द्रियों में कार्य करता कहा जाता है और वे बिगड़ जाती हैं । इस कारण परमात्मा नहीं है । सूत्रकार उत्तर देता है कि यदि यह कहो तो यह ऐसा नहीं । इसका कथन पहले हो चुका है ।

क्या कहा जा चुका है ? यही कि इन्द्रियों में वायु कार्य करता है । वायु (शक्ति) परमात्मा का लक्षण है, परमात्मा नहीं । जैसे अग्नि का लक्षण धुआँ है । धुआँ अग्नि नहीं है । इस प्रकार इन्द्रियों में परमात्मा की शक्ति कार्य करती है । जब इन्द्रियाँ बिगड़ जाती हैं तो यह वायु कार्य नहीं कर रहा होता अथवा न्यून कार्य करने लगता हैं । इसका परमात्मा के होने-न-होने से सम्बन्ध नहीं । यह पहले बताया जा चुका है कि न तो इन्द्रियाँ परमात्मा हैं और न ही शक्ति परमात्मा है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न प्रयोजनवत्त्वात् ।।३२।।

न=नहीं। प्रयोजनवत्त्वात्=प्रयोजन वाला होने से (परमात्मा के)। न प्रयोजन वाला होने से (वह जगत्-रचना करने वाला नहीं हो सकता)।

परमात्मा को किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं। इस कारण इसका कोई उद्देश्य नहीं। अतः यह जगत् परमात्मा ने नहीं बनाया। यह अपने आप बना है। यह शंका है।

इसी सूत्र का एक अन्य अर्थ भी हो सकता है। प्र के अर्थ होते हैं प्रकर्षणे (प्रकर्ष से) बलपूर्वक। योजनवत्त्वात्—योजनाबद्ध होने से। यह जगत् भली प्रकार विचारकर यत्न से परमात्मा क्यों सृजन करेगा? इस कारण जगत् परमात्मा ने नहीं बनाया।

दोनों अर्थों में भाव एक ही है। न तो परमात्मा का कोई सिद्ध योग्य कार्य था, जिससे वह जगत् बनाता, न ही किसी प्रकार की योजना बनायी गयी होगी। कारण, योजना में कोई उद्देश्य होना चाहिए। यह पूर्व पक्ष का कथन है।

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।।३३।।

लोकवत्+तु+लीला+कैवल्यम्।

लोक में माना जाने के समान, लीला मात्र कहा जा सकता है।

सामान्य भाषा में जगत्-रचना को लीला मात्र कहा जाता है। लीला का अर्थ मनोरंजनार्थ किया कार्य भी है और लीला का अर्थ अनायास किया काम भी है।

मनोरंजनार्थ माना जाये अथवा विना प्रयोजन के माना जाये; यह पूर्व सूत्र (२-१-३२) के समर्थन में अर्थात् यह भी पूर्व पक्ष में है। परमात्मा को निरर्थक कहा जा रहा है।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ।।३४।।

वैषम्य+नैर्घृण्ये+न+सापेक्षत्वात्+तथा+हि+दर्शयति।

वैषम्य=विषमता अर्थात् किसी के साथ एक प्रकार का और दूसरे के साथ दूसरी प्रकार का व्यवहार। नैर्घृण्ये=निर्दयता का। न=नहीं। सापेक्षत्वात्=अपेक्षा सहित होने से। तथा=और। हि=निश्चय से। दर्शयति=दिखाया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सूत्र में विशेष शब्द है सापेक्षत्वात्; अर्थात् अपेक्षा सहित होने से। अपेक्षा का अर्थ है क्रियाओं में अथवा वस्तुओं में रहने वाला स्वाभाविक सम्बन्ध।

परमात्मा में जहाँ विषमता नहीं, निर्दयता नहीं, वहाँ सापेक्षत्व भी नहीं है।

रचित सृष्टि में किसी के साथ भेद-भाव बिना निर्दयता के बिना, स्वाभाविक सम्बन्धों को रखने वाला परमात्मा माना जाता है।

यह कहा है कि ऐसे परमात्मा की आवश्यकता ही क्या है? यह सूत्र भी पूर्व पक्ष में है।

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥३५॥

न+कर्म+अविभागात्+इति+चेत्+न+अनादित्वात्।

(शंका है) न कर्माविभागात्=नहीं, कर्म में अविभाग होने से। अर्थात् परमात्मा (जगत् रचने वाला) नहीं है। क्योंकि (रचना से पूर्व) कर्मों में (जीवों का परमात्मा से) अभेद था। अतः अर्थ बनते हैं कि सर्ग से पूर्व परमात्मा और जीवों में कर्मभेद नहीं था।

चेत्=यदि यह कहो तो। न=यह ठीक नहीं। (कारण यह कि) अनादि होने से।

यह आपत्ति की गयी है कि परमात्मा एक सार रहता है। यदि यह कहो तो नहीं। परमात्मा नहीं है। अनादि होने से।

यह सूत्र भी पूर्व पक्ष में कहा गया है। शंका यह की गयी है कि वह अनादि है। वह एक सार रहता है। ऐसे परमात्मा की आवश्यकता ही क्या है?

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥३६॥

उपपद्यते+च+अपि+उपलभ्यते+च।

उपपद्यते=युक्ति से सिद्ध। और उपलभ्यते=उपलब्ध होने अर्थात् प्रत्यक्ष देखने से। अपि=भी। च=और।

सूत्र के अन्त में 'च' का अभिप्राय है कि सूत्रकार अपनी पूर्व में (पूर्ण पाद में दी गयी) युक्तियों के समर्थन में कह रहा है।

वह पूर्व की सब शंकाओं के अन्त में कह रहा है कि युक्ति से और जैसे कि वस्तुस्थिति से स्पष्ट होता है, ये सब शंकायें निराधार हैं।

पूर्व में सूत्र संख्या ३२, ३३, ३४, ३५ में पूर्व पक्ष की ओर से शंकाएँ की गयी हैं। वे शंकाएँ इस प्रकार हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) इस जगत् रचना में परमात्मा का कुछ भी अपना प्रयोजन नहीं।

(२) लोक में कहा जाता है कि उसने यह जगत् मनोरंजन के लिए लीला-मात्र रचा है।

(३) परमात्मा निष्पक्ष माना जाता है। ऐसे परमात्मा की आवश्यकता कुछ नहीं।

(४) परमात्मा को एक सार माना जाता है। अनादि काल से ऐसा रहने का कुछ भी प्रयोजन नहीं।

इन सबका उत्तर सूत्रकार ने यह दिया है कि युक्ति से और वस्तु स्थिति से परमात्मा का कार्य चलता है, जो पूर्ण पाद में वर्णित है। सूत्रकार कहता है कि—

(१) जगत् रचना का प्रयोजन है, जीवात्माओं को मोक्ष प्राप्ति का अवसर देना।

(२) जगत् रचना लीलावत् नहीं। यह प्रयोजन से है।

(३) ऋतों का पालन करने वाले की परमात्मा का प्रपंच सहायता करता है। यह निष्पक्ष नहीं है।

(४) परमात्मा रचना करता है और फिर नियम से रचना विघटित होती है। वह एक सार है परन्तु कर्म एक सार नहीं।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥३७॥

सर्वधर्म + उपपत्तेः + च।

च—और। सर्वधर्मोपपत्तेः = सब धर्मों की उपस्थिति से।

सब पदार्थों के धर्मों की उपस्थिति से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि ब्रह्माण्ड में परमात्मा के अतिरिक्त अन्य भी हैं और प्रत्येक अपने-अपने धर्मों से पहचाना जाता है।

हमने पहले यह बताया है कि पदार्थ के धर्म व गुण होते हैं, जिनसे वह पदार्थ कर्म करता है। कुछ गुण ऐसे भी होते हैं जो कर्म करने में सक्षम नहीं होते। अतः वे गुण मात्र कहलाते हैं। जो गुण पदार्थ के कर्म में प्रकट होते हैं, वे धर्म कहलाते हैं।

अतः जगत् में सब उपस्थित पदार्थों को पहचाना जाता है, उनके धर्मों से।

परमात्मा का गुण = रचयिता उसका धर्म है। जीवात्मा का गुण भोक्ता उसका धर्म है। प्रकृति का जड़त्व इसका धर्म है।

इस सूत्र को इसी पाद के चतुर्थ सूत्र के साथ-साथ पढ़ें तो पूर्ण पाद का भावार्थ समझ में आ जायेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय पाद

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।।१।।

रचना+अनुपपत्तेः+च+न+अनुमानम् ।

रचना=जगत् की रचना। अनुपपत्तेः=न उपपन्न हो सकने से। अर्थात् असिद्ध होने से। च=भी। न=नहीं। अनुमानम्=अनुमान से।

जगत् की रचना नहीं की जा सकती (प्रधान से)। अनुमान से भी नहीं (सिद्ध हो सकती)।

पूर्व के पादों में परमात्मा (चेतन) से जगत्-रचना की प्रक्रिया वर्णन की है। यहाँ प्रकृति से आरम्भ किया है। प्रकृति का गुण ईक्षण नहीं। यह जड़ है। जड़ उस पदार्थ को कहते हैं जिसमें अक्रियता (inertia) हो।

यह कहा गया है कि मूल प्रकृति (प्रधान) द्वारा जगत्-रचना की जानी असिद्ध है। यह अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध नहीं हो सकती।

जिसमें जड़त्व है अर्थात् जो अक्रिय है, उस द्वारा जगत् की उत्पत्ति असम्भव है। कहीं किसी अक्रिय पदार्थ को कुछ करते नहीं देखा गया। यदि प्रधान को हम जड़ मानें तो यह सृष्टि रचने वाला नहीं हो सकता।

अन्+उपपत्तेः=न उपपन्न होने से अर्थात् जगत् का रचने वाला प्रधान माना नहीं जा सकता। यह देखने में नहीं आता।

अनुमान प्रमाण से भी प्रधान जगत् का निमित्त कारण नहीं हो सकता। यहाँ हमने सूत्र का अर्थ करते हुए 'प्रधान' शब्द लगाया है। साथ ही अनुमान प्रमाण में 'निमित्त कारण' की बात लिख दी है। ये दोनों शब्द इस कारण हैं कि प्रधान को उपादान कारण हम इसी अध्याय के प्रथम पाद में सिद्ध कर चुके हैं। अतः यहाँ असिद्धि का अर्थ निमित्त कारण से ही है।

यह सूत्र नास्तिकों को चुनौती है। जो परमात्मा को जगत्-रचयिता नहीं मानते, उनके लिए ही यह लिखा है कि प्रकृति स्वतः रचना नहीं कर सकती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृत्तेश्च ॥२॥

प्रवृत्तेः+च (न)।

और प्रवृत्ति से भी (नहीं)।

'नहीं' पूर्व के सूत्र से लिया है। 'च' शब्द से इस सूत्र का उससे ही सम्बन्ध सिद्ध होता है।

किसी कार्य में प्रवृत्त होने को ही प्रवृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति किसी कार्य विशेष के लिए की जाने वाली विशिष्ट क्रिया का नाम है। यह जड़ पदार्थ में नहीं हो सकती। इसी कारण कहा है कि प्रवृत्ति के विचार से भी जगत्-रचना प्रकृति से नहीं है।

लोक में कोई ऐसा दृष्टान्त उपलब्ध नहीं, जहाँ जड़त्व में स्वतः क्रिया होती देखी गयी हो।

त्रैतवादी अर्थात् जो यह मानते हैं कि मूल पदार्थ तीन हैं, उनके लिए 'प्रवृत्ति जगत्-रचना में कारण नहीं' पद से, किसी प्रकार से संशय उत्पन्न नहीं होता। कारण यह कि वे निमित्त कारण और उपादान कारण में भेद मानते हैं, परन्तु जो प्रकृति को मूल तत्त्व मानते ही नहीं, उनके लिए इन दो सूत्रों के अर्थ लगाने में भारी कठिनाई अनुभव होगी। कारण यह कि इन सूत्रों से यह पता चलता है कि परमात्मा के अतिरिक्त कुछ है, जिसके विषय में कहा जा रहा है कि वह जगत् का कारण नहीं है। यह मान लिया गया है कि वह है। तो वह क्या है, क्यों है और क्या करता है? इत्यादि प्रश्न उत्पन्न होने लगते हैं।

स्वामी शंकराचार्य परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ मानते नहीं। इस कारण इस सूत्र पर उनका भाष्य पढ़ने में अवश्य रुचिकर होना चाहिए। हम उसके कुछ अंश देते हैं। आप लिखते हैं—

आस्तां तावदियं रचना। तत्सिद्ध् यर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात्प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता, सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते, मृदादिष्वदर्शनाद्रथादिषु च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वानधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः।

अर्थ है—इस विचित्र रचना को रहने दो। इसकी सिद्धि के लिए जो प्रधान की साम्यावस्था से प्रच्युति रूप प्रवृत्ति अर्थात् सत्त्व, रजः और तमः इन तीनों गुणों के अंगांगी भाव की आपत्ति (प्राप्ति रूप) विशेष कार्य के सम्पादन के लिए जो प्रचलित हैं, वह भी स्वतन्त्र अचेतन प्रधान की नहीं हो सकती; क्योंकि मृत्तिका आदि और रथ आदि में स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। मृत्तिका आदि अथवा रथ आदि स्वयं अचेतन होते हुए चेतन कुलाल आदि अथवा अश्वादि से अनधिष्ठित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर विशिष्ट कार्य के अभिमुख प्रवृत्ति वाले नहीं देखे जाते और दृष्ट से अदृष्ट की सिद्धि होती है।

इसमें भाव यह है कि जड़ में प्रवृत्ति नहीं होती। इसका संसर्ग जब चेतन से होता है तो चेतन की प्रवृत्ति इसमें प्रकट होती है।

मिट्टी से घड़ा बनने में कुलाल की सहायता की आवश्यकता रहती है अथवा रथ में प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए घोड़ों की आवश्यकता रहती है, यह स्वामीजी ने ठीक ही कहा है।

प्रधान में प्रवृत्ति नहीं है। इसमें प्रवृत्ति चेतन के कारण ही होती है और तब इससे रचना होती है।

इतना कहकर स्वामीजी को यह अनुभव हो गया प्रतीत होता है कि उन्होंने कुछ अपने ही विरुद्ध कह दिया है। अतः वहाँ एक भ्रमयुक्त पूर्व पक्ष उपस्थित कर भ्रमयुक्त ही उत्तर दे दिया। न तो पूर्व पक्ष में किसी प्रकार की युक्ति है और न ही उसके उत्तर में जो कुछ स्वामीजी ने लिखा, उसमें किसी प्रकार का तथ्य प्रतीत होता है।

आइये, देखें कि स्वामीजी पूर्व पक्ष क्या प्रस्तुत करते हैं और उसका उत्तर क्या देते हैं? पूर्व पक्ष यह है—

केवलाचेतनरथादिविलक्षण्यं जीवद्देहस्य दृष्टमिति। अत एव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनादसति चादर्शनाद्देहस्यैव चैतन्यमपीति लौकायतिकाः प्रतिपन्नाः। तस्मादचेतनस्यैव प्रवृत्तिरिति।

परन्तु केवल अचेतन रथादि से जीव की देह में विलक्षणता देखे जाने से (रथ में प्रवृत्ति देखी जाती है) अतएव देह के प्रत्यक्ष होने पर चैतन्य दिखायी देता है और देह के प्रत्यक्ष न होने पर चैतन्य दिखाई नहीं देता। अतः देह ही चेतन है, यह लोकायतिक (नास्तिक) मानते हैं। अतः अचेतन की ही प्रवृत्ति है।

भाव यह है कि घोड़ा अथवा कुलाल भी जड़ है और इनकी देह में चेतनता आयी है। इस कारण जड़ ही चेतन है। बिना देह के चेतनता प्रकट नहीं होती।

यह लंगड़ी युक्ति है; परन्तु देखें कि स्वामीजी इसका क्या उत्तर देते हैं? स्वामीजी लिखते हैं कि चेतन देह में भी प्रवृत्ति तो उसमें उपस्थित जीवात्मा की है जो चेतन है, परन्तु इतना कहकर स्वामीजी अपने मत को भंग होते देख कहते हैं—

ननु तव देहादिसंयुक्तस्याप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरनुपपन्नं प्रवर्तकत्वमिति चेत्—न, अयस्कान्तवद्रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्तकत्वोपपत्तेः।

अर्थात्—ऐसा यदि कहो कि तुम्हारे मत में देहादि से संयुक्त भी आत्मा के विज्ञान स्वरूप मात्र से अतिरिक्त प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होने से प्रवर्तकत्व अनुपपन्न है तो यह युक्ति नहीं; क्योंकि अयस्कान्तमणि (लौह चुम्बक) की प्रवृत्ति रहित और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपादि के समान वस्तु में भी प्रवर्तकत्व हो सकता है।

स्वामीजी के अपने ही मन में अपनी ही युक्ति से यह भय उत्पन्न हो गया है। वह स्वयं जीवात्मा को तो मानते नहीं। वह विज्ञान (बुद्धि) में परमात्मा के संयोग से चेतनता उत्पन्न हो जाती है, ऐसा मानते हैं। तो फिर घोड़े और कुलाल की अचेतनता में चेतनता आ गयी, क्यों नहीं मानते ? स्वामीजी वही चुम्बक वाली बात करते हैं।

परन्तु वह यह नहीं समझे कि चुम्बक में ईक्षण नहीं आता। न ही चुम्बक लौह में ईक्षण उत्पन्न कर सकता है। हम बता चुके हैं कि ईक्षण का अर्थ है कि कर्म की दिशा, काल और निश्चय करने की सामर्थ्य।

कुलाल का उदाहरण लें। मिट्टी भी है, कुम्हार भी है। परन्तु उसमें घड़ा बनाने की इच्छा नहीं होती अथवा घड़े के अतिरिक्त सुराही बनाने की इच्छा होती है। यह तो कुम्हार निश्चय करता है। इस ईक्षण से ही घड़ा बनता है अथवा सुराही बनती है। यह बात चुम्बक में नहीं होती और न ही चुम्बक से लोहे में आती है।

चुम्बक में एक ही कार्य करने की शक्ति है। यह लौह कण को खींच लेता है। बस, और यह भी नहीं कि लौह कण खींचकर किसी दूसरी ओर जाने की बात बन जाये। निश्चित दिशा में ही जाने की बात होती है। यह चुम्बक का उदाहरण कुलाल अथवा घोड़े के कार्य का वर्णन नहीं कर सकता।

अतः जहाँ नास्तिक की युक्ति को तो स्वामीजी ने त्रैतवाद का आश्रय ले खण्डन कर दिया है, वहाँ अपने पक्ष को कि जीवात्मा नहीं है, असिद्ध कर दिया।

अतः सूत्रार्थ यह है कि जैसे प्रधान बिना चेतन (परमात्मा) के जगत्-रचना नहीं कर सकता, इसी प्रकार प्रधान में अपनी प्रवृत्ति से भी लोकरचना नहीं हो सकती।

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥३॥

पयः + अम्बुवत् + चेत् + तत्र + अपि + (न)।

चेत् = यदि कहो। पयः = दूध। अम्बुवत् = जल की भाँति। तत्र + अपि = वहाँ भी (नहीं)।

पूर्व सूत्रवत् यहाँ भी न (नहीं) पूर्व के सूत्रों की पुनरावृत्ति है। इसका अभिप्राय यह है कि माता के स्तनों से दूध बच्चे को देख स्वतः बहने लगता है। अथवा नदी, नालों में जल स्वतः बहता रहता है। इसी प्रकार प्रधान से स्वतः जगत् की रचना होती है।

ऐसा जड़वादी कहते हैं, परन्तु इनमें भी चेतन का सहयोग है। बिना माता में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवात्मा (चेतन तत्त्व) के विद्यमान हुए स्तनों से दूध नहीं स्रवित हो सकता। इसी प्रकार जगत्-रचना भी प्रधान से स्वतः नहीं हो सकती बिना चेतन (परमात्मा) के सहयोग से।

कैसे चेतन से जल का बहना और माँ के स्तन से दूध का बहना सम्भव होता है ? यह इस तरह कि माँ चेतन होती है और बच्चे के समीप होने अथवा बच्चे के दूध के लिए रोने का अनुभव माँ को होता है। तभी माँ के स्तनों से दूध स्रवित होने लगता है। स्त्री के शव के स्तनों से दूध नहीं बहता। न ही जल समतल स्थान पर बहता है। यह ऊँचाई से नीचे की ओर ही जाता है और जल ऊँचाई पर ले जाने के लिए ईश्वरीय शक्ति, जो सूर्य में है, की आवश्यकता पड़ती है। बिना ऊँचाई पर गये जल नीचे को बह नहीं सकता।

इसी कारण सूत्र में कहा है 'तत्रापि' (न) वहाँ भी यह प्रधान का कार्य नहीं। चेतन का सहयोग होता है।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥४॥

व्यतिरेक+अनवस्थितेः+च+अनपेक्षत्वात्।

व्यतिरेक+अन्अवस्थितेः=उलट धर्म की न अवस्थिति में। अनपेक्षत्वात्= अन् अपेक्षा की स्थिति होने से। अर्थात् किसी चेतन के सहायता के बिना प्रधान कारण नहीं हो सकता।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रधान जड़ है और जड़ पदार्थों में हम देखते हैं कि वे एक अवस्था में ही रहते हैं। अर्थात् खड़े हैं तो खड़े ही रहते हैं। चलते हैं तो चलते ही रहते हैं, जब तक विपरीत शक्ति का प्रयोग न हो और शक्ति चेतन का प्रतीक है।

इसी सिद्धान्त का निरूपण सूत्रकार के सहस्रों वर्ष उपरान्त सर आइज़क न्यूटन ने सन् १६८७ में ('गति के नियमों' में) प्रकाशित किया था। गति का प्रथम नियम (1st-Law of Motion) इस प्रकार है—

"Every particle of matter continues in a state of rest or motion with constant speed in a straight line unless compelled by a force to change that state."

इसका अर्थ है कि प्रकृति का प्रत्येक कण स्थिर स्थिति में पड़ा रहता है अथवा एक ही गति से तथा एक ही दिशा में चलता रहता है, जब तक वह किसी विपरीत शक्ति से स्थिति बदलने के लिए विवश न हो जाये।

सूत्रकार भी यही बात कहता है कि विपरीत प्रवृत्ति में नहीं हो सकता जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक कि चेतन की अपेक्षा न हो।

नास्तिक कहते हैं कि प्रवृत्ति से रचना हुई है। तो इसके विपरीत कार्य (प्रलय) नहीं हो सकती जब तक किसी चेतन की अपेक्षा (प्रभाव) न मान लिया जाये।

प्रकृति एक ही दिशा में गतिमान अथवा अचल अवस्था में रह सकती है। यदि यह कार्य-जगत् का निर्माण करती है तो फिर विघटन नहीं कर सकती।

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥५॥

अन्यत्र + अभावात् + च + न + तृण + आदिवत्।

अन्यत्र = दूसरे स्थान पर। अभावात् = अभाव से। च = और। तृणादिवत् = तिनकों इत्यादि की भाँति। न = नहीं हो सकता।

घास से गाय में दूध बनता है। इसी प्रकार अभाव से कार्य-जगत् क्यों न माना जाये? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। तृणादि भी बिना चेतन (गाय) की सहायता के दूध में परिवर्तित नहीं हो सकते।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥६॥

अभ्युपगमे + अपि + अर्थ + अभावात्।

अभ्युपगमे = स्वीकार करने पर। अपि = भी। अर्थ अभावात् = प्रयोजन के अभाव से (प्रकृति जगत्-रचना का कारण नहीं हो सकती)।

अभिप्राय यह है कि प्रकृति जड़ होने से किसी प्रकार का प्रयोजन अपने कर्म में नहीं रख सकती। प्रयोजन चेतना के होने से ही बनता है। अतः यदि यह मानें कि अचेतन प्रधान जगत् की रचना करता है तो प्रश्न होगा कि क्यों? जब किसी कार्य में प्रयोजन नहीं तो वह कार्य भी नहीं होता।

ऊपर की युक्तियों से यह सिद्ध किया जा चुका था कि प्रधान सृष्टि-रचना नहीं कर सकता। अब यह कहा है कि यदि नास्तिकों का यह कहा मान भी लें तब भी प्रकृति में जगत्-निर्माण के लिए कोई प्रयोजन न होने से (जगत्-रचना) नहीं मानी जा सकती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥७॥

पुरुष + अश्मवत् + इति + चेत् + तथा + अपि ।

इतिचेत् = यदि यह कहो । पुरुष + अश्मवत् = पुरुष भी चुम्बक लोहे की भाँति (है) तथापि = तो भी । यह (प्रधान) जगत् का बनाने वाला नहीं है ।

पुरुष एक-दूसरे का आश्रय ले अपने किसी अभाव की पूर्ति कर लेते हैं । जैसे अंधा और लंगड़ा एक दूसरे का आश्रय लेकर यात्रा कर लेते हैं । लंगड़ा अंधे के कन्धे पर चढ़कर अंधे को मार्ग दिखाता हुआ यात्रा कर सकता है । इसी प्रकार प्रधान का एक अंग अपने अभाव की पूर्ति दूसरे का आश्रय लेकर कर लेता है और जगत्-रचना में सफल हो जाता है । सूत्रकार कहता है कि इसपर भी बिना किसी चेतन के सहयोग के न देखने वाला देख सकता है और न चलने वाला चल सकता है ।

इसी प्रकार चुम्बक और लौह की बात है । चुम्बक आकर्षण तो करता है, परन्तु यह एक ही दिशा में करता है और फिर काल तथा विधि का निर्णय नहीं कर सकता । इसके लिए भी चुम्बक को लाने, उसे दिशा विशेष में रखने और लाने के समय निश्चय करने में चेतन ही सक्षम है । चुम्बक स्वयं नहीं ।

अतः, सूत्रकार कहता है कि यह युक्ति और उदाहरण भी प्रधान की रचना में कारण होने में सहायक नहीं ।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८॥

च + अङ्गित्व + अनुपपत्तेः ।

और अङ्गित्व भाव के न सिद्ध होने से ।

यह माना जाता है कि प्रकृति के परमाणुओं के तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रधान है । इनकी साम्यावस्था भंग होने से जगत् की रचना होती है । यह भंग स्वयं होना सिद्ध नहीं । इस कारण प्रधान जगत् का निमित्त कारण नहीं ।

प्रश्न यह है कि परमाणुओं में तीनों गुणों की साम्यावस्था भंग कैसे होती है ? क्या गुण न्यूनाधिक हो जाते हैं ? यह हो नहीं सकता । अतः प्रकृति के विषय में कहा जा सकता है कि प्रधान जगत् की रचना कर नहीं सकता ।

स्वामी शंकराचार्य ने सूत्र के अर्थ तो ठीक किये हैं, परन्तु सूत्र की विवेचना अशुद्ध है । यह सांख्य का ठीक ज्ञान न होने से ऐसा कहा गया है । प्रधान परमाणुमय है । प्रत्येक परमाणु में तीनों गुण परस्पर साम्यावस्था में होने से एक-दूसरे के प्रभाव को विलीन करते रहते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्यावस्था भंग होने के समय ये न्यूनाधिक नहीं होते, वरन् उन गुणों का प्रभाव परस्पर न रहकर पूर्व निर्दिष्ट (सू० २-१-१९ के भाष्य) के अनुसार बाहर की ओर हो जाता है। यह प्रभाव की दिशा बदलने से परमाणु में गुणों की साम्यावस्था भंग होती है।

साम्यावस्था भंग होती है, गुण भंग नहीं होते। गुण तो उसी मात्रा में रहते हैं। उनका आकर्षण-विकर्षण (attraction and repulsion) का प्रभाव परस्पर न रहकर बाहर दूसरे परमाणुओं के विपरीत गुणों पर होने लगता है; अतः द्वयणुक, त्र्यणुक इत्यादि बनने लगते हैं।

सूत्र का भाव यह है कि यह 'अङ्गत्व' अर्थात् परमाणु के गुणों के प्रभाव में पृथकता होने से जगत् बनता अवश्य है, परन्तु इस प्रभाव को पृथक् करने वाला चेतन है। यह परमाणु स्वयं नहीं हो सकता।

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥९॥

अन्यथा+अनुमितौ+च+ज्ञशक्तिवियोगात्।

अन्यथा=अन्य प्रकार से। अनुमितौ=अनुमान करने पर। च=भी। ज्ञशक्तिवियोगात्=ज्ञान शक्ति के वियोग अर्थात् अभाव से।

पूर्व सूत्र में यह बताया गया है कि परमाणु के अंगों (गुणों) में साम्यावस्था भंग होने से सृष्टि आरम्भ होती है और उसे भंग करने वाली कोई चेतन शक्ति होनी चाहिए। वह चेतन शक्ति परमात्मा ही है।

इस सूत्र में यह कहा गया है कि एक अन्य प्रकार से भी उसी परिणाम पर पहुँचा जा सकता है। अनीश्वरवादी अर्थात् जड़वादी यह मानते हैं कि प्रधान से सृष्टि की रचना हुई है और वे अनुमानों से इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि परमाणुओं में सत्त्व, रज, तम गुणों की साम्यावस्था भंग होने से रचना होती है। परन्तु यह रचना एक प्रकार से सुव्यवस्थित और हितकर काम कर रही है। अतः यह रचना किसी अज्ञानी द्वारा नहीं हो सकती। जब हम रचना किसी ज्ञानवान् के आश्रय से मानते हैं तो यह प्रधान, जो जड़ है, नहीं मान सकते। अतः ज्ञानवान् शक्ति के द्वारा इस जड़ प्रकृति में क्रिया होने से यह कार्य-जगत् बना है।

यह अनुमान कि प्रधान ही इस जगत् का निमित्त कारण है, असिद्ध है। क्योंकि वर्तमान जगत् का निर्माण ऐसी कुशलता से हुआ है कि बिना किसी ज्ञानवान् शक्ति के यह सम्भव नहीं होता।

अतः सूत्रार्थ इस प्रकार है। उक्त युक्तियों के अतिरिक्त भी (प्रकृति में) ज्ञान का अभाव होने से (प्रकृति जगत्-रचना में कारण नहीं)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥१०॥

विप्रतिषेधात्+च+असमञ्जसम् ।

विप्रतिषेधात्=परस्पर विरोध के होने से। च=भी। असमञ्जसम्=अयुक्तिसंगत है।

और परस्पर विरोध होने से असमञ्जस है।

असमञ्जस का अर्थ है अयुक्तिसंगत। परस्पर विरोध, किनमें ? परमात्मा में और कार्य-जगत् में। यह विरोध (मानने से) परमात्मा को जगत् का उपादान कारण मानने में असमंजस है। अर्थात् युक्तियुक्त नहीं। अथवा रचना और प्रलय में विरोध है। अतः प्रधान को रचना करने वाला मानें तो असमंजस होगा।

साथ ही यदि परमात्मा को सृष्टि का उपादान कारण मानें तो यह भी अयुक्तिसंगत होगा। परस्पर विरोध से (गुणों में विरोध से)।

इस प्रकार प्रधान से स्वतः सृष्टि-रचना मानें तो असमंजस है। प्रधान के जड़ होने से। इस प्रकार यह जगत् न तो प्रधान से स्वतः बना है और न ही परमात्मा इसका उपादान कारण है।

अतः यह मानना पड़ेगा कि जगत् का उपादान कारण विशिष्ट (मूल) गुणों में कार्य-जगत् के समान होना चाहिए। अतः प्रकृति कार्य-जगत् का उपादान कारण है; दोनों जड़ होने से समान हैं।

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥११॥

महत्+दीर्घवत्+वा+ह्रस्व+परिमण्डलाभ्याम् ।

महत् से दीर्घ की भाँति अथवा ह्रस्वमय परिमण्डलों से।

इससे क्या ? सृष्टि-रचना होती है।

महत् से दीर्घ बनते हैं, जब परमाणु के गुणों की दिशा बदलती है। जब ये परस्पर निःशेष करने के स्थान बहिर्मुख हो जाते हैं, तब परमाणु परस्पर आकर्षण करते हैं और निबन्धन बन जाते हैं। पहले तीन प्रकार के निबन्धन बनते हैं। तदनन्तर इन निबन्धनों से जिन्हें आपः कहते हैं परिमण्डल बन जाते हैं। यही यहाँ कहा है कि गुणों के बहिर्मुख होने पर आकर्षण से बृहत् बृहत परमाणु इकट्ठे हो जाते। इनको आपः कहते हैं (ऋ० १-१६८-३) वैसे ही ह्रस्व—छोटे-छोटे निबन्धनों से परिमण्डल (atom) बन जाते हैं।*

महत् से दीर्घ की भाँति अथवा ह्रस्व आदि से।

---

* विस्तृत विवेचना के लिए पढ़ें लेखक का सांख्य दर्शन सरल सुबोध भाषा-भाष्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे ह्रस्व महत् से दीर्घ परमाणुओं के निबन्धन बनते हैं, वैसे ही ह्रस्व निबन्धनों से परिमण्डल बनते हैं।

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥१२॥

उभयथा+अपि+न+कर्म+अतः+तत्+अभावः।

उभयथा=दोनों प्रकार से। अपि=भी। न=नहीं। कर्म=क्रिया। अतः =इसलिए। तत् अभावः=उसका अभाव।

अभिप्राय यह है कि दोनों प्रकार से अर्थात् महत् से दीर्घ तक और ह्रस्वों से परिमण्डलों तक परिवर्तन होने में भी कर्म नहीं हो सकता। अतः उस (कर्म) का अभाव है।

यहाँ कर्म से अभिप्रायः सृष्टि-रचना तथा प्राणी की रचना से है।

सूत्रकार का अभिप्राय है द्व्यणुक, त्र्यणुक इत्यादि बनने से और ह्रस्व के परिमण्डल बनने से भी कर्म नहीं होता। अर्थात् सृष्टि की रचना नहीं होती और प्राणी नहीं बनते।

यदि आजकल की वैज्ञानिक भाषा में लिखें तो उक्त सूत्र का अर्थ बनता है—आदि प्रकृति (primordial matter) से परिमण्डल (atoms) के बनने तक कर्म नहीं होता और (प्राणी) सृष्टि नहीं होती।

प्राणी सृष्टि कब होती है? सूत्रकार अगले सूत्र में वर्णन करता है।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥१३॥

समवाय+अभि+उपगमात्+च+साम्यात्+अनवस्थितेः।

समवाय=सम्पर्क। अभ्युपगमात्=समीप आ जाने से। च=और। साम्यात्=समान होने से। अनवस्थितेः=अव्यवस्थित हो जाने से।

समवाय का अभिप्राय है सम्पर्क हो जाने से। कैसे सम्पर्क होता है? अभ्युपगमात् का अर्थ है समीप आ जाने से।

किनके समीप आ जाने से और किनका सम्पर्क हो जाने से? साम्यात् का अर्थ है समान होने से। अर्थात् दो समान स्थिति के पदार्थों के सम्पर्क में आने से उनमें अव्यवस्था अर्थात् अवस्था में भेद आ जाता है। अव्यवस्था का अभिप्राय है पूर्व अवस्था भंग हो जाना। आशय यह है कि वह प्रक्रिया जो प्रकृति से परिमण्डलों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक हुई थी, वह समाप्त हुई और नयी प्रक्रिया आरम्भ हुई। वह यह कि समान पदार्थ समवाय (सम्पर्क) में आये जिनकी ओर पूर्व सूत्र में संकेत किया गया है।

पूर्व सूत्र में यह लिखा था कि महत् से दीर्घों के बनने पर भी और ह्रस्वों से परिमण्डल बनने पर भी कर्म अर्थात् सृष्टि-रचना नहीं होती। अब इस सूत्र में लिखा है कि सृष्टि-रचना तब होती है जब दो समान स्थिति के पदार्थ सम्पर्क में आते हैं।

दो समान स्थिति के पदार्थ हैं जीवात्मा और प्रकृति। दोनों को परमात्मा से हेय वर्णन किया है। यद्यपि दोनों परस्पर समान नहीं, इस पर भी परमात्मा से गुणों में दोनों निम्न हैं। जीवात्मा और प्रकृति जब सम्पर्क में आते हैं तो सृष्टि की रचना होने लगती है।

इस सूत्र का यह भी अर्थ बनता है कि महत् से परिमण्डल तक बनने में सृष्टि रचना नहीं होती। रचना तो परिमण्डल (atom) बनने के उपरान्त ही आरम्भ होती है।

वर्तमान विज्ञान भी यह मानता है कि ऐटम ही वे इकाइयाँ हैं जिनसे सृष्टि के सब पदार्थ बनते हैं। परिमण्डल से ऐटम का ही अभिप्राय: है। ऐटम में परिमण्डलीय गति देखी जाती है।

इस सूत्र में 'च' पूर्व के सूत्र से सम्बन्ध बताने के लिए है। इन दोनों सूत्रों से यह अभिप्राय प्रकट होता है कि प्रकृति के परिवर्तनों से प्राणी की सृष्टि नहीं होती। यह सृष्टि तब होती है जब इस परिवर्तित हो रही प्रकृति से जीवात्मा सम्पर्क में आते हैं।

स्वामी शंकराचार्य कर्म का अर्थ मानते हैं। परमाणुओं का संयोग-वियोग और वह समझते हैं कि यह संयोग-वियोग नहीं हो सकता जब तक कि परमाणुओं की समीप आकर सम्पर्क बनाने की स्थिति न हो।

यह भी ठीक है, परन्तु कर्म में यदि परमाणुओं का संयोग-वियोग ही लें तो वह तो महत् से दीर्घ बनने के समय भी होते हैं। परन्तु उसे कर्म नहीं माना। अतएव कर्म से अभिप्राय सृष्टि-उत्पत्ति में एक से अधिक का सम्पर्क में आना होता है।

नित्यमेव च भावात् ॥१४॥

नित्यम्+एव+च+भावात्।

नित्यम्=सदा। एव=ही। च=और। भावात्=होने से।

पूर्व सूत्र में लिखा है कि सृष्टि की रचना होती है (**अव्यवस्थितेः**) अव्यवस्था की स्थिति होने से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम पहले कह आये हैं कि रचना से पूर्व की स्थिति से दूसरी स्थिति होने का नाम अव्यवस्था है। ऐसा क्यों होता है ? यह इस सूत्र में लिखा है कि सदा रहने वाली स्थिति में होने से कर्म नहीं होता। यदि जीवात्मा और प्रकृति जिन्हें परस्पर सम्पर्क में आना है, अपनी नित्य की अर्थात् स्वाभाविक स्थिति में रहें तो कर्म (सृष्टि-रचना) के होने की सम्भावना नहीं होती। तब तो जैसा (कारण रूप) था, वैसा ही रहेगा। अतः सम्पर्क होने से और स्थिति बदलने से सृष्टि होती है।

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥१५॥

रूपादिमत्त्वात्+च+विपर्ययः+दर्शनात्।

रूपादि गुणों वाला होने से और उल्टे व्यवहार के दिखायी देने से।

सृष्टि में सम्पर्क न बनने से रचना नहीं होती। स्थिति में परिवर्तन होता है। स्थिति को नित्य नहीं माना जा सकता। स्थिति क्यों नित्य नहीं ? उसका कारण इस सूत्र में बताया है।

रूपादि वाले सब पदार्थ उलटते अर्थात् बनते और बिगड़ते दिखायी देते हैं। सृष्टि अव्यक्त से नहीं हुई। यह तब हुई जब परिमण्डल बन गये और परिमण्डल रूपादि गुणों वाले होते हैं। इससे उलट परिवर्तन भी होते हैं। रूपादि बने हैं और बनी स्थिति उलट अर्थात् विनष्ट भी होती है। फलतः स्थिति बदलती रहती है। इसी से सृष्टि सम्भव है।

यहाँ भी सृष्टि से प्राणियों की रचना का ही अभिप्राय है। परन्तु स्वामी शंकराचार्य यहाँ भी अपने पूर्वग्रहों में फँसे हुए वैशेषिक-दर्शन की निन्दा करने से नहीं चूके। वास्तव में कणाद के वैशेषिक-दर्शन की मूल बात को न स्वीकार कर उस पर टीका-टिप्पणी करने का यह एक मिथ्या प्रयास है। इस पर भी स्वामीजी ऐसा करते हैं।

वैशेषिक-दर्शन सृष्टि क्रम में उस भाग की विवेचना करता है जो विशेषों से सम्बद्ध है। परमाणु तो प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों को कहते हैं। वैशेषिक में वर्णित विशेषों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण को परमाणु नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि सृष्टि-रचना की जिस अवस्था से वैशेषिक का आचार्य आरम्भ करता है, वह परिमण्डल की स्थिति है।

यह नहीं कि वह परिमण्डल से पूर्व की स्थिति मानता ही नहीं। वह मानता है, परन्तु उसका सामान्य रूप में वर्णन कर वह विशेषों का ही वर्णन करता है।

देखिये, स्वामी शंकराचार्यजी इस सूत्र के भाष्य में क्या लिखते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानां यतः परो विभागो न संभवति ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिकस्यारम्भका नित्याश्चेति यद्वैशेषिका अभ्युगच्छन्ति स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव। यतो रूपादिमत्त्वात्परमाणुनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः प्रसज्येत।

(क्रम से) विभज्यमान सावयव द्रव्यों का जहाँ से आगे विभाग नहीं हो सकता, वे चार प्रकार के रूपादि युक्त परमाणु रूपादि विशिष्ट चार प्रकार के भूत और भौतिक के आरम्भक हैं और नित्य हैं, ऐसा वैशेषिक स्वीकार करते हैं। उनका ऐसा स्वीकार करना निरालम्बन व निराधार है; क्योंकि रूपादि विशिष्ट होने से परमाणुओं को अणुत्व और नित्यत्व के विपर्यय (स्थूलत्व) और अनित्यत्व) की प्रसक्ति होगी।

जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि रूपादि वाले पदार्थ नित्य नहीं होते, ठीक है, परन्तु परमाणु रूप वाले हैं और चार रूपों वाले हैं, यह बात स्वामीजी ने कहाँ से लाकर यहाँ डाल दी है, कहा नहीं जा सकता।

जो आपने उक्त भाष्य के प्रमाण में उद्धरण दिये, उनसे यह अर्थ नहीं निकलते। आपने वैशेषिक सूत्र (४-१-१, ५, १४) का प्रमाण दिया है। हम इन प्रमाणों को तथा इस अध्याय के पूर्ण आह्निक (४-१) को ही यहाँ लिख देना चाहते हैं जिससे सर्वथा स्पष्ट हो जाए कि महर्षि कणाद ने वह कुछ नहीं लिखा, जिसे स्वामीजी उनके नाम से प्रसिद्ध कर रहे हैं।

देखिए वैशेषिक सूत्र चतुर्थ अध्याय प्रथम आह्निक इस प्रकार आरम्भ होता है—

सदकारणवन्नित्यम्॥ (वै० द० ४-१-१)

सत्+अकारणवत्+नित्यम्।

सत् (प्रकृति) अकारण पदार्थों की भाँति नित्य है। अकारण पदार्थ तीन हैं— परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। सत् (प्रकृति) भी अन्य दोनों की तरह नित्य है।

वास्तव में स्वामी शंकराचार्य का इसमें मतभेद हैं, परन्तु अपने पूर्ण वेदान्त भाष्य में वह इसके विपरीत कुछ भी प्रमाण नहीं दे सके और अपनी असिद्ध स्थिति को सिद्ध करने के लिए वह जो कुछ लिख रहे हैं, उसका अस्तित्व ही नहीं।

इस सूत्र में प्रकृति को लिखा है कि वह सत् है और परमात्मा जीवात्मा की भाँति नित्य है। ऐसा अन्य शास्त्रों में भी लिखा गया है। श्वेताश्वतर (१-९, १० १२) और (४-५) में भी लिखा है।

दूसरा सूत्र है—

तस्य कार्यं लिङ्गम्॥ (वै० द० ४-१-२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत् प्रकृति का लिङ्ग कार्य-जगत् है।

'असत् से सत् नहीं होता' यह उपनिषद् वाक्य है, अर्थात् जगत् का अस्तित्व है। अतः इसका कारण भी सत् है।

सत् का लिंग (लक्षण) है कार्य-जगत्। लिंग का अभिप्राय हम बता चुके हैं। जैसे धुआँ अग्नि का लिंग है; इसी प्रकार कार्य-जगत् प्रकृति का लिंग है। कार्य-जगत् को देखकर हम प्रकृति के होने का अनुमान लगाते हैं।

इसमें भी परमाणु चार रूप वाले हैं, कहीं नहीं लिखा।

अगला सूत्र है—

कारणाभावात् कार्याभावः ॥ (वै० द० ४-१-३)

कारण के न होने से कार्य भी नहीं हो सकता।

कारण का अभाव मानोगे तो कार्य का भी अभाव होगा, अर्थात् कार्य है तो कारण भी है। यह बात उपनिषद् में भी लिखी है कि 'असत् से सत् नहीं हो सकता।' इसमें भी परमाणु चार रूप वाले हैं, नहीं लिखा।

अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥ (वै० द० ४-१-४)

अनित्य + इति + विशेषतः + प्रतिशेधभावः।

अनित्य = अनित्य होने से। इति = यह। विशेषतः = विशेष रूप से। प्रतिषेधभावः = खण्डन हो गया।

जगत् को हम अनित्य (टूट-फूट जाने वाला) देखते हैं। इससे जगत् का नित्य होना असिद्ध होगा।

प्रकृति → महत् → अहंकार → [इन्द्रियाँ और मन / सूक्ष्मभूत, तन्मात्राएँ } स्थूलभूत]

स्थूलभूत, इन्द्रियाँ } शरीर

शरीर, जीवात्मा } प्राणी

प्रकृति, महत् और अहंकार तो अविशेष कहलाते हैं। सृष्टि-रचना में इसके उपरान्त विशेष कहलाते हैं, अर्थात् मन, इन्द्रियाँ, पंच महाभूत और प्राणी विशेष हैं। ये विशेष अनित्य हैं।

यहाँ भी परमाणु चार प्रकार के वर्णित नहीं हैं। अगला सूत्र है—

अविद्या ॥ (वै० द० ४-१-५)

जो अनित्य है वह अविद्या है। अविद्या का अर्थ है जो सदा विद्यमान नहीं रहता।

महत्यनेकद्रव्यवत्वात् रूपाच्चोपलब्धिः ॥ (वै० द० ४-१-६)

महति + अनेक + द्रव्यत्वात् + रूपात् + च + उपलब्धिः।

और महत् से अनेक द्रव्यों के रूपों की उपलब्धि होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिप्राय यह कि महत् से जो अनेक द्रव्य उत्पन्न होते हैं, उनमें द्रव्यत्व आने पर रूप भी उत्पन्न हो जाता है।

स्पष्ट है कि रूपादि गुण विशेषों में उत्पन्न होते हैं, महदादि में नहीं। परमाणुओं से रूप उत्पन्न नहीं होते।

इनकी पुष्टि निम्न सूत्र में कर दी गयी है—

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः ॥

(वै० द० ४-१-७)

सति+अपि + द्रव्यत्वे + महत्त्वे+रूपसंस्कार+अभावात्+वायोः+ अनुपलब्धिः।

महत्त्वे=महत् में से उत्पन्न परिणाम स्वरूप। सति=होने वाला। द्रव्यत्व =द्रव्यपन। अपि=भी। रूप संस्कार अभावात्=रूप और संस्कार न रखने से। वायोः+अनुपलब्धिः=वायु की अनुपलब्धि (अनुपस्थिति) प्रकट करती है।

इसका अर्थ है कि महत् में से होने वाले द्रव्यत्व में वायु न होने से रूप संस्कार नहीं होते।

अर्थात्—महत् से उत्पन्न होने वाले हैं अहंकार। अहंकार का भी रूप और संस्कार नहीं होता। संस्कार का अभिप्राय है पदार्थ के व्यक्त होने की स्थिति। यह इस कारण कि इनमें वायु का अभाव होता है। वायु वह शक्ति है जिससे गति उत्पन्न होती है। अहंकार में गति न होने से द्रव्यत्व में रूप और संस्कार (इन्द्रियों के विषय) नहीं होते।

वायु कब आता है? जब अहंकार परस्पर के आकर्षण-विकर्षण से परिमण्डल के रूप में आते हैं तब वैकारी और भूतादि अहंकारों के चारों ओर तेजस् अहंकार चक्कर काटने लगते हैं। यह इनमें वायु के संचार से होता है और गति के कारण रूप, रंग उत्पन्न होने लगते हैं।

अगले सूत्र में लिखा है—

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥

(वै० द० ४-१-८)

अनेक+द्रव्य+समवायात्+रूपविशेषाच्च+रूपोपलब्धिः।

अनेक द्रव्यों के संयोग (सम्पर्क) से रूप-विशेष होते हैं और उनका ज्ञान होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि महत् से अनेक द्रव्य उत्पन्न होते हैं। अविशेषों में वायु के अभाव से रूप उत्पन्न नहीं होता। रूप उत्पन्न तब होता है जब वायु के कारण उनमें गति होने लगती है और उनमें संयोग होता है। रूप से ही वे विशेष कहलाते हैं।

अगला सूत्र है—

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ (वै० द० ४-१-९)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेन—उससे अर्थात् वायु और गति से, रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान होने लगता है, ऐसा व्याख्यान किया (कहा) गया है।

तस्याभावादव्यभिचारः ॥ (वै० द० ४-१-१०)

तस्य+अभावात्+अव्यभिचारः।

उसके अभाव से (अव्यभिचारः) दोष नहीं।

अभिप्राय यह है कि उस वायु एवं गति के अभाव में दोष नहीं। क्या दोष नहीं? अभिप्राय यह कि पदार्थ बनेंगे ही नहीं। परिमण्डल बनते ही नहीं। रूप एवं संस्कार उत्पन्न नहीं होते।

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौपरत्वापरत्वे कर्म च रूप द्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि ॥ (वै० द० ४-१-११)

संख्या+परिमाणानि+पृथक्त्वं+संयोगविभागौ+परत्वापरत्वे+कर्म+च+रूप+द्रव्यसमवायात्+चाक्षुषाणि।

संख्या और परिणाम, संयोग और विभाग (पृथक्-पृथक् होना), दूर होना अथवा समीप होना और कर्म (व्यवहार) और रूप का द्रव्य में संयोग नेत्रों को दिखायी देने लगता है।

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥ (वै० द० ४-१-१२)

अरूपिषु+अचाक्षुषाणि।

जिनका रूप नहीं होता, वे इन्द्रिय-गोचर नहीं होते। और यह इस आह्निक का अन्तिम सूत्र है।

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ (वै० द० ४-१-१३)

एतेन+गुणत्वे+च+भावे+सर्वेन्द्रियम्+ज्ञानम्+व्याख्यातम्।

इससे गुणत्व और भाव में सब इन्द्रियों से ज्ञान होना कहा गया है।

वैशेषिक सूत्रों के इस पूर्ण आह्निक को देने का अभिप्राय यह है कि यह दिखाया जाये कि वैशेषिक दर्शन के इस प्रसंग में परमाणु को रूप इत्यादि वाला कहीं भी नहीं कहा गया।

रूपादि उत्पन्न तब होता है जब महत् से अनेक परिणाम बनकर, वायु से उनमें गति उत्पन्न होकर परिमण्डल बन जाते हैं। इससे पूर्व नहीं। परिमण्डलों की संख्या और संयोग-वियोग से रूप, रस और गन्ध इत्यादि इन्द्रिय के विषय उत्पन्न होते हैं।

परन्तु परमाणु जो मूल प्रकृति के अंश हैं, वे तो रूपादि से पृथक् होते हैं, गति हीन होते हैं और इन्द्रिय-गोचर नहीं होते। उन्हें अव्यक्त कहते हैं।

स्वामीजी अपने भाष्य में लिखते हैं कि वैशेषिक सूत्रों में कणाद का मत है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

…ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिकस्यारम्भका नित्याश्चेति यद्वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव।

(अर्थ हमने ऊपर दे दिए हैं) भावार्थ यह है कि वे जिनका आगे विभाजन नहीं हो सकता, ऐसे परमाणु रूपादि के विचार से चार प्रकार के वैशेषिक वाले मानते हैं। यह कथन निराधार है।

हमारा कहना है कि यह बात वैशेषिक-दर्शन में मानी ही नहीं गयी।

किसी ने अपने को वैशेषिक का विद्वान् मान कुछ ऐसा लिखा हो तो हम नहीं जानते। हम तो कणाद ऋषि के वैशेषिक-दर्शन की बात ही कह रहे हैं। स्वामीजी भी कणाद ऋषि के वैशेषिक सूत्र का ही प्रमाण देते हैं।

हमने वैशेषिक-दर्शन के चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक का अर्थ और भाव बता दिया है। वहाँ कहीं भी परमाणु को रूप वाला नहीं बताया और न ही चार प्रकार के परमाणु बताये गये हैं।

अतः हमारा यह मत है कि वेदान्त-दर्शन २-२-१५ का अर्थ इस प्रकार ही बनता है—

रूपादि वाले सब द्रव्य बनते और बिगड़ते दिखायी देते हैं। यह 'विशेषों' के विषय में ही लिखा है।

उभयथा च दोषात् ।।१६।।

उभयथा+च+दोषात्।

च=और। उभयथा=दोनों प्रकार के कार्य अर्थात् संयोग और वियोग। दोषात्=दोष से (उत्पन्न होते हैं)।

दोष क्या है ? द्रव्यों के सत्त्व, रजस् और तमस् के अविशिष्ट अंश के रह जाने से जो आकर्षण-विकर्षण होता है, वे ही संयोग-वियोग में कारण होते हैं। यही सब हलचल उत्पन्न करते हैं। अतः इनको ही दोष कहा जाता है।

यहाँ हम इस सूत्र पर श्री उदयवीर शास्त्री का भाष्य उद्धृत कर दें तो ठीक रहेगा। आप इस सूत्र का अर्थ और भाष्य इस प्रकार करते हैं—

उभयथा=दोनों प्रकार। च=और। दोषात्=दोष से। तथा दोनों प्रकार दोष से परमाणु नित्य नहीं हैं।

इसी भाष्य में शास्त्रीजी आगे चलकर लिखते हैं—

"तात्पर्य यह कि चार गुणों वाला पृथ्वी परमाणु न्यून गुण वाला जलादि परमाणुओं से स्थूल होना चाहिए। तीन गुण वाला जल का परमाणु उससे सूक्ष्म,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो गुण वाला तेजस् परमाणु सूक्ष्मतर और एक गुण वाला वायवीय परमाणु सूक्ष्मतम होना चाहिए। परमाणुओं की ऐसी ही अवस्था उनकी नित्यता में बाधक है।"

'पृथिवी' के सूक्ष्मतम कण को परमाणु नहीं, अणु कहते हैं। इसी प्रकार जल, अग्नि आदि की बात है। शास्त्रीजी ने स्वयं अपने सांख्य सिद्धान्त में स्वीकार किया है कि मूल प्रकृति के त्रिगुणात्मक संयोग वाले परमाणु हैं। कारण यह कि उससे अधिक सूक्ष्म टुकड़ा हो नहीं सकता।

वैशेषिक में जहाँ कहीं पृथिवी आदि के सूक्ष्मतम कणों का उल्लेख है वहाँ परिमण्डल से ही अभिप्राय है। हमने वै० द० चतुर्थ अध्याय के पूर्ण प्रथम आह्निक का अर्थ बताया है। यह इसी कारण है कि वहाँ रूप, रस और गन्ध वाले द्रव्यों के परमाणु नहीं माने गये।

श्री शास्त्रीजी को बताना चाहिए था कि वह सांख्य परमाणु के विषय में नहीं लिख रहे और वह परमाणु किस प्रमाण से और किस रूप में मानते हैं। अंग्रेजी भाषा के 'ऐटम' को भी अब परमाणु नहीं लिखा जाता। उसे या तो अणु लिखते हैं अथवा रासायनिक परमाणु लिखते हैं। शास्त्रीजी का भाव कदाचित् पृथिवी, जल इत्यादि के सूक्ष्मतम कणों से है। परन्तु यह भेद आपने प्रकट नहीं किया। यही बात स्वामी शंकराचार्य कर रहे हैं और इसी कारण स्वामीजी वैशेषिक सूत्रों को न समझते हुए कणाद महर्षि की हँसी उड़ा रहे हैं।

यहाँ हम बता देना चाहते हैं कि वैशेषिक दर्शन में पृथिवी, जल, अग्नि इत्यादि के परमाणुओं का उल्लेख कहीं नहीं। यदि यह कहा जाये तो और भी ठीक होगा कि पूर्ण वैशेषिक दर्शन में परमाणु शब्द आया ही नहीं। अणु शब्द अवश्य कई स्थानों पर आया है।

श्रीस्वामी शंकराचार्य और उनकी परिपाटी के विद्वान् पृथिवी आदि के परमाणु शब्द का प्रयोग अपने मन से कर रहे हैं।

हमारा यह निश्चित मत है कि न तो सांख्य में और न ही वैशेषिक में पृथिवी आदि के परमाणुओं का उल्लेख है। इनके परमाणु नहीं होते। परमाणु तो प्रकृति के ही होते हैं और प्रत्येक परमाणु त्रिगुणात्मक है।

आश्चर्य इस बात का है कि विद्वद्वर श्री उदयवीर शास्त्री ने परमाणुओं की अनित्यता कैसे मान ली है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

अपरिग्रहात्+च+अत्यन्तम्+अनपेक्षा।

च=और। अपरिग्रहात्=अस्वीकार करने से। अत्यन्तम्=अत्यन्त। अनपेक्षा=अपेक्षा नहीं।

न स्वीकार करने से। क्या न स्वीकार करने से? यही इस सूत्र की कुंजी है। कुछ ऊपर कहा गया है, उसे स्वीकार न करने से यही सिद्ध होता है। ऊपर क्या कहा गया है? ऊपर कहा गया है कि रूपादि वाले पदार्थ बनते-बिगड़ते हैं और रूपादि न रखने वाले पदार्थ अव्यक्त हैं। वे बनते-बिगड़ते नहीं।

और इस बात को जो महानुभाव स्वीकार नहीं करते, वे अत्यन्त अनपेक्षित हैं; अर्थात् उनसे यह आशा नहीं की जानी चाहिए। अतः स्वीकरणीय नहीं है।

इस सूत्र को कुछ भाष्यकारों ने सिद्धान्त पक्ष बताया है और पूर्व के कुछ एक सूत्रों को पूर्व पक्ष मान लिया है। इसका कोई संकेत नहीं और ऐसा मानने में कोई कारण नहीं। सूत्रों का अशुद्ध अर्थ लगाकर उनको पूर्व पक्ष में धकेल देना युक्तिसंगत नहीं।

समुदाये उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥१८॥

समुदाये+उभय+हेतुके+अपि+तत्+अप्राप्ति।

उभय=दो प्रकार से। समुदाये=समागम और वियोग (जैसा कि ब्रह्मसूत्र २-२-१६ में वर्णन किया है) हेतुके=हेतु में। तत्=उसकी। अप्राप्ति=प्राप्ति सिद्ध नहीं होती।

परिमण्डलों में संयोग और वियोग दोनों में हेतु की सिद्धि नहीं होती। इनमें क्या हेतु है? इनका हेतु नहीं हो सकता। कारण यह है कि परिमण्डल संयुक्त होते हैं अथवा उन संयोगों में विभाग होते हैं। इनमें उनका किसी प्रकार का हेतु नहीं होता। वे जड़ होने से हेतुरहित हैं।

वर्तमान सूत्र का भाष्य इस प्रकार है—

परिमण्डलों के समुदायों में दो प्रकार के व्यवहार (संयोग तथा वियोग के) किसी भी हेतु से नहीं हैं। हेतु सिद्ध नहीं होता।

हेतु परिमण्डलों (atoms) में नहीं। हेतु है उन जीवात्माओं को भोग प्राप्त कराना जिनके लिए यह प्रकृति है।

···ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता। (श्वेता० १-९)

अर्थात् एक (प्रकृति) ही है जो भोक्ता (जीवात्मा) के भोग के योग्य है। प्रकृति का अपना कुछ भी हेतु नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥१९॥

इतर + इतर + प्रत्ययत्वात् + इति + चेत् + न + उत्पत्तिमात्र + निमित्तत्वात् ।

इतरेतरप्रत्ययत्वात् = एक दूसरे का कारण होने से । इति चेत् = यदि यह है । न = तो नहीं । उत्पत्ति मात्र निमित्तत्वात् = केवल उत्पत्ति प्रयोजन होने से ।

इस सूत्र का अभिप्राय है कि परिमण्डल समुदाय में संयोग-वियोग में एक-दूसरे का कारण नहीं । यह नहीं कहा जा सकता कि संयोग हुआ था, इस कारण वियोग हुआ; अथवा वियोग हुआ था, इस कारण संयोग हुआ है । ये एक-दूसरे के कारण नहीं । ये दोनों व्यवहार किसी अन्य प्रयोजन से हो रहे हैं और वह प्रयोजन है सृष्टि-रचना ।

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२०॥

उत्तर + उत्पादे + च + पूर्व + निरोधात् ।

और अगले की उत्पत्ति में पहले का विनाश होने से (एक-दूसरे का कारण नहीं) ।

ऊपर (२-२-१९ में) बताया है कि संयोग-वियोग में एक क्रिया दूसरे का कारण नहीं होती । इस सूत्र (२-२-२०) में युक्ति दी है कि जब अगला व्यवहार बनता है तो पहला विनष्ट हो चुका होता है । इससे विनष्ट होने वाले और बनने वाले में कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं । कारण, कार्य में विद्यमान रहता है ।

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२१॥

असति + प्रतिज्ञा + उपरोधः + यौगपद्यम् + अन्यथा ।

असति = न होने पर । प्रतिज्ञा + उपरोधः = प्रतिज्ञा की बाधा है । यौगपद्यम् एक साथ होना होगा । अन्यथा = नहीं तो ।

इसका अभिप्राय यह है कि ऊपर कही बात पर यह आपत्ति हो सकती है कि अगली क्रिया उत्पन्न होने पर पहली विनष्ट नहीं भी हो सकती । सूत्रकार कहता है कि ऐसा मानने से जो प्रतिज्ञा स्वीकार की है, वह विरोधी बन जायेगी । क्या प्रतिज्ञा की है ? पहले का विनष्ट होना दूसरे का निर्माण करता है । जब दूसरे के बनने पर पहले का विनाश ही नहीं होना तो प्रतिज्ञा अर्थात् जो शर्त स्वीकार की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, वह रहेगी ही नहीं। तो वह प्रतिज्ञा छोड़कर यह कहना पड़ेगा कि पहले के रहते-रहते दूसरा बनता है। यह अशुद्ध है।

वास्तव में आपत्ति अथवा शंका करने वाले यह भूल करते प्रतीत होते हैं कि इस स्थान पर मूल (अक्षर) पदार्थ के विनष्ट और निर्माण की बात हो रही है। यहाँ परिमण्डलों के समुदाय में संयोग-वियोग की बात की जा रही है। यह संयोग और वियोग कारण-कार्य के स्तर पर नहीं हैं। उस संयोग और वियोग में मूल (अक्षर) पदार्थ तो सदा बना रहता है जब भिन्न-भिन्न संयोग-वियोग होते हैं।

इस तथ्य को हम रसायनशास्त्र के एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। रसायनशास्त्र का उदाहरण इस कारण ले रहे हैं कि उसमें परिमण्डलों के संयोग-वियोग टूटते तथा बनते हैं।

उदाहरण इस प्रकार है—

तूतिया (जिसका रासायनिक नाम कॉपर सल्फेट है) के जल के घोल में सोडे के जल का घोल डालें तो श्वेत रंग की वस्तु अवक्षेप (prescipitate) के रूप में नीचे बैठ जाती है। यह तब बनती है जब तूतिया और सोडे के अणु विनष्ट हो जाते हैं और सोडा सल्फेट तथा ताँबे का कार्बोनेट बन जाते हैं। इस क्रिया को रसायनवेत्ता इस प्रकार लिखते हैं—

$$CuSO_4 + Na_2CO_3 = CuSO_3 + Na_2SO_4$$

ताँबे का कार्बोनेट है श्वेत रंग का अवक्षेप।

तूतिया (कॉपर सल्फेट) विनष्ट होता है तब श्वेत अवक्षेप बनता है और यह मानना होगा कि इस श्वेत अवक्षेप में तूतिया नहीं है और न ही तूतिया इसका कारण है। एक के विनष्ट होने पर दूसरा बना है।

इस पर भी श्वेत अवक्षेप में ताँबा है, सोडे में विद्यमान कार्बन और आक्सीजन भी है; परन्तु तूतिया नहीं और न ही सोडा है।

उपर्युक्त सूत्र का अभिप्राय यह है कि यहाँ संयोग और वियोगों की चर्चा हो रही है। वियोग हुआ तूतिया में जो नहीं रहा। श्वेत अवक्षेप जिसे कापर कार्बोनेट कहा है, बन गया, तूतिया में विघटन हो गया।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सूत्रों में विशेषों अर्थात् परिमण्डलों के उपरान्त संयोग और वियोगों की बात हो रही है। अतः इस सूत्र में इससे पूर्व सूत्र के कथन की युक्ति दी है कि जब एक द्रव्य के विघटित होने पर दूसरा द्रव्य बनता है तो पहला दूसरे का कारण नहीं माना जा सकता। कारण यह कि दूसरे में पहला विद्यमान नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥२२॥

प्रतिसंख्या+अप्रतिसंख्या+निरोध+अप्राप्तिः+अविच्छेदात् ।

प्रतिसंख्या=विरोधी संख्या । अप्रतिसंख्या=अविरोधी संख्या । (संख्या का सामान्य अर्थ है—गिनती) । निरोध=विनाश । अप्राप्ति=उत्पन्न न होना । अविच्छेदात्=विच्छेद न होने से अर्थात् विखण्डित न होने से ।

सूत्र का अर्थ है कि जब परिमण्डलों के एक समूह में से दूसरे समूह के परिमण्डलों से आदान-प्रदान होता है तो परिमण्डलों का विनाश नहीं होता, परिमण्डलों के विखण्डित न होने से ।

एक बात यहाँ स्मरण रखनी चाहिए । वह यह है कि कुछ भाष्यकार इस दर्शन शास्त्र के प्रत्येक सूत्र में से परमात्मा का भाव निकालने का यत्न करते हैं । यहाँ प्रकृति का विशद वर्णन हो रहा है, अतः संख्या का अर्थ बुद्धि अथवा ज्ञान लगाना सर्वथा असंगत है । संख्या का अर्थ है, संख्या, गिनती (number) ।

दूसरी बात स्मरण रखने वाली यह है कि इससे पूर्व परिमण्डलों का उल्लेख आया है । परिमण्डल उस अहंकार-समूह को कहते हैं जिसमें वे एक दूसरे के चारों ओर चक्कर काट रहे होते हैं । वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में उसका ऐटम (atom) ही नाम है ।

तीसरी बात यह है कि परिमण्डलों के समूह (द्रव्य) बनते और बिगड़ते हैं । परिमण्डलों के समूहों को वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में संयुक्त पदार्थ के अणु (molecules) कहते हैं । प्रत्येक संयुक्त पदार्थ का एक कण मौलिक्यूल कहलाता है ।

चौथी बात यह है कि प्रत्येक परिमण्डल-समूह (molecule) में कई परिमण्डल होते हैं और प्रत्येक परिमण्डल में तीन-तीन अहंकार (वैकारी अहंकार, भूतादि अहंकार और तेजस अहंकार) होते हैं और प्रत्येक अहंकार प्रकृति के अनेक परमाणुओं का समूह होता है ।

वर्तमान सूत्र में यह कहा गया है कि परिमण्डल के समूहों (molecules) में परिमण्डलों (atoms) का आदान-प्रदान होता है और इस आदान-प्रदान में किसी समूह (molecule) में परिमण्डलों की संख्या कम होती है और किसी में संख्या बढ़ जाती है, परन्तु सामूहिक रूप में (collectively) परिमण्डल कम अधिक नहीं होते, क्योंकि परिमण्डलों में विभाग (division) नहीं होता ।

रसायनशास्त्र के जानने वाले उक्त कथन को स्वीकार करेंगे । यह हमारा विचारित मत है कि ब्रह्मसूत्र के इस पाद में रसायनशास्त्र का मूल आधार वर्णन किया गया है ।

एक रासायनिक क्रिया का उदाहरण हमने ऊपर (सू० २-२-२१ में) दिया है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही बात एक अन्य उदाहरण देकर सिद्ध करते हैं ।

नमक के घोल में चाँदी के नाइट्रेट के घोल को मिलाएँ तो एक श्वेत रंग का अवक्षेप (prescipitate) पृथक् होता है । इस क्रिया में जो कुछ होता है, वह इस प्रकार प्रकट किया जाता है—

$$NaCl + AgNO_3 = NaNO_3 + AgCl$$

Na को सोडियम कहते हैं । Cl क्लोरीन कहा जाता है । दोनों के संयोग को सोडियम क्लोराइड (नमक) कहते हैं ।

इससे चाँदी के नाइट्रेट की रासायनिक क्रिया होती है । Ag चाँदी का नाम है । NO_2 नाइट्रेट का संयोग है । इसे नाइट्रेट रेडिकल कहते हैं ।

इन रासायनिक द्रव्यों के मिलने पर नमक के परिमण्डल समूह (NaCl) में से क्लोरीन (Cl) परिमण्डल निकलकर समीप उपस्थित चाँदी के नाइट्रेट $AgNO_3$ परिमण्डल समूह में चला जाता है और चाँदी से संयुक्त हो जाता है । चाँदी और क्लोरीन परिमण्डल परस्पर मिलते हैं । इसी प्रकार नमक परिमण्डल समूह में से सोडियम निकलकर चाँदी नाइट्रेट के नाइट्रेट संयोग ($AgNO_3$) से मिल जाते हैं ।

परन्तु सूत्रकार का कहना है कि परिमण्डलों की कुल संख्या घटती-बढ़ती नहीं । सूत्रकर कहता है कि—

संख्या में अदल-बदल से परिमण्डलों के विनाश की प्राप्ति नहीं होती । इसका कारण है कि परिमण्डलों में टूट-फूट (विच्छेद) नहीं होती ।

हमारा यह सुनिश्चित मत है कि इस वेदान्त दर्शन के सूत्र (२-२-२२) का यही अर्थ है ।

यहाँ स्वामी शंकराचार्य बौद्धों के क्षणभंगुरवाद पर उक्त सूत्र का अर्थ लगाते हैं । हमारा मत है कि इसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं ।

स्वामीजी तथा उनके मतवादी इन सूत्रों का अर्थ नहीं समझ सके । इसमें कारण यह है कि उन्होंने वैशेषिक दर्शन को नास्तिकों का दर्शन मान, उसका भली-भाँति अध्ययन नहीं किया ।

जब प्रकृति के त्रिगुणात्मक परमाणुओं के गुण बहिर्मुखी होते हैं तो पहले महत् (आपः) की सृष्टि होती है । इसमें परमाणुओं के गुण दूसरे परमाणुओं को आकर्षित कर समूह बनने लगते हैं । ये समूह तीन प्रकार के होते हैं—वैकारी, भूतादि और तेजस् अहंकार । तब ये अहंकार आकर्षण-विकर्षण के कारण एक-दूसरे के चारों ओर घूमने लगते हैं और इनकी संज्ञा परिमण्डल हो जाती है । तत्पश्चात् परिमण्डलों के समूह बनते हैं । वे आजकल की वैज्ञानिक भाषा में अणु (Molecules) कहलाते हैं । इन समूहों में अणुओं की संख्या में अदला-बदली होने लगती है । इसको रासायनिक क्रिया (chemical action) कहते हैं । इस आदान-प्रदान में परिमण्डलों (atoms) की संख्या घटती-बढ़ती नहीं । कोई परिमण्डल नष्ट नहीं होता ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण यह कि इन क्रियाओं में परिमण्डल (atoms) में विच्छेद (fission) नहीं होता।

उभयथा च दोषात् ॥२३॥

उभयथा+च+दोषात्।

च=और। उभयथा=दोनों प्रकार से। दोषात्=दोष से।

अर्थात् उक्त परिमण्डलों के समूहों में अदला-बदली—एक समूह से परिमण्डल निकलकर दूसरे समूह में जाना अथवा दूसरे से पहले में आना—दोष के कारण है।

यह दोष क्या है? परिमण्डलों के समूहों (molecules) में अदला-बदली के समय समूह में परिमण्डलों का संगठन ढीला हो गया है। यह दोष कहलाता है। ढीला होने पर पूर्वोक्त सत्त्व, रजस् इत्यादि समूह में प्रकट होने लगता है।

ढीलापन कैसे आता है? इसमें उक्त उदाहरण ही लेंगे। जब जल में नमक का घोल बनाया जाता है तो सोडियम और क्लोरीन के परिमण्डलों का परस्पर सम्बन्ध ढीला पड़ जाता है। इसे वर्तमान युग की रासायनिक भाषा में आयोनाईजेशन (Ionization) कहते हैं। इस घोल में चाँदी के नाइट्रेट का घोल मिलाते हैं। इसमें चाँदी और नाइट्रेट संयोग के आयन (ions) भी पृथक्-पृथक् होते हैं। वह पृथकता ही दोष है और इससे रासायनिक क्रिया होती है।

$Na^{\cdot}$ मिलता है NO_3' के साथ।

और $Ag^{\cdot}$ मिलता है Cl' के साथ। (·) बिन्दु और (') चिह्न धन और ऋण विद्युत् प्रकट करने के लिए हैं। इसे दार्शनिक भाषा में सत्त्व और रजस् स्वीकार किया गया है।

एक अघुलनशील पदार्थ है और वह अवक्षेप के रूप में पृथक् हो जाता है। अतः अधिक और अधिक परिमण्डल समूह (molecules) बनते चले जाते हैं।

यही अभिप्राय है दोषों से। जब घोल बनता है तो आयन (ions) बनने के कारण परिमण्डल समूहों में दोष आ जाता है।

अतः सूत्रार्थ है कि दोनों प्रकार से; अर्थात् परिमण्डलों के आदान-प्रदान दोषों (ionization) के कारण होता है।

सूत्र २-२-१६ भी सर्वथा यही है; अर्थात् सूत्र २-२-२३ के समान ही है। सूत्र २-२-१६ है 'उभयथा च दोषात्'। हमने सूत्रार्थ भी समान ही किये हैं। वहाँ भी हमने यही अर्थ लिखे हैं; अर्थात् 'और दोनों प्रकार के कार्य दोष से उत्पन्न होते हैं।' दोनों में दोष का एक ही अर्थ है। सूत्रसंख्या (२-२-१६) में दोष है। द्रव्यों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्त्व, रजस् एव तमस् के अवशिष्ट अंश का रह जाना दोष है और उसीसे आकर्षण-विकर्षण उत्पन्न होते हैं। यहाँ वर्तमान सूत्र (२-२-२३) में भी सत्त्व, रजस् इत्यादि का दोष प्रकट होने लगता है। इसे वैज्ञानिक भाषा में आयन का चार्ज (electric charge on ions) कहा जाता है। इससे परिमण्डलों में अदला-बदली होती है। यही अभिप्राय है दोष का।

आकाशे चाविशेषात् ॥२४॥

आकाशे+च+अविशेषात्।

और आकाश में अविशेष होने से।

यहाँ अविशेष का अर्थ समझना चाहिए। हमने ऊपर बताया है कि प्रकृति से जब परिणाम निकलने लगते हैं तो उत्तरोत्तर एक के उपरान्त दूसरे परिणाम बनते चले जाते हैं।

प्रकृति → महत् → अहंकार → [पंचमहाभूत / दस इन्द्रियाँ और मन]

अहंकार तक परिवर्तनों के परिणाम को अविशेष कहते हैं और अहंकारों के उपरान्त पंच महाभूतों को विशेष कहते हैं; वैशेषिक दर्शन में भी इन पंच महाभूतों के विषय में लिखा है।

पंच महाभूत हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। ये पाँचों विशेष हैं।

वर्तमान विज्ञान की भाषा में आकाश ईथर (ether) कहलाता है। वैज्ञानिक ईथर के विषय में कुछ नहीं जानते। अतः उनको इसके होने में भी सन्देह है। वैशेषिक दर्शन वाले इसको (आकाश को) एक पदार्थ मानते हैं। यह अति सूक्ष्म अहंकारों का एक संयोग है।

पंच महाभूतों में वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का अभिप्राय इस प्रकार है—

वायु का अर्थ गैसीय (gaseous) पदार्थ है। रासायनिक पदार्थों में आक्सीजन (oxygen), हाईड्रोजन (hydrogen), नाईट्रोजन (nitrogen) इत्यादि।

अग्नि का अर्थ है—आग्नेय पदार्थ। अर्थात् ऐसे पदार्थ जिनमें से तेजस अहंकार सहज ही निकलने लगते हैं। उदाहरण के रूप में रेडियम, युरेनियम इत्यादि।

जल का अर्थ है जलीय (liquids) पदार्थ। इनके उदाहरण हैं पारा (mercury), पीने का जल (water) इत्यादि।

पृथिवी ठोस पदार्थों को कहते हैं जिनमें रूप का परिवर्तन सहज नहीं होता। जैसे लोहा, ताँबा इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकाश पाँचवाँ महाभूत हैं। इन पाँच विशेषों में आकाश अविशेष है। अर्थात् चार प्रकार के (वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) पदार्थ विशेष हैं। इनमें परिमण्डल (atoms) होते हैं।

आकाश में अहंकारों का संयोग तो होता है, परन्तु उनमें परिमण्डल नहीं बनते। इसी कारण आकाश को अविशेष कहा है, अर्थात् उसकी स्थिति परिमण्डलीय नहीं होती।

अनुस्मृतेश्च ॥२५॥

अनुस्मृतेः + च।

च = और। अनुस्मृतेः का अर्थ है पूर्व के स्मरण रहने से। क्या स्मरण रहने से?

समुदायों में परिमण्डलों के गुण और धर्म नवीन समुदायों में आने पर बने रहते हैं। परिमण्डल अपने गुण और धर्म को धारण किये रखते हैं अर्थात् उनको छोड़ते नहीं। इसको सूत्रकार ने स्मरण रखना कहा है।

'च' से सम्बन्ध बनता है पूर्व कथनों के साथ। पूर्व सूत्रों में कहा है कि परिमण्डल समूहों में परिमण्डलों के आदान-प्रदान से परिमण्डल विनष्ट नहीं होते। इस सूत्र में कहा है उनके अपने गुण और धर्म भी बने रहते हैं।

अन्य भाष्यकार इस सूत्र और पूर्व के सूत्रों के अर्थ ऐसे कर रहे हैं जिनकी संगति नहीं बैठती। उदाहरण के रूप में इस सूत्र का अभिप्राय स्वामी शंकराचार्य इस प्रकार लगाते हैं—

अपि च वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकतामभ्युपयन्नुपलब्धुरपि क्षणिकता-मभ्युपेयात्। न च सा संभवति, अनुस्मृते।

अर्थात्—इसके अतिरिक्त वैनाशिक सब वस्तु की क्षणिकता स्वीकार करते हुए उपलब्धि की भी क्षणिकता स्वीकार करें। यह नहीं हो सकता; क्योंकि अनुस्मृति है।

यह मनुष्य में किसी चेतन (आत्मा अथवा परमात्मा) के विनाश न होने की बात कही गयी है।

यहाँ इसका प्रकरण नहीं। अतः यह भावार्थ असंगत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥२६॥

न+असतः+अदृष्टत्वात् ।

न=नहीं । असतः=अभाव से (कार्य की उत्पत्ति) । अदृष्टत्वात्—न देखे जाने से ।

यहाँ पुनः सूत्रकार इस कार्य-जगत् के उपादान कारण प्रधान का उल्लेख करता है। कार्य-कारण में मूल गुणों का समान होना पहले बता चुके हैं। यह पहले (ब्रह्मसूत्र २-२-४ में) बताया गया है कि कार्य-जगत् जड़ है और उसमें बिना अपेक्षा के विपरीत प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

अतः कार्य-जगत् का कारण भी जड़ ही होना चाहिए। उसे ही सांख्य ने प्रकृति अथवा प्रधान माना है।

सूत्रार्थ है—**अदृष्ट होने पर भी कारण का अभाव नहीं।**

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२७॥

उदासीनानाम्+अपि+च+एवम्+सिद्धिः ।

उदासीनानाम्=उदासीन अर्थात् कर्मविहीनों की। अपि=भी। च=और। एवं=इसी प्रकार। सिद्धि=सफलता है।

प्रकृति उदासीन है। जड़ होने के कारण यह अविचल है और इसमें जड़त्व होने पर भी कार्य-जगत् बनता है। यह क्यों? इसमें निमित्त कारण की क्रिया होने से। वह निमित्त कारण परमात्मा है। परमात्मा चेतन है, ईक्षण करता है।

प्रकृति के सब परिणामों का उल्लेख कर कह दिया है कि यह जड़ है। इस पर भी इसमें परिवर्तन होते हैं। यह परमात्मा के कारण है।

नाभाव उपलब्धेः ॥२८॥

न+अभावः+उपलब्धेः ।

अभाव से कुछ प्राप्त नहीं होता। शून्य से कुछ बनता नहीं।

यह (सूत्र २-२-२८) सूत्र २६ की पूर्ति में ही है।

सूत्र २६ में कहा गया है कि यह दिखाई नहीं देता कि अभाव से कुछ उपलब्ध हो। अतः सूत्र २७ में कह दिया गया है कि प्रकृति उदासीन (अविचल) होने पर भी परिणामी है; कारण यह कि जगत् का निमित्त कारण परमात्मा विद्यमान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब इस सूत्र में पहली बात की पुष्टि ही की गयी है। असत् और अभाव में कुछ थोड़ा-सा अन्तर है। सत् का अर्थ है अक्षर। सूत्रार्थ है किसी न अक्षर अर्थात् क्षर से सृष्टि नहीं होती। अभाव का अर्थ है शून्य। शून्य से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। भावार्थ एक ही हो जाता है।

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२६॥

वैधर्म्यात् + च + न + स्वप्न + आदिवत्।

वैधर्म्यात् = (कार्य-जगत् में) वैधर्म्य होने से। न = नहीं। च = और। स्वप्न + आदिवत् = स्वप्न इत्यादि जैसा।

और यह कार्य-जगत् स्वप्नवत् नहीं। इसमें विभिन्न धर्मों के होने से। स्वप्न में धर्म दिखाई नहीं देते। धर्म का अर्थ है कर्म करने का गुण। कार्य-जगत् में कर्म करने का गुण होता है। इस कारण यह स्वप्नवत् नहीं।

यहाँ इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि जगत् मिथ्या है। जगत् में अनेक धर्मों की उपस्थिति देखी जाती है। सूर्य में प्रकाश करने का सामर्थ्य है। चन्द्र में शीतलता उत्पन्न करने का सामर्थ्य है। पृथ्वी फल-फूल, अन्न-अनाज इत्यादि उत्पन्न करती है। इस प्रकार धर्मों के होने से यह मिथ्या नहीं।

यह सूत्र स्पष्ट रूप में स्वामी शंकराचार्य के सिद्धान्त के विपरीत है। अतः यह रुचिकर होगा कि स्वामीजी द्वारा इस सूत्र का किया गया भाष्य यहाँ लिख दिया जाये। आप लिखते हैं—

अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः।

अर्थात्—इसमें कहते हैं कि जाग्रत ज्ञान स्वप्नादि ज्ञान के समान नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों में वैधर्म्य है।

आगे आप लिखते हैं कि यह वैधर्म्य क्या है?

बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति। एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदवस्थायां बाध्यते।

अर्थात्—हम कहते हैं कि यह बाध और अबाध है; क्योंकि स्वप्नावस्था में उपलब्ध वस्तु जाग्रत पुरुष को बाधित होती है कि मुझे जो महाजन समागम उपलब्ध हुआ था, वह मिथ्या है। मुझे महाजन समागम हुआ नहीं। मेरा मत निद्रा से ग्लानियुक्त हुआ, जिससे यह भ्रान्ति हुई। इस प्रकार मायादि में भी यथायोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाध होता है, परन्तु जाग्रत अवस्था में उपलब्ध स्तम्भादि वस्तु किसी भी अवस्था में बाधित नहीं होती।

स्वामीजी ने जाग्रत अवस्था और स्वप्नावस्था की तुलना करनी आरम्भ कर दी है। आप कहते हैं कि जाग्रत अवस्था और स्वप्न-अवस्था में अन्तर है। वह यह अन्तर बताते हैं कि एक में पुरुष बाधित होता है और दूसरे में बाधित नहीं होता।

बाधित से स्वामीजी का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि एक का अनुभव सत्य है और दूसरे का असत्य। यही वैधर्म्य से आप प्रकट करते हैं।

इतना कुछ तो स्वामीजी ने ठीक ही कहा है कि जाग्रत अवस्था में अनुभव सत्य होते हैं और स्वप्नावस्था में असत्य। परन्तु स्वामीजी और हमारे अर्थों में इतना अन्तर है कि हम वैधर्म्य जाग्रत और स्वप्नावस्था में नहीं कह रहे, वरन् जगत् के पदार्थों में के अनेकानेक धर्मों के अर्थ में ले रहे हैं। हमारा अभिप्राय यह है कि जगत् में अनेक प्रकार के (विभिन्न) धर्मों के देखने से जगत् स्वप्नवत् नहीं है। यह सत्य है।

वास्तविक बात यह है कि सूत्रकार इस जगत् को (न स्वप्नादिवत्) स्वप्नवत् नहीं, अर्थात् मिथ्या नहीं है, ऐसा मानता है।

न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

न+भावः+अनुपलब्धेः।

न=नहीं। भावः=होना। अनुपलब्धेः=अनुपलब्ध, न प्राप्त होने से।

जो प्राप्त नहीं होता, वह नहीं।

अर्थात् जगत् प्राप्त होता है; इस कारण यह है।

सूत्र २८ में लिखा है कि अभाव से जगत् की उपलब्धि नहीं, अर्थात् शून्य से जगत् नहीं बना।

तदनन्तर सूत्र २९ में कहा है कि जगत् के पदार्थों में अनेक धर्मों को देखकर यह मानना पड़ता है कि जगत् स्वप्नवत् नहीं; अर्थात् इसकी उपलब्धि है।

अब इस सूत्र में कहा है कि यदि जगत् न होता तो इसकी प्राप्ति भी नहीं होती।

इस सूत्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि भाव नहीं है। यहाँ भाव का अर्थ अस्तित्व से है। अस्तित्व नहीं है। अस्तित्व है ब्रह्म का। ब्रह्म नहीं है, ऐसा कहने की अनुपलब्धि है। अर्थात् ब्रह्म है। यह उपलब्ध होता है। ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। एतदर्थ इसकी उपलब्धि है।

यह अर्थ ठीक हो सकता है परन्तु एक बात ध्यान देनी चाहिए कि प्रकरण जगत् का है, परमात्मा का नहीं। अतः हम ऊपर के अर्थों को ही ठीक मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षणिकत्वाच्च ॥३१॥

च+क्षणिकत्वात् ।

और क्षणिक होना ।

यहाँ विवेच्य शब्द है क्षणिक होने से। क्षणिक उस पदार्थ को कहते हैं जो अल्पकाल के लिए हो। क्षणिक का अर्थ एक चुटकी मारने से नहीं। प्रत्येक काल का अल्प और लम्बा होना तुलनात्मक विचार से होता है। एक सौर दिन में एक क्षण अल्पकाल ठीक है, परन्तु ब्रह्म दिन में तो एक चतुर्युगी का काल भी अल्प कहा जा सकता है। उसे भी क्षणिक माना जा सकता है और अनादि अनन्त काल की तुलना में तो एक मन्वन्तर एवं ब्रह्म दिन भी एक क्षण के तुल्य माना जा सकता है।

यहाँ किसको क्षणिक कहा है ? इसी के ज्ञान से ही यह समझा जा सकेगा कि वह काल कितना है ?

यह 'क्षणिक' जगत् के सन्दर्भ में आया है। अतः इससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (ब्रह्म दिन और रात्रि) का अभिप्राय है। ४,३२,००,००,००० सौर वर्ष का ब्रह्म दिन और ४,३२,००,००,००० सौर वर्ष की ब्रह्म रात्रि का काल भी क्षणिक ही माना जाना चाहिए। कारण यह कि जब इसकी तुलना अनादि अनन्त काल से की जाती है तो यह एक क्षण में उत्पन्न और विनष्ट माना जाता है।

इस सूत्र का अर्थ है कि एक क्षण (अल्प काल) में प्रलय होने वाला जगत् है। अतः सूत्र २-२-३० में लिखी हुई बात भी ठीक है कि जगत् से ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि टूटने एवं बनने वाली वस्तु का तोड़ने और बनाने वाला होना चाहिए।

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥३२॥

सर्वथा+अनुपपत्तेः+च।

च=और। सर्वथा=सब प्रकार से। अनुपपत्तेः=असिद्ध होने से।

(जगत्) सब प्रकार से असिद्ध है। क्षणिक होने के कारण यह ब्रह्म की श्रेणी में नहीं आ सकता।

जगत् क्षणिक है, अर्थात् अल्पकाल तक रहने वाला है। ब्रह्म (अक्षर) अनादि, अक्षर और व्यक्त है। अतः जगत् किसी प्रकार से भी ब्रह्म नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैकस्मिनसंभवात् ।।३३।।

न+एकस्मिन्+असम्भवात् ।

न=नहीं । एकस्मिन्=एक में । असम्भवात्=असम्भव होने से ।

यह कार्य-जगत् एक में ही है (एक से ही उत्पन्न हुआ है) ऐसा सम्भव नहीं होने से ।

एक ही मूल पदार्थ से कार्य-जगत् बना हो, यह सम्भव नहीं । इस जगत् के बनने में दो का योगदान है । निमित्त कारण का और उपादान कारण का ।

स्वामी शंकराचार्य इस ओर कुछ पूर्व के सूत्रों को बौद्ध मत तथा जैन मत के खण्डन में लिखे गये मानते हैं । ऐसी कोई बात नहीं । हमारा यह मत है कि ब्रह्म-सूत्र बौद्ध मत और जैन मत के उत्पन्न होने से पहले के लिखे हुए हैं । अतः इनके स्वतन्त्र अर्थ और भाष्य होने चाहिए । भले ही वे अर्थ किसी मत के अनुकूल हों अथवा विपरीत हों ।

यही कारण है कि हमने सूत्रों के अर्थ और भाष्य विषय की संगति के अनुसार किये हैं । यह स्वामी शंकराचार्य की शैली है कि वह सूत्रों में कुछ अनुकूल अथवा विरोधी प्रमाण बलात् ढूंढ़ते हैं और फिर भाष्य उसी सन्दर्भ में करते हैं । यह शैली प्रायः मिथ्या अर्थों की ओर इंगित करती है ।

एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् ।।३४।।

एवम्+च+आत्मा+अकात्स्न्र्यम् ।

एवम्=इस प्रकार । च=और । आत्मा=आत्मा की । अकात्स्न्र्यम्=असम्पूर्णता (अव्यापिता) हो जायेगी ।

एवम् से अभिप्राय है कि यदि पहले सूत्र में कही बात स्वीकार कर लें, अर्थात् जिसे असम्भव कहा है उसको सम्भव समझ लें तो आत्मा (परमात्मा) की सर्व-व्यापकता असिद्ध हो जायेगी ।

परमात्मा सर्वव्यापक है । यदि यह मान लें कि वही जगत् में परिवर्तित हुआ है तो वह सर्वव्यापक नहीं माना जा सकता । जहाँ जगत् बन गया है वहाँ का परमात्मा उस परमात्मा से भिन्न होगा, जहाँ वह परमात्मा कार्य जगत् में परि-वर्तित नहीं हुआ । दोनों में सीमा बन जायेगी और सर्वव्यापक वस्तु असीम होनी चाहिए । अतः जगत् में केवल परमात्मा नहीं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ।।३५।।

न+च+पर्यायात्+अपि+अविरोधः+विकारादिभ्यः ।

न=नहीं। च=और। पर्यायात्=पर्याय से। अपि=भी। अविरोधः=विरोध का न होना। विकारादिभ्य=विकारादि से।

और पर्याय (समान अर्थ अथवा शक्ति वाला) न होने से भी। विकारादि से अविरोध होने से।

प्रकृति का विकार कार्य-जगत् है। कार्य-जगत् में कई प्रकार के विकार दिखाई देते हैं। वे परस्पर पर्याय नहीं हैं; अर्थात् समान अर्थ वाले एवं रूप-गुण वाले नहीं होते। इसपर भी उनमें अविरोध है। वे परस्पर विरोधी नहीं। उनमें समानता किस विषय में है ? प्रकृति का जड़त्व उन सबमें समान रूप से उपस्थित होता है। यह बात ऊपर (ब्रह्मसूत्र २-२-४ में) वर्णन की जा चुकी है। जड़त्व कार्य-जगत् के प्रत्येक पदार्थ में उपस्थित होता है। अतः सूत्रार्थ यह है कि प्रकृति के विकार अर्थात् कार्य-जगत् के पदार्थ समान गुण, नाम और रूपवाले न होने पर भी परस्पर विरोधी नहीं, अर्थात् इस गुण में समान हैं।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ।।३६।।

अन्त्य+अवस्थितेः+च+उभय+नित्यत्वात्+अविशेषः।

अन्त्य+अवस्थितेः=अन्त्य अवस्था से। च=और। उभय=दोनों में। नित्यत्वात्=नित्यता होने से। अविशेषः=विशेष नहीं हो सकते।

अन्त्य का अर्थ है अन्त तक रहने वाली।

इसका अभिप्राय है कि परमात्मा का परिवर्तित हो जगत् रूप में होना मानने से परमात्मा के दो रूप मानने होंगे। एक नित्य, दूसरा अनित्य और यदि दोनों को नित्य मानें तो विशेष (पंच महाभूतादि) नहीं बन सकते। कारण यह कि विशेष नाशवान् हैं।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि जगत् को परमात्मा का ही परिवर्तित रूप मानने से दोनों में नित्यत्व मानना होगा और फिर विशेष (पंच महाभूतादि) नहीं हो सकते। कारण कि यह अवस्था नाशवान् है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥३७॥

पत्युः+असामञ्जस्यात् ।

पत्युः=पति का । असामञ्जस्यात्=अयुक्त होने से ।

जगत् का पति परमात्मा नहीं । यह अयुक्त है । पति-पत्नी का पारस्परिक भोग का सम्बन्ध है । परमात्मा जगत् का भोग नहीं करता । जगत् परमात्मा के प्रयोग के लिए नहीं । यदि उसे जगत् का भोक्ता मानें तो यह अयुक्त है ।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥३८॥

सम्बन्ध+अनुपपत्तेः+च ।

च=और । सम्बन्धः=भोक्ता का सम्बन्ध । अनुपपत्तेः=उपपन्न नहीं होता, सिद्ध नहीं होता ।

यह सूत्र उक्त सूत्र के असामञ्जस की व्याख्या में है । असामञ्जस से अभिप्राय है अनियमित । अनियमित इस कारण है कि युक्ति से सिद्ध नहीं होता । परमात्मा जगत् का पति नहीं । यह सम्बन्ध भोग का है और यह अयुक्तिसंगत है ।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥३९॥

अधिष्ठान्+अनुपपत्तेः+च ।

जगत् परमात्मा का अधिष्ठान (निवास-स्थान) है, और यह असिद्ध है । जगत् तो एक सीमित स्थान में है और परमात्मा असीम है । जगत् परमात्मा में अधिष्ठित है । परमात्मा जगत् में अधिष्ठित नहीं ।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥४०॥

करणवत्+चेत्+न+भोगादिभ्यः ।

करणवत्=इन्द्रियों की भाँति (है) । चेत्=यदि कहो । न=तो नहीं । भोगादिभ्यः=भोगादि से ।

परमात्मा इन्द्रियों जैसा भी नहीं जिनसे वह भोग करता हो । वह तो सर्वथा इन्द्रियों के बिना है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।।४१।।

अन्तवत्त्वम्+असर्वज्ञता+वा।

अन्तवत्त्वम्=अन्त वाला होना अर्थात् नाशवान् होना। असर्वज्ञता=असर्वज्ञ होना। वा=और।

और जगत् की भाँति परमात्मा का अन्त वाला होना नहीं और न ही असर्वज्ञता अर्थात् अल्प ज्ञानयुक्त होना है। अतः परमात्मा जगत् में परिवर्तित नहीं हुआ। 'न' शब्द पूर्व सूत्र का इसमें भी प्रयोग होता है।

उत्पत्त्यसम्भवात् ।।४२।।

उत्पत्ति+असम्भवात्।

उत्पत्ति असम्भव होने से।

जगत् की उत्पत्ति होती है, परन्तु परमात्मा की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इस कारण परमात्मा का परिवर्तित रूप जगत् नहीं है।

न च कर्त्तुः करणम् ।।४३।।

न+च+कर्तुः+करणम्।

और न ही कर्त्ता के करण (साधन) हैं।

परमात्मा बिना साधनों के जगत् की रचना करता है। यह इस कारण सम्भव है कि परमात्मा प्रकृति के एक-एक परमाणु से सम्बद्ध है।

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।।४४।।

विज्ञानादिभावे+वा+तत्+अप्रतिषेधः।

विज्ञानादि=विशेष ज्ञान इत्यादि के। भावे=होने पर। तत्=उन (करणादि का न होना) का। अप्रतिषेधः=विरोध नहीं।

ऊपर लिखा है कि परमात्मा के इन्द्रियादि नहीं, परन्तु परमात्मा विशेष ज्ञान का स्वामी है। ऐसा होने पर भी इन्द्रियों का न होने से किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। अभिप्राय यह है कि परमात्मा के सर्वज्ञ होने से कार्य बिना इन्द्रियों के ही होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसंगवश यह कहा जा सकता है कि जीवात्मा अल्पज्ञ होने से अर्थात् अल्प शक्तिवाला होने से इन्द्रियों की आवश्यकता रखता है, परन्तु परमात्मा ज्ञानस्वरूप होने से इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं रखता। यहाँ ज्ञानेन्द्रियों से अभिप्राय है।

विप्रतिषेधाच्च ॥४५॥

विप्रतिषेधात्+च।

विप्रतिषेधात्=विभिन्न प्रकार से खण्डन करते हुए ब्रह्म (परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति) के स्वरूप का वर्णन किया गया है। सूत्रकार इस समूचे पाद का उपसंहार करता हुआ बताता है कि ब्रह्म के स्वरूप पर आपत्तियों का अनेक प्रकार से निराकरण किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय पाद

सूत्रकार ने सृष्टि-क्रम में एक अत्यावश्यक विषय को इस पाद में उठाया है। इस विषय को उठाने के लिए उसने उन लोगों का पक्ष उपस्थित किया है, जो वेद शास्त्रों में मतभेद प्रकट करने का यत्न करते रहते हैं।

सृष्टि-क्रम में आकाश शब्द को लेकर पूर्व पक्ष उपस्थित किया जाता है। सूत्रकार महर्षि व्यास ने उसको इस प्रकार प्रकट किया—

न वियदश्रुते ॥१॥

न+वियत्+अश्रुतेः।

न=नहीं है। वियत्=आकाश। अश्रुतेः=श्रुति में कहा न होने से।

अर्थ है—वेद शास्त्र में आकाश कहीं नहीं कहा है। इस कारण आकाश नहीं है। वियत् आकाश का नाम है।

शंका तो केवल इतनी ही थी जैसी कि ऊपर कही गयी है, परन्तु वे भाष्यकार जो प्रायः सूत्र का स्रोत उपनिषद् में ढूंढ़ने लगते हैं, वे वियत् (आकाश) को भी उपनिषदों में ढूंढ़ने लगे हैं।

आकाश शब्द तो शास्त्र में है। इस कारण सूत्रकार ने उपनिषद् का प्रमाण न देते हुए पूर्व पक्ष का केवल खण्डन कर दिया और कहा है—

अस्ति तु ॥२॥

अस्ति=है। तु=तो। अर्थात् श्रुति में आकाश का वर्णन है।

इस 'है' के पक्ष में तो प्रमाण देने ही चाहिए थे, परन्तु भाष्यकारों ने पूर्व पक्ष को सुदृढ़ करने के लिए एक बात अपने पास से उपस्थित कर दी है। वह पूर्व पक्ष के मस्तिष्क में थी अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता। यह भाष्यकारों के मस्तिष्क की उपज ही प्रतीत होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्य इस पाद के प्रथम सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

वेदान्तेषु तत्र तत्र भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतय उपलभ्यन्ते। केचिदाकाशस्योत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न। तथा केचिद्वायोरुत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न। एवं जीवस्य प्राणानां च। एवमेव क्रमादिद्वारकोऽपि विप्रतिषेधः श्रुत्यन्तरेषूपलक्ष्यते।

अर्थात्—वेदान्त में अनेक स्थानों पर भिन्न प्रस्थान वाली (भिन्न प्रकरणस्थ) उत्पत्ति श्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं। कुछ श्रुति-वाक्य वायु की उत्पत्ति मानते हैं, कुछ नहीं मानते। एवं कुछ श्रुति-वाक्य जीव और प्राणों की उत्पत्ति मानते हैं और कुछ नहीं मानते। इसी प्रकार क्रमादि द्वारा भी अन्य श्रुतियों में विरोध उपलक्षित होता है।

हमारा मत है कि पूर्व सूत्र में केवल यही पक्ष है कि शास्त्र में वियत् का उल्लेख नहीं। सूत्रकार ने इसका खण्डन किया है। उसने कहा है कि उल्लेख है। यह बात तो अशुद्ध पक्ष का आधार बनाने के लिए भाष्यकारों ने कह दिया कि इस सूत्र के अर्थ केवल यह नहीं कि आकाश का उल्लेख शास्त्र में नहीं, वरन् यह है कि आकाश की उत्पत्ति का वर्णन शास्त्र में नहीं।

यह बात पूर्व पक्ष के मस्तिष्क में थी अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता परन्तु इसका उल्लेख आ जाने से इसका उत्तर तो शास्त्र में से देना ही पड़ेगा। यह हम आगे चलकर देंगे।

यहाँ हमारा कहना यह है कि प्रश्न सरल है। इसमें आकाश की उत्पत्ति का प्रश्न नहीं है। अतः उत्तर में भी इसका उल्लेख नहीं है।

सूत्रकार ने २-३-२ में कह दिया कि इसका उल्लेख है।

दोनों सूत्रों में उत्पत्ति की ओर संकेत नहीं। यह केवल भाष्यकारों के मस्तिष्क की उपज है।

परिणाम यह है कि उत्पत्ति सम्बन्धी उत्तर दर्शन-शास्त्र में नहीं है। इस कारण उत्तर पक्ष में दिये सूत्रों को भाष्यकार अपने विचार से तोड़-मरोड़ने लगे हैं।

हमारा यह मत है कि ब्रह्मसूत्रों का अध्ययन और विवेचन करते समय शंकराचार्य के भाष्य को पृथक् रखकर ही कार्य आरम्भ करना चाहिए। स्वामीजी की शैली ही अयुक्त अर्थात् तर्करहित है। इस शैली का अनुकरण करने से वेदान्त दर्शन के अर्थ ही अशुद्ध हो रहे हैं।

यहाँ हम सूत्रकार का आशय अपने मत से प्रकट करते हैं।

यदि यह कहीं आकाश के उल्लेख होने और कहीं न होने की बात होती तो इसका उत्तर तो सूत्रकार पहले (२-१-१ में) दे चुका हैं। उस सूत्र में कहा गया है कि यदि किसी स्मृति में किसी विषय का उल्लेख न हो तो यह दोष नहीं। कारण यह कि किसी दूसरी स्मृति में उस विषय पर उल्लेख हो भी सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब सूत्रकार ने कहा कि वेद में आकाश का वर्णन आया है तो यह आवश्यक हो जाता है कि वेद में आकाश शब्द का प्रमाण दिया जाये। उत्पत्ति के विषय में न प्रश्न था और न ही उत्तर है।

ऋग्वेद में व्योम शब्द मिलता है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

(ऋ० १-१६४-३९)

यहाँ व्योम शब्द है। व्योम आकाश को कहते हैं और आकाश को ब्रह्म का स्वरूप माना है। इसे परम अक्षर तथा अति सूक्ष्म भी कहा है।

यही मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है। सूत्रकार ने भी इसी मन्त्र के आधार पर निम्न सूत्र लिख दिया है—

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ (ब्रह्मसूत्र १-१-२२)

परन्तु पूर्व पक्ष वाले ने अपने संशय का रूप बदल दिया है। वह कहता है—

गौण्यसम्भवात् ॥३॥

गौणी + असम्भवात्।

असम्भव होने से यह उक्त कथन गौण है।

इसका अर्थ यह है कि यहाँ आकाश का अर्थ गौण है। यह परमात्मा के लिए आया है।

गौण का अर्थ है कि मुख्य उल्लेख आकाश का नहीं। आकाश की उपमा परमात्मा से दी गयी है। अतः यह व्योम का उल्लेख गौण रूप से है। यह किसी पदार्थ का नाम नहीं और असम्भव है।

जो भाष्यकार आकाश की उत्पत्ति को बीच में ले आये हैं, वे सूत्रकार का उत्तर समझ नहीं सके।

प्रश्न आकाश की उत्पत्ति के विषय में नहीं है। वह (पूर्व पक्ष) कह रहा है कि वियत् का वर्णन वेद में नहीं है। जो व्योम शब्द मन्त्र ऋग्वेद (१-१६४-३६) में आया है, उसके विषय में आपत्ति करने वाले का कहना है कि गौण रूप में है। वहाँ आकाश का उल्लेख किसी पदार्थ के रूप में नहीं आया।

पूर्व पक्ष का समर्थन करने के लिए निम्न सूत्र कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दाच्च ।।४।।

शब्दात्+च ।

और शब्द से ।

अभिप्राय यह है कि पूर्व पक्ष ने जो आकाश को गौण कहा है, वह वेदमन्त्र के शब्दों को देखने से कहा है ।

सूत्रकार का उत्तर है—

स्याच्चैकस्त ब्रह्मशब्दवत् ।।५।।

स्यात्+च+एकस्य+ब्रह्मशब्दवत् ।

स्यात्=कदाचित् । च=और । एकस्य=एक के । ब्रह्मशब्दवत्=ब्रह्म शब्द की भाँति ।

इसका अर्थ है—कुछ एक के कथन से शायद यह है, अर्थात् व्योम का प्रयोग गौण है । वैसे ब्रह्म का भी प्रयोग कई स्थानों पर परमात्मा के अतिरिक्त होता है ।

वेद में उक्त मन्त्र में व्योम परमात्मा के लिए आया है । इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र में आकाश को परमात्मा का लिंग अर्थात् संकेत माना है ।

इस बात को सूत्रकार अस्वीकार नहीं कर सका । उसने कहा है कि कुछ एक के विचार से शायद यह पक्ष ठीक है, परन्तु यह ऐसे ही है जैसे कि ब्रह्म शब्द का अर्थ परमात्मा के अतिरिक्त भी आता है । आकाश का उल्लेख वेद में तो है । इसमें सन्देह नहीं ।

अर्थात् पूर्व पक्ष का यह कहना कि आकाश शब्द वेदों में है ही नहीं, यह अशुद्ध है । आकाश का वेद में उल्लेख है ।

सूत्रकार अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए अगला सूत्र कहता है ।

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ।।६।।

प्रतिज्ञा+अहानिः+अव्यतिरेकात्+शब्देभ्यः ।

हमारी प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती, वेदों में अलग वर्णन न होने से ।

सूत्रकार युक्ति करता है कि ब्रह्म और आकाश का एक साथ वर्णन होने से आकाश शब्द श्रुति में है, इस प्रतिज्ञा (वक्तव्य) का खण्डन नहीं होता ।

बात स्पष्ट है कि आकाश और ब्रह्म का वर्णन एक साथ ही आया है । इसका यह अर्थ नहीं कि हमारा वक्तव्य कि आकाश वेदों में आया है, गलत हो गया ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकाश और ब्रह्म साथ-साथ आते हैं। कारण यह कि इन सब स्थानों पर जहाँ आकाश ब्रह्म के साथ आया है, आकाश से अभिप्राय है और ब्रह्म के सब स्थानों पर होने से जहाँ-जहाँ आकाश है, वहाँ-वहाँ ब्रह्म है। परमात्मा सर्वव्यापक है। इस कारण आकाश ब्रह्म से पृथक् हो नहीं सकता। अतः श्रुति में ब्रह्म और आकाश का उल्लेख एक साथ होने से सूत्रकार का कथन् असत्य नहीं हो सकता कि श्रुति में आकाश का उल्लेख है।

जो लोग ब्रह्मसूत्रों को उपनिषद ग्रन्थों की व्याख्यामात्र मानते हैं; ये वियत् (आकाश) को उपनिषदों में भरा पड़ा देख यह कहने लगे कि पूर्व पक्ष आकाश की उत्पत्ति के विषय में है।

अब सूत्रकार के उत्तर में उत्पत्ति का उल्लेख और प्रमाण न देख अप्रासंगिक कथन करने लगे हैं।

सूत्र संख्या २-३-५ पर भाष्य करते हुए स्वामी शंकराचार्य जी इस प्रकार लिखते हैं—

इदं पदोत्तरं सूत्रम्। स्यादेतत्—कथं पुनरेकस्य संभूतशब्दस्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २-१) इत्यस्मिन्नधिकारे परेषु तेजः-प्रभृतिष्वनुवर्तमानस्य मुख्यत्वं संभवत्याकाशे च गौणत्वमिति ? अत उत्तरमुच्यते—स्याच्चैकस्यापि संभूतशब्दस्य विषयविशेषवशाद्गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्म-शब्दवत्। यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' (तै० ३-२) इत्यस्मिन्नधिकारेऽन्नादिषु गौणः प्रयोग आनन्दे च मुख्यः।

इसका अर्थ इस प्रकार है—

'यह पद उत्तर के रूप में इस सूत्र में है। यह 'स्यात्' है। कैसे? पुनः एक संभूत शब्द के (विषय में), तस्माद्वा—संभूतः (तै० उ० २-१) इस अधिकार में अन्य स्थल में तेज इत्यादि में अनुवर्तमान मुख्य कैसे हो सकता है और आकाश में गौण कैसे? अतः उत्तर में कहा है। और स्यात् कैसे? ब्रह्म की भाँति विषय विशेष के अनुसार इसका प्रयोग मुख्य और गौण होता है। जैसे एक (ब्रह्म) का प्रयोग (तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म—तै० उ० ३-२) इस अधिकार में, अन्नादि में गौण और आनन्द में मुख्य प्रयोग है।

यह अयुक्त कथन है। वहाँ अन्न तेजादि के साथ ब्रह्म गौण नहीं है। कारण यह कि ब्रह्म का अर्थ वहाँ प्रकृति है, परमात्मा नहीं। ब्रह्म का अर्थ प्रकृति होने से गौण क्यों हो गया? ब्रह्म का जहाँ आनन्द के साथ उल्लेख आया है वहाँ वह मुख्य क्यों है? दोनों ब्रह्म हैं।

साथ ही इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उक्त सूत्रों में संभूति का आशय है, अर्थात् उत्पत्ति का अर्थ सूत्र में किस प्रकार आ गया?

यदि उत्पत्ति का भाव उक्त सूत्रों में न लिया जाये तो सूत्रों (२-३-५ और २-३-६) का अर्थ अति सरल और स्पष्ट हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शंका है कि व्योम शब्द ब्रह्म के लिए आया है। अतः यहाँ आकाश का अर्थ गौण है, अर्थात् यह नहीं बताया कि व्योम स्वतः कोई पदार्थ है।

सूत्रकार का उत्तर है कि कदाचित् एक के कथन से यह गौण है। जैसे ब्रह्म का प्रयोग अन्य पदार्थों के विशेषण के रूप में आता है—जैसे ब्रह्मचर्य, ब्रह्म देश इत्यादि।

परन्तु आगे (२-३-६ में) यह कह दिया है कि हमारी यह प्रतिज्ञा अर्थात् वक्तव्य गलत नहीं। ठीक है कि व्योम (आकाश) का वर्णन वेद में है। इसी प्रकार शब्द है 'खं ब्रह्म'। यहाँ भी आकाश से अभिप्राय है।

जो भाष्यकार सूत्रार्थ करने में उपनिषद्-वाक्यों का आश्रय लेते हैं, वे प्रत्येक सूत्र में किसी उपनिषद्-वाक्य से समानता ढूँढ़ने लगते हैं। इससे सूत्रार्थ में अन्तर पड़ जाता है।

जहाँ तक आकाश की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, इसमें हमारा मत है कि आकाश शब्द जहाँ तो परमात्मा के साथ आया है, वहाँ व्योम (space) का वाचक है और परमात्मा सर्वव्यापक होने से पूर्ण व्योम में उपस्थित है। अतः ऐसे प्रसंगों में आकाश और परमात्मा पर्यायवाचक हो जाते हैं। यहाँ उत्पत्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता।

परन्तु जहाँ आकाश का सम्बन्ध सृष्टि-रचना में पंच भूतों में आता है, वहाँ आकाश प्रकृति का एक रूप है। यह प्राकृत पदार्थ है और वहाँ इसको परमात्मा नहीं माना और न ही उस रूप में इसे परमात्मा का लिंग स्वीकार किया है। ऐसे स्थानों में उत्पत्ति का उल्लेख है।

हम १-१-२२ के भाष्य में यह बता चुके हैं कि पंच भौतिक आकाश तो प्रकृति का रूप होने से परमात्मा का चिह्न नहीं। यह परमात्मा का उतना ही चिह्न है जितना कि जगत् का कोई भी पदार्थ परमात्मा का लिंग हो सकता है।

जो उपनिषद् के प्रमाण दिये गए हैं, वे इन सूत्रों के साथ सम्बद्ध नहीं। वहाँ आकाश की उत्पत्ति तब बतायी है जब आकाश पंच-भौतिक है और जहाँ आकाश व्योम (space) के अर्थों में आया है, वहाँ इसकी उत्पत्ति का वर्णन नहीं, वहाँ वह परमात्मा का लिंग है।

उदाहरण के रूप में तैत्ति० उप० २-१ में आकाश को उत्पन्न हुआ बताया है वहाँ इसका सम्बन्ध अन्नादि से कहा है।

यह उपनिषद् इस प्रकार है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। (तैत्ति० उ० २-१)

अर्थ है कि 'उस' और 'इस' आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। 'एतस्मात्' का अर्थ है आत्मा से अतिरिक्त। अतः 'इसका' अर्थ है प्रकृति (ब्रह्म)। अभिप्राय यह है कि प्रकृति से, परमात्मा के सहयोग से आकाश उत्पन्न हुआ। यह पंच भौतिक आकाश का वर्णन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी मन्त्र को आगे पढ़ने से बात स्पष्ट हो जाती है।

लिखा है कि—

आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।

स्पष्ट है कि यहाँ पंच महाभूतों की उत्पत्ति का वर्णन है। यहाँ आकाश एक महाभूत है और इसकी उत्पत्ति होती है।

इसी उपनिषद् का एक अन्य प्रमाण (तैत्ति० उप० ३-२) शंकर ने दिया है। वहाँ बताया है कि—

तप से ब्रह्म जानने की इच्छा कर। यहाँ ब्रह्म से त्रिविधं ब्रह्म का अभिप्राय है। केवल परमात्मा नहीं। तप ब्रह्म है। इत्यादि।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आकाश की उत्पत्ति तो तब है जब पंच भूतों वाला आकाश लिया है।

वेदों में जहाँ आकाश का कथन है, वहाँ दोनों में किसी भी आकाश के विषय में यह हो सकता था। आकाश जो परमात्मा का लिंग है अथवा जो पंच भूतों में एक है। पंच भूतों वाला आकाश परमात्मा का लिंग नहीं है।

अतः उत्पत्ति विवाद का विषय नहीं। सूत्रकार ने भी उत्पत्ति का उल्लेख नहीं किया। सूत्रकार कहता है, आकाश का कथन तो है।

कदाचित् कोई वैसा ही मन्त्र पूर्व पक्ष वाले के मस्तिष्क में रहा होगा जैसा मन्त्र हमने (ऋ० १-१६४-३९) ऊपर दिया है। इसपर पूर्व पक्ष कहता है कि यहाँ आकाश का उल्लेख गौण है; अर्थात् सीधा आकाश के विषय में नहीं।

सूत्रकार ने इसका उत्तर दिया कि प्रतिज्ञा 'कि वेद में आकाश शब्द है' गलत नहीं। सूत्रकार आगे प्रकृति के आकाश का वर्णन करता है।

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥७॥

यावत्+विकारं+तु+विभागः+लोकवत्।

यावत्=जहाँ तक। विकारं=विकार है। (विकार से आकाश का सम्बन्ध है) तु=तो। विभागः=विभाग होता है। लोकवत्=जैसे लोक में देखा जाता है।

अर्थात्—जहाँ तक पंच-भौतिक आकाश का सम्बन्ध है, वह विभक्त होता है। अर्थात् कारण से भिन्न रूप वाला हो जाता है और उसे भिन्न रूप में बनाने वाले निमित्त कारण (परमात्मा) से भी वह भिन्न होता है। वैसे ही जैसे संसार में देखा जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार में देखा जाता है कि स्वर्ण से स्वर्ण-भूषण भिन्न-रूप हो जाते हैं और स्वर्णकार से भी उसका सादृश्य नहीं होता। इसी प्रकार प्रकृति के सब विकार प्रकृति के रूप से भिन्न होते हैं और जगत् के निमित्त कारण से भी भिन्न हैं।

यही बात पंच-भौतिक आकाश की है।

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार और अहंकारों से पंच महाभूत बनते हैं। आकाश का विभाग हुआ यह कहा, तो यहाँ इसी पंच-भौतिक आकाश का उल्लेख है।

पंच महाभूतों में यह माना जाता है कि अहंकारों से पहले आकाश बना। आकाश से वायु बना, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी।

यहाँ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का अभिप्राय है आकाशीय पदार्थ, वायवीय पदार्थ, आग्नेय पदार्थ, जलीय पदार्थ और पार्थिव पदार्थ।

इनको वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में लिखा जाये तो आकाशीय पदार्थ वह है जो अहंकारों (inert-atom) से बनता तो है, परन्तु उसका रूप परिमण्डलों (atoms) के रूप में होता है। परिमण्डलों में अहंकार एक-दूसरे के चारों ओर घूमते रहते हैं। अहंकारों के ऐसे संयोग बन जाते हैं कि वे सामूहिक अवस्था में सर्वथा प्रभावहीन होते हैं। तीनों अहंकार आकाश में एक साथ एकत्रित होकर आकर्षण-विकर्षण रहित हो सन्तुलित अवस्था में हो जाते हैं तब आकाश का परिमण्डल होता है।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥८॥

एतेन + मातरिश्वा + व्याख्यातः।

इससे (आकाश महाभूत से) मातरिश्वा बनने का वर्णन है।

यह समझा जाता है कि आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी महाभूत बनता है। इनका वास्तविक नाम है—आकाशीय, वायवी, आग्नेय, जलीय और पार्थिव पदार्थ।

यहाँ इस सूत्र में आकाश से वायवी का ही कथन है। अन्य भूतों का वर्णन आगे करेंगे।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि वृहदारण्यक उपनिषद् (२-७) में एक वायु का वर्णन है और (ऋ० १-२-१, २, ३) में भी एक वायु का वर्णन है। यह आकाश से उत्पन्न मातरिश्वा वह वायु नहीं है। यह पंच भौतिक है। यह परिमण्डलीय अवस्था (atomic state) में है और वृहदारण्यक एवं ऋग्वेद वाली वायु शक्ति का रूप है। वहाँ (ऋ० १-२-१) में कहा है कि वायु वस्तुओं को सुन्दर, सुखद और स्वादु बनाती है। वह यह पंच भौतिक वायु नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥९॥

असम्भवः+तु+सतः+अनुपपत्तेः ।

सत् पदार्थ की उत्पत्ति युक्तिरहित है । यदि सम्भव (उत्पाद होने योग्य) हो तो वह सत् नहीं हो सकता । सत् का अर्थ नित्यत्व है ।

असम्भवतः=उत्पन्न होता नहीं । सतः=नित्य पदार्थ । अनुपपत्तेः=उपपत्ति अर्थात् सिद्ध न होने से ।

स्वामी शंकराचार्य से मतभेद यह है कि सत् पदार्थ एक है अथवा एक से अधिक । स्वामीजी मानते हैं कि केवल परमात्मा ही सत् है । हम यह पूर्व सूत्रों के भाष्यों में सिद्ध कर चुके हैं कि परमात्मा के अतिरिक्त प्रकृति और जीवात्मा भी नित्य हैं ।

इस सूत्र की आवश्यकता इस कारण हुई है कि सूत्र २-३-७ में यह कहा है कि विकार रूप आकाश से विभाग बनता है, परन्तु जो पदार्थ सत् हैं, वे नहीं बनते ।

परमात्मा नहीं बनता । वह शाश्वत अर्थात् अनादि है । वह आकाश भी जिसे परमात्मा का लिंग माना है, अनादि है ।

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥१०॥

तेजः+अतः+तथा+हि+आह ।

तेजः=तेज । अतः=इस (वायु) से । तथा=ऐसा । हि=निश्चय से । आह=कहा है ।

आकाश से मातरिश्वा, मातरिश्वा से अग्नि उत्पन्न होता है । ऐसा शास्त्र में वर्णन किया गया है ।

कहाँ वर्णन है ? तैत्तिरीय उपनिषद् (२-१) में ।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । (तैत्ति० २-१)

उस और इससे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आपः, आपः से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ (वनस्पतियाँ), ओषधियों से अन्न, अन्न से पुरुष (प्राणी) और वह तथा यह पुरुष अन्न एवं रसमय हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपः ॥११॥

तेज से आपः (जलय) उत्पन्न होते हैं।

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥१२॥

पृथिवी+अधिकाररूप+शब्दान्तरेभ्यः।

आपः से पृथिवी की उत्पत्ति बतायी है। 'अधिकाररूप शब्दान्तरेभ्यः' के अर्थ अन्य भाष्यकारों ने ऐसे किये हैं, जो भलीभाँति विषय को स्पष्ट नहीं कर पाते। इस वाक्य का प्रयोजन पृथिवी की व्याख्या करना है।

जैसे वायु न लिखकर मातरिश्वा लिखा था और ऐसा लिखकर उसे उस वायु से पृथक् प्रकट किया था, जो वायु ईश्वरीय शक्ति के रूप में जगत् की रचना और कार्य में भाग लेता है। इसका विस्तृत वर्णन वृहद० उप० (३-७) में किया है। मातरिश्वा इससे भिन्न पाँच भौतिक वायु है जो अग्नि की उत्पादक है।

इसी प्रकार पृथिवी का विश्लेषण लिख दिया गया है। कौन पृथिवी ? वह जो अधिकार अर्थात् प्रकरण से पता चलती है। प्रकरण से पाँच भौतिक पृथिवी है जो रूप और शब्द (नाम) रखती है, अर्थात् अपना रूप और नाम रखती है।

यहाँ हम वर्तमान विज्ञान की बात लिख दें तो पृथिवी के विषय में उक्त कथन स्पष्ट हो जाएगा। वर्तमान विज्ञान में 'मैटर' तीन रूपों (अवस्थाओं) में लिखा है —वायवी (gaseous), जलीय ((liquid) और ठोस (solid)। ठोस रूप वायवी और जलीय रूपों से विलक्षण इस कारण माना जाता है कि यह अपना रूप स्थिर (stable) रखता है। यही बात पृथिवी की व्याख्या करने के लिए सूत्रकार ने लिखी है, अर्थात् पृथिवी वह है जिसका रूप और नाम स्थिर है। अर्थात् ठोस (solid) पदार्थ।

आकाश→मातरिश्वा→तेज→आपः→पृथिवी।

अभिप्राय यह कि यहाँ पृथिवी से नक्षत्र (earth) का अर्थ नहीं। पृथिवी (earth) नक्षत्र में बहुत कुछ है, केवल ठोस पदार्थ ही नहीं। अतः प्रकरण से पृथिवी एक पाँच भौतिक पदार्थ है जो सृष्टि-रचना में अन्तिम महाभूत है। इसका स्थूल रूप ठोस पदार्थ है। ये अपना रूप रखते हैं और अपना नाम रखते हैं।

नाम एवं रूप परस्पर सम्बन्धित हैं। उदाहरण के रूप में कंचनचंगा इत्यादि पर्वत हैं। वे रूप और नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका नाम और रूप स्थिर है।

संक्षेप में पार्थिव पदार्थ पृथिवी का रूप समझे जाते हैं।

इस पाद्र के प्रथम सूत्र से लेकर सूत्र संख्या १२ तक पंच-भूतों के विषय में लिखा है। पंच महाभूतों का प्रसंग आकाश से आरम्भ किया गया है। शंका करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाला कहता है कि वेदों में आकाश शब्द नहीं है। सूत्रकार के मन में कोई वेद-मन्त्र रहा होगा। हमने (ऋ० १-१६४-३६) का उदाहरण दिया है। उसमें व्योम शब्द ब्रह्म का सूचक आया है।

शंका करने वाला कहता है कि वेद में आकाश का वर्णन गौण रूप में है, अर्थात् आकाश के लिए नहीं आया। आकाश ब्रह्म के लिए आया है।

सूत्रकार इसका उत्तर यह देता है कि आकाश शब्द से तो यह प्रकट होता है कि आकाश शब्द है। कदाचित् ब्रह्म की भाँति वह दूसरे अर्थों में लिया गया है। यद्यपि वहाँ आकाश और परमात्मा साथ आये हैं; इस पर भी यह कहना कि आकाश शब्द वेदों में है, गलत नहीं।

इसके आगे सूत्रकार कहता है कि ब्रह्म के साथ जिस आकाश का वर्णन है, वह दूसरा है और विकार रूप आकाश दूसरा है। वह प्रकृति से उत्पन्न होता है। इसके उपरान्त आकाश से मातरिश्वा, उससे तेज, तेज से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति का वर्णन कर दिया है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि सृष्टि-क्रम ब्रह्मसूत्रों में वैसा ही बताया है जैसाकि सांख्य और वैशेषिक में बताया गया है। इसी आधार पर हमारा कहना है कि वैदिक दर्शन शास्त्र परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे पूरक हैं। वैशेषिक दर्शन (२-१-१,२, ३, ४, ५) देखें।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥१३॥

तत्+अभिध्यानाद+एव+तु+तलिङ्गात्+सः।

तत्=उस (पंच महाभूत के)। अभिध्यानात्=व्यापक चिन्तन से। एव=ही। तु=तो। तत्=उसके। लिङ्गात्=लक्षण से। सः=वह (परमात्मा विदित होता है।)

अभिप्राय यह है कि सृष्टि क्रम में आकाश से पृथिवी तक के बनने पर चिन्तन करने से परमात्मा के लिंगों का पता चलता है।

जितने भी पदार्थ इस जगत् में व्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर हैं, वे पाँच अवस्थाओं में पाये जाते हैं। ये अवस्थाएं हैं, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। ये अवस्थाएँ उत्तरोत्तर सूक्ष्म से स्थूलता की ओर कही गई हैं।

इनकी व्याख्या में हम इनकी आभ्यन्तरिक बनावट के विषय में लिख चुके हैं। पृथिवी के परिमण्डल अथवा उनके समूह (atoms and molecules) बहुत समीप-समीप होकर ठोस आकृति उपस्थित करते हैं। इनका रूप और नाम स्थिर होता है। वैज्ञानिक भाषा में कहते हैं shape and name पार्थिव पदार्थों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप स्थिर होता है। दूसरी अवस्था है जलीय (तरल) पदार्थों की। इसमें परिमण्डल अथवा परिमण्डल-समूह कुछ दूर-दूर होते हैं। इतने कि वे एक-दूसरे के आकर्षण से बाहर नहीं होते, यद्यपि पार्थिव पदार्थों की भाँति परस्पर बँधे नहीं होते।

तीसरी अवस्था वायवी (gaseous) है। इसमें परिमण्डल अथवा परिमण्डल-समूह और भी दूर-दूर होते हैं और यदि इनको दबाव से इकट्ठा न रखा जाये तो ये स्वतन्त्र हो रिक्त स्थान में फैल जाते हैं। वैज्ञानिक भाषा में इनको कहते हैं कि ये formless हैं। ये न तो आयतन स्थिर रख सकते हैं और न ही रूप।

अग्नि-स्वरूप पदार्थ उनको कहते हैं जिनके परिमण्डल अथवा परिमण्डल-समूहों में वियोग अथवा संयोग सहज ही हो सकता है और इस वियोग अथवा संयोग से अग्नि (ऊष्मा) उत्पन्न होती है। इनको रेडियो एक्टिव पदार्थ कहते हैं।

एक अवस्था ऐसी भी है जिसमें अहंकारों में संयोग तो होता है, परन्तु वह संयोग परिमण्डलों का रूप ग्रहण नहीं करता। अहंकार ऐसे ढंग से संयुक्त होते हैं कि वे सर्वथा आकर्षण-विकर्षण से रहित हो जाते हैं। इस अवस्था में इनको आकाश कहते हैं। ये संयोग लक्षणविहीन होते हैं। इस अवस्था में उनके संयोग-वियोग नहीं हो सकते। इनमें वायु का समावेश न होने से गति उत्पन्न नहीं होती। यहाँ वायु से उस शक्ति का अभिप्राय है जो कि गति उत्पन्न करती है। यह पंचभौतिक वायु से भिन्न है।

अहंकारों से ये पंच महाभूत बनते हैं और उनसे पंच तन्मात्रा बनती हैं। तन्मात्रा तो पाँच प्रकार की शक्ति तरंगें ही हैं। उनसे कुछ कार्य सम्पन्न होते हैं और उन कार्यों को सम्पन्न कर वे विनष्ट हो जाती हैं। पंच महाभूत विशेष कहलाते हैं और इन पंच महाभूतों से बनने वाले कार्य जगत् के सब पदार्थ भी विशेष ही कहलाते हैं और इन विशेषों के स्वभाव और व्यवहार को लिखने वाले दर्शन का नाम वैशेषिक दर्शन है। इस दर्शन शास्त्र के रचयिता कणाद मुनि हैं।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।।१४।।

विपर्ययेण+तु+क्रमः+अतः+उपपद्यते+च।

विपर्ययेण=विपर्यय से अर्थात् (प्रलय क्रम से)। तु=तो। क्रमः=क्रम। अतः=इस प्रकार। उपपद्यते=सिद्ध होता है।

अर्थात् सृष्टि क्रम के उलट क्रम, प्रलय काल में भी इसी प्रकार होता है। अभिप्राय यह है कि पृथिवी→आपः→अग्नि→वायु→आकाश क्रम रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकाशादि (पंच महाभूतों) से पहले हैं अहंकार, महत्, और प्रकृति। इनमें भी प्रलय काल में सृष्टि क्रम विपरीत होगा।

इसी प्रकार सृष्टि क्रम और विपर्यय अर्थात् प्रलय क्रम है।

उक्त (२-३-१३) में सृष्टि क्रम लक्षण है परमात्मा के अस्तित्व का। इसी प्रकार प्रलय क्रम भी उसी के अस्तित्व का प्रमाण है।

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

अन्तरा + विज्ञानमनसी + क्रमेण + तत् + लिंगात् + इतिचेत् + न + अविशेषात्।

अन्तरा=बीच में। पंच महाभूतों के क्रम के भीतर। विज्ञानमनसी=बुद्धि और मन। तत् लिंगात्=उनके लिंग (लक्षण) से। इतिचेत्=इसे यदि कहो तो न=नहीं (कारण यह कि) इनके अविशेष होने से।

अर्थात् पंच महाभूतों के क्रम में बुद्धि मन नहीं है। यदि कहो कि ये दोनों क्रम में हैं तो ऐसी बात नहीं। कारण यह कि ये अविशेष हैं।

मन और बुद्धि महत् का अंश हैं और पंच महाभूतों का क्रम तो अहंकारों के उपरान्त आरम्भ होता है।

अहंकारों के उपरान्त बनी सृष्टि को विशेष कहते हैं और उससे पहली सृष्टि को अविशेष।

इस सूत्र में यह कहा गया है कि मन और बुद्धि पंच महाभूतों के क्रम में नहीं। कारण यह कि ये अविशेष हैं। ये अहंकारों से पहले की सृष्टि है।

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥१६॥

चराचर + व्यपाश्रयः + तु + स्यात् + तद् + व्यपदेशः + भाक्तः + तद्भावभावित्वात्।

चराचर व्यपाश्रय=चराचर प्राणी जो (शरीर के) आश्रय से है। तु=तो। स्यात्=है। तत्=वह। भाक्तः=गौण। व्यपदेशः=कहे जाने से।

तत्=वह। भाव भावित्वात्=जन्म और मरण होने से। चराचर प्राणियों के जन्म-मरण का कथन गौण है, अर्थात् जो इनमें चेतन तत्त्व है, वह न जन्म लेता है और न मरता है। इनका जन्म-मरण कहने मात्र का है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः जन्म-मरण गौण है, कहने मात्र का है। इनका जीवन देह के आश्रय है जो नाशवान् है। आत्मा अविनाशी है।

इस सिद्धान्त की पुष्टि गीता में इस श्लोक के भी होती है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (भ०-गी० २-२०)

अर्थ इस प्रकार है—

यह (जीवात्मा) किसी काल में भी न जन्म लेता है, न मरता है। न यह होकर फिर होने वाला है। वह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत और पुरातन है। नाश होने वाला शरीर है। यह (जीवात्मा) नाश नहीं होता।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥१७॥

आत+मन+अश्रुते+नित्यत्वात्+च+ताभ्यः।

आत्मा अवैदिक (कथन) नहीं। नित्य होने से और उनसे होने से।

अभिप्राय यह है कि नित्य होने से जो हो सकता है। आत्मा नित्य है और जन्म-मरण उसका नहीं होता।

ज्ञोऽत एव ॥१८॥

ज्ञः+अतः+एव।

इसलिए यह चेतन ही है।

यहाँ आत्मा में चेतना को स्वीकार करते हुए स्वामी शंकराचार्य ने वैशेषिक और सांख्य दर्शन से अपनी अनभिज्ञता का प्रदर्शन किया है।

आप लिखते हैं—

स किं कणभुजानामिवागन्तुक चैतन्यः, स्वतोऽचेतनः, आहोस्वित्सांख्यानामिव नित्यचैतन्यस्वरूप एवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशयः। किं तावत्प्राप्तम् ?

इसका अर्थ है—वह क्या कणाद मत के समान आगन्तुक चैतन्य होता हुआ स्वतः अचेतन है अथवा सांख्यकों के समान नित्य चैतन्य स्वरूप ही है। इस प्रकार वादियों के विपरीत कथनों से संशय होता है। तो क्या प्राप्त हुआ ?

इसका अभिप्राय यह है कि कणाद के मत से आत्मा में चेतना आगन्तुक है। अर्थात् कहीं बाहर से आती है और सांख्य आत्मा को नित्य चैतन्यस्वरूप मानता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस प्रकार परस्पर विरोधी भावों का समाधान करने के लिए वेदान्त दर्शन में यह सूत्र कहा गया है।

हमारा यह मत है कि ये सब सूत्र उन जड़वादियों के खण्डन में लिखे हैं जो शरीर को ही चेतन-स्वरूप हो जाने का मत प्रकट करते हैं। कणाद और सांख्य का नाम स्वामी शंकराचार्य ने इन दोनों की निन्दा करने के लिए लिख दिया है। कणाद आत्मा को ऐसा नहीं मानता, जैसाकि स्वामीजी ने यहाँ प्रकट किया है।

महर्षि कणाद ने आत्मा के विषय में यह लिखा है—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि। (वै० द० ३-२-४)

प्राण अपान लेना, पलक खोलना और बन्द करना, जीवन, मन की गति, इन्द्रियों के विकार, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—आत्मा के ये लिंग हैं।

लिंग का अर्थ है कि वे चिह्न जिनसे आत्मा का ज्ञान होता है, जैसे धुआँ देखकर अग्नि का ज्ञान होता है।

यहाँ यह समझने की बात है कि धुएँ से अग्नि का निर्माण नहीं होता अथवा अग्नि में तेज और प्रकाश धुएँ से उत्पन्न नहीं होता।

अतः इन्द्रियों के विकार से आत्मा में चेतनता उत्पन्न नहीं होती। इन्द्रियों के विकार तथा मन की गति से आत्मा के अस्तित्व का पता चलता है।

कणाद यह नहीं मानता कि इन्द्रियों से अथवा मन से जीवात्मा में चेतनता आती है। स्वामीजी ने कणाद के वैशेषिक का कोई प्रमाण नहीं दिया। कदाचित् स्वामीजी का आशय वैशेषिक दर्शन के इस सूत्र से है—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्॥ (वै० द० ३-२-१)

परन्तु इससे स्वामीजी की बात सिद्ध नहीं होती।

इस सूत्र का अर्थ यह है कि आत्मा और इन्द्रियों के विषय का सम्बन्ध होने पर मन में ज्ञान होना और न होना दिखाई देता है।

यह मन में ज्ञान और अज्ञान के विषय में लिखा है। जब आत्मा और इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है तब मन में ज्ञान होता है अथवा ज्ञान का अभाव होता है।

इन्द्रियाँ तो जड़ हैं। अतः आत्मा के चेतन होने के कारण ही इन्द्रियाँ मन को ज्ञान दे सकती हैं।

शंकराचार्य का यह कहना है कि इन्द्रियों के बिना आत्मा जड़ है, यह उपर्युक्त सूत्र से सिद्ध नहीं होता।

सांख्य के विषय में हम पहले ही लिख चुके हैं कि सांख्य मानता है आत्मा चेतन है, परन्तु ईश्वर कर्ता, धर्ता, स्रष्टा है।

यदि स्वामीजी की अनर्गल बातों के विषय में ही लिखने लगें तो निस्संदेह एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखना पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्क्रांतिगत्यागतीनाम् ॥१९॥

उत्क्रान्तिः+गति+आगतीनाम् ।

नीचे की योनियों से उन्नति अर्थात् निम्न कोटि की योनियों से श्रेष्ठ योनियों में जाना और वहाँ से लौट आना होता है। यह जीवात्मा के विषय में कहा गया है। इसी को आवागमन कहते हैं। मरना, जन्म लेना, फिर मरना इत्यादि जीवों (प्राणियों) के साथ होता है। नित्य जीवात्मा इन गतियों में आता जाता है।

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२०॥

स्व+आत्मना+च+उत्तरयोः ।

स्व+आत्मना=अपने आत्मा के साथ सम्बद्ध होने से। उत्तरयोः=दोनों जो आगे होने वाले हैं। अभिप्राय यह कि गति और अगति होती है।

उत्तरयोः का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने अगले लोक में जाने से किया है। भावार्थ एक ही है। भाव यह है कि आत्मा आता-जाता है, भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेता है। इस कारण यह परमात्मा नहीं है। परमात्मा के सर्वव्यापक होने से उसका जाना और आना अथवा एक लोक से दूसरे लोक में जाना नहीं हो सकता।

'स्वात्मना' का अर्थ है कि अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से। किसका, किसके साथ सम्बन्ध होने से? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका उत्तर है कि जब जीवात्मा में गति-अगति होती है तो मोक्ष-प्राप्ति की अवस्था को छोड़कर जीवात्मा सदा गति-अगति में शरीर (सूक्ष्म अथवा स्थूल) के साथ सम्बद्ध रहता है। अतः हमारा मत है कि इस सूत्र में स्वात्मना का अर्थ है कि सूक्ष्म शरीर अपने आत्मा के साथ गति-अगति करता है।

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२१॥

न+अणुः+अतच्छ्रुतेः+इति+चेत्+न+इतर+अधिकारात् ।

यह अणु-मात्र नहीं। (ऐसा श्रुति में लिखा कहा जाता है।) यदि यह कहो तो नहीं। दूसरे के अधिकार से।

कुछ लोग कहते हैं कि यह लिखा है कि यह (आत्मा) अणु नहीं। अर्थात् यह विभु है। सूत्रकार कहता है कि ऐसा कहो तो ठीक नहीं। यह अणु है। जहाँ कहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा को विभु, सर्वव्यापक माना है वहाँ दूसरे अधिकार से है अर्थात् वहाँ किसी अन्य (परमात्मा) का विषय है।

आत्मा शब्द जीवात्मा के लिए भी प्रयुक्त होता है और परमात्मा के लिए भी। जहाँ परमात्मा के लिए प्रयुक्त होता है वहाँ इसे विभु कहा जाता है।

इन सूत्रों के भाष्य में श्री स्वामीजी को सूत्रकार का मन्तव्य स्वीकार करना पड़ा है। उदाहरण के रूप में श्री स्वामीजी इसी सूत्र (२-३-२१) के भाष्य में लिखते हैं।

अथापि स्यान्नाणुरयमात्मा। कस्मात्? अतच्छ्रुतेः। अणुत्वविपरीतपरिमाणश्रवणादित्यर्थः। 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४-४-१२), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः,' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१-१) इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरात्मनोऽणुत्वे विप्रतिषिध्येतेति चेत्— नैष दोषः, कस्मात्? इतराधिकारात्। परस्य ह्यात्मनः प्रक्रियायामेषा परिमाणान्तरश्रुतिः, ……

अर्थात्—इस पर भी शंका होती है कि यह आत्मा अणु नहीं है। क्योंकि श्रुति में ऐसा कहा है। अणु परिमाण के विपरीत परिमाण है, ऐसा सुने जाने के कारण। 'वह महान् अजन्मा आत्मा है, जो वह प्राणों में विज्ञानमय है,' 'वह आकाशवत्, सर्वगत और नित्य है,' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' इस प्रकार श्रुतियाँ आत्मा को अणु मानने के विरुद्ध हैं। ऐसा यदि कहो तो यह दोष नहीं। क्योंकि इतर का अधिकार है— परमात्मा के प्रकरण की श्रुतियाँ हैं।

यहाँ तो स्वामीजी ने भी स्वीकार कर लिया है कि परमात्मा जीवात्मा से इतर है।

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥२२॥

स्वशब्द + उन्मानाभ्याम् + च।

जब जीवात्मा का वर्णन आता है तो प्राणी अपना आत्मा, ऐसा कहता है। अभिप्राय यह कि प्रत्येक प्राणी का अपना-अपना जीवात्मा है। इससे और इसका नाप होने से यह सीमा वाला है। इसी से इसे अणु-मात्र कहा है। अणु का अभिप्राय है कि बहुत ही सूक्ष्म।

परमात्मा को तो 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' : (ब्र० सू० १-३-१०) ऐसा लिखा है। यह आकाश के अन्त तक धारण करता है। आकाश अनन्त है। इस कारण परमात्मा भी अनन्त है, परन्तु जीवात्मा के विषय में यह लिखा है कि यह अणुमात्र है।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो…(मुण्ड० ३-१-९)

यह आत्मा अणु बराबर चेतन कहा जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२३॥

अविरोधः+चन्दनवत् ।

चन्दन की गन्ध की भाँति (इसके अणु होने पर भी पूर्ण शरीर में कार्य कर सकने में) विरोध नहीं।

यहाँ उपमा बहुत उपयुक्त नहीं दी गयी। चन्दन की सुगन्ध और आत्मा का शरीर में कार्य एक समान नहीं। उपमा पूर्ण अंगों में ठीक नहीं। यह बात सूत्रकार को भी अनुभव हुई प्रतीत होती है। इसी कारण अपनी बात को समझाने के लिए सूत्रकार ने एक अन्य सूत्र (२-३-२४) लिख दिया है।

इस पर भी एक अंश में उपमा ठीक बैठती है। चन्दन कमरे के एक कोने में पड़ा हो तो इसकी गन्ध पूर्ण कमरे में फैल जाती है। इसी प्रकार जीवात्मा हृदय की गुहा में रहता है, परन्तु इसका कार्य पूर्ण शरीर में होता है।

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥२४॥

अवस्थितिवैशेष्यात्+इति+चेत्+न+अभ्युपगमात्+हृदि+हि।

(चन्दन की) स्थिति की विशेषता से। यदि यह कहो तो ठीक नहीं। (क्योंकि) हृदय देश में (आत्मा की) स्थिति स्वीकार की गयी है।

चन्दन की विशेष स्थिति यह है कि चन्दन के अंश उड़कर दूसरे स्थानों पर जाते हैं। तब इसकी सुगन्धि वहाँ अनुभव होती है। आत्मा के अंश तो टूट-टूटकर शरीर में अन्य स्थानों पर नहीं जाते। यह विशेष स्थिति है। इससे यदि कहो कि आत्मा पूर्ण शरीर में होना चाहिए तो यह नहीं। हृदय स्थल में ही यह स्वीकार किया गया है और यह हृदय (मस्तिष्क) से, वात शिराओं (nerves) से, पूर्ण शरीर से सम्बन्धित है। इस कारण आत्मा को अणु-मात्र मान लेने से इसके शरीर में कार्य का विरोध (आपत्ति) नहीं।

यहाँ सूत्रकार ने स्वामी शंकराचार्य के मत 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' को स्वीकार नहीं किया। यदि जीवात्मा परमात्मा ही होता तो उसके अणु-मात्र मानने में कोई तत्त्व नहीं रह जाता। न ही 'चन्दनवत्' इत्यादि उदाहरणों की आवश्यकता थी।

गुणाद्वा लोकवत् ॥२५॥

गुणात्+वा+लोकवत् ।

गुणात्=गुण से। वा=अथवा। लोकवत्=लोक में जैसे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारणीय विषय यह उपस्थित है कि जीवात्मा को यदि अणु परिमाण वाला मानें तो वह पूर्ण शरीर पर आधिपत्य कैसे रखे हुए है ?

सूत्रकार ने एक उपमा दी है। जैसे चन्दन की गन्ध फैल जाती है, परन्तु इस उपमा से पूर्ण परिस्थिति को प्रकट न कर सकने के कारण उसने व्याख्या कर दी। कहा कि चन्दन की विशेष (एक बात) में समानता है—सुगन्धि का फैल जाना। वैसे आत्मा हृदय (मस्तिष्क) की एक गुहा में रहा माना जाता है और मस्तिष्क पूर्ण शरीर से शिराओं के द्वारा जुड़ा हुआ है। इस कारण आत्मा अणु होते हुए भी पूर्ण शरीर पर अधिकार रखता है।

कैसे अधिकार रखता है ? लिखा है कि आत्मा अपने गुणों से शरीर पर शासन करता है। आत्मा का गुण है कि यह चेतन है। ईक्षण रखता है।

साथ ही यह कह दिया कि जैसे लोक में एक अधिकारी नगर पर अधिकार रखता है। आत्मा की सेवा के लिए मन, बुद्धि और दस इन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा यह पूर्ण शरीर पर ऐसे राज्य करता है जैसे कि राजा अपने कर्मचारियों द्वारा देश पर राज्य करता है।

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

व्यतिरेकः+गन्धवत्।

व्यतिरेकः=पृथक् होना। गन्धवत्=गन्ध की भाँति।

जैसे गन्धयुक्त वस्तु से गन्ध पृथक् हो, अपना प्रभाव दिखाती है, वैसे ही आत्मा का प्रभाव आत्मा से पृथक् स्थान पर देखा जाता है। यह इन्द्रियों द्वारा होता है।

पिछले सूत्र में 'गुणात्' शब्द आया है। अर्थात् आत्मा का गुण 'ईक्षण' पूर्ण शरीर पर दिखायी देता है। गुण का प्रभाव लोकवत् होता है। अर्थात् जैसे राजा कर्मचारियों द्वारा अपने गुणों का प्रदर्शन प्रजा पर करता है, वैसे ही आत्मा, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा शरीर पर अपने गुणों का प्रभाव उत्पन्न करता है।

परन्तु वर्तमान सूत्र में गुणों की गन्ध से तुलना नहीं की। गन्ध की तुलना राज्य के उन कर्मचारियों से की है जो राजा के गुण पहुँचाते हैं।

गन्ध फूल अथवा चन्दन का गुण नहीं। गन्ध तो फूल अथवा चन्दन में एक प्रकार का तेल (essential oil) होता है। वह तेल (essential oil) उड़ने वाला होता है। उस तेल का गुण गन्ध है और यह तेल उड़कर जहाँ जाता है वहाँ यह गन्ध अनुभव होती है। अतः फूल की सुगन्धि जब सूँघने वाले के पास पहुँचती है तो वास्तव में उस फूल का तेल फूल से उड़कर सूँघने वाले के पास जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कारण फूल और सुगन्धि वाले तेल का वह सम्बन्ध है जो राजा और उसके कर्मचारी का है।

अतः हमने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है। गन्ध की भाँति पृथक् हो जाता है। कौन पृथक् हो जाता है? ईक्षण गुण वाला आत्मा, प्रभाव ले जाने वाली इन्द्रियों से। प्रभाव गुण नहीं है। प्रभाव गुण का लक्षण है। यह पदार्थ से पृथक् हो सकता है, गुण नहीं।

यही इसका गुण है। गुण इन्द्रियों द्वारा पूर्ण शरीर पर प्रकट होता है जैसे फूल की गन्ध का प्रभाव प्रकट होता है।

तथा च दर्शयति ॥२७॥

तथा+च+दर्शयति।

तथा=वैसा। च=ही। दर्शयति=देखने में आता है। कहाँ देखने में आता है? वेदादि शास्त्रों में, अथवा सांसारिक कार्यों में।

उदाहरण के रूप में श्वेताश्वतर उपनिषद् में जीवात्मा के विषय में लिखा है—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥
बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भोगो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

(श्वेता० उ० ५-७, ९)

अर्थ है—जो गुणयुक्त, फलप्रद कर्मों का करने वाला, किये कर्मों का भोगने वाला है, वह विश्व रूप विभिन्न रूपों, तीन गुणों और तीन मार्गों पर गमन करने वाला है। प्राणों का स्वामी अपने कर्मों से जन्म-जन्मान्तरों में घूमता है।

वह (जीवात्मा) बाल के अग्र भाग के सौवें भाग के भी सौवें भाग के बराबर कल्पित किया गया है। यह भाग परिमाण है जीव का। ऐसा जानना चाहिए। वह (जीवात्मा) अनन्त मार्ग पर जाने वाला माना जाता है।

अन्य स्थानों पर भी जीवात्मा को अति सूक्ष्म ही माना है।

लोकवत्, इसका प्रभाव शरीर के दूर-दूर अंगों में भी शरीर के करणों द्वारा पहुँचता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथगुपदेशात् ॥२८॥

पृथक्+उपदेशात्।

जीवात्मा का परमात्मा से पृथक् में उपदेश (वर्णन) है। अर्थात् जीवात्मा को परमात्मा नहीं कहा गया। यह परमात्मा से पृथक् है।

यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(कठो० १-३-१३)

अर्थात्—बुद्धिमान् मनुष्य मन, वाणी को रोके (संयत करे)। उस मन, वाणी को बुद्धि में रोके। उस बुद्धि को महान् (अर्थात् मन, वाणी, बुद्धि से बड़े) आत्मा में रोके और उसको परमात्मा से जोड़े।

एक अन्य स्थान पर भी लिखा है—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥

(कठो० २-३-७, ८)

अर्थात्—इन्द्रियों से मन बलवान् है। मन से बुद्धि बलवान् है। बुद्धि से बड़ा आत्मा (जीवात्मा) है। इससे बड़ा उत्तम अव्यक्त (परमात्मा) है।

इस अव्यक्त को बड़ा पुरुष (परमात्मा) कहते हैं, जो लिंगों से रहित है। उसे जानकर जीवात्मा अमृत को प्राप्त कर लेता है।

इन उदाहरणों में जीवात्मा और परमात्मा में भेद बताया है।

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

तत्+गुणसारत्वात्+तु+तत्+व्यपदेशः+प्राज्ञवत्।

तत्=उसका। गुणसारत्वात्=गुण की प्रधानता से। तु=तो। व्यपदेशः=कथन। प्राज्ञवत्=चेतन की भाँति (है)।

यह कहा गया है कि अपने विशेष गुणों के कारण वह शरीर में व्याप्त रहता है। जैसे चेतनता शरीर में सर्वत्र रहती है।

आत्मा अणुमात्र है, परन्तु अपने विशेष गुणों के कारण पूर्ण शरीर में यह व्याप्त प्रतीत होता है। पूर्ण शरीर चेतन अनुभव होता है।

प्राज्ञ – चेतनता का नाम है। आत्मा पूर्ण शरीर में व्यापक नहीं। इस पर भी यह पूर्ण शरीर का अनुभव (ज्ञान) रखता है। यह अपने विशेष गुणों के कारण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥३०॥

यावत्+आत्मभावित्वात्+च+न+दोषः+तत्+दर्शनात्।

यावत्=जब तक। आत्मभावित्वात्=आत्मा का होना है। च=और। न=नहीं। दोषः=दोष। तत्=उसके। दर्शनात्=दर्शन से।

इस सूत्र के लिखने में प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि कुछ लोग कहते हैं कि जब तक जीवात्मा इस शरीर में है, तब तक ही वह कार्य करता है।

शरीर छूट जाने पर वह अस्तित्वहीन हो जाता है। अर्थात् जीवात्मा विना शरीर के कुछ भी नहीं कर सकता। तो फिर उसके दर्शन का क्या लाभ है? शरीर का ही ज्ञान आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में सूत्रकार का कहना है कि नहीं, यह ऐसा नहीं है। जब तक यह शरीर में अस्तित्व रखता है, इसकी भावित्वात् (विद्यमानता) है, तब तक इसके दर्शन में 'दोष' नहीं। अर्थात् इसके दर्शन व्यर्थ नहीं।

यह पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि जीवात्मा नित्य है। अतः इसका दर्शन दोषयुक्त अथवा व्यर्थ नहीं।

कुछ भाष्यकारों ने यह लिखा है कि आत्मा की विद्यमानता तो बुद्धि और मन के संयोग से दिखाई देती है और बुद्धि तथा मन, शरीर के नष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं। इस कारण आत्मा की विद्यमानता शरीर के नाश होने पर नहीं रहती।

यह अर्थ इस सूत्र से निकलते नहीं। आत्मा के 'भावित्वात्' का अभिप्राय केवल इतना है कि आत्मा की विद्यमानता है। यह किस कारण है, इसका उल्लेख इस सूत्र में नहीं। बुद्धि तथा मन को इन भाष्यकारों द्वारा व्यर्थ में साथ जोड़ दिया गया है।

यद्यपि हम यह मानते हैं कि मन, जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा के साथ रहता है और स्वामी ब्रह्म मुनिजी का विचार है कि बुद्धि गुण रूप में मोक्षावस्था में भी साथ रहती है; परन्तु हमारा तो यह कहना है कि इसका सम्बन्ध इस सूत्र के साथ नहीं।

इसमें तो इतना ही लिखा है कि आत्मा की विद्यमानता सदैव रहने से इसके दर्शन से दोष नहीं अर्थात् गुण है। मोक्ष प्राप्ति में दर्शन से लाभ होता है।

हमारा मत बुद्धि के विषय में यह है कि जागृत अवस्था में जीवात्मा स्वतः विना मन और बुद्धि के भी अपना अस्तित्व रखता है। बुद्धि और मन तो जड़ हैं। ये जीवात्मा की चेतनता को प्रखर कर देते हैं। यह इसी प्रकार है जैसे कि बोलने वाले के शब्द को 'लाऊडस्पीकर' ऊँचा कर देता है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इनके बिना जीवात्मा स्वतः कुछ नहीं। जीवात्मा चेतन होने के कारण स्वतः चेतन कार्य करने के योग्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो लोग जीवात्मा को परमात्मा का अज्ञानी हुआ अंश मानते हैं, उनकी बात तो समझ में आती है। वे बुद्धि और मन से परमात्मा को अज्ञानी हो गया समझते हैं।

परन्तु यह शास्त्रीय कथन नहीं। युक्ति और शास्त्र का मत वही है कि जीवात्मा चेतन तत्त्व है और यह ज्ञानवान् है। अतः इसकी चेतना सर्वत्र और सदैव रहती है यह केवल सुषुप्ति अवस्था में नहीं होती। यह अवस्था जगत् के प्रलय-काल में होती है। उस समय जीवात्मा सक्रिय नहीं रहता।

अतः इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार बनता है—

जब तक जीवात्मा 'भावित्वात्' (की विद्यमानता है) इसके (जीवात्मा के) दर्शन=साक्षात्कार में दोष नहीं आता।

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥३१॥

पुंसत्व+आदिवत्+तु+अस्य+सतः+अभिव्यक्तियोगात्।

पूर्व सूत्र में यह बताया गया है कि जीवात्मा अपने गुणों से चेतन होता है। इस सूत्र में यह कहा है कि सुषुप्ति अवस्था में भी जीवात्मा की चेतनता नष्ट नहीं होती। वह उसमें वैसे ही रहती है जैसे मनुष्य की प्रत्येक अवस्था में पुंसत्व रहता है।

वीर्य और पुंसत्व तो बाल्याकाल में भी रहता है, परन्तु इसकी अभिव्यक्ति यौवनकाल में ही होती है। इसी प्रकार जीवात्मा में चेतना सदैव रहती है, परन्तु उस चेतनता की अभिव्यक्ति केवल मात्र जागृत अवस्था में दिखाई देती है। तब यह सक्रिय होता है।

अतः इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार बनता है—

इसकी (चेतनता की) तो अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) होती है जागृत अवस्था में। पुंसत्व की भाँति अर्थात् पुंसत्व सदैव रहता है। यद्यपि इसका प्रकटीकरण यौवनकाल में होता है।

हमारा विचारित मत यही है कि उक्त सूत्र (२-३-३०) में शब्द भावित्वात् का अर्थ है जागृत अवस्था में विद्यमानता। इसमें बुद्धि इत्यादि के साथ होने अथवा न होने की बात नहीं है। जब तक इसकी जागृत अवस्था में विद्यमानता है तब तक प्राज्ञ (चैतन्यता) रहती है और इस सूत्र (२-३-३१) में यह बताया है कि यह चेतनता सुषुप्ति अवस्था में भी रहती है, जैसे बाल्यकाल में पुंसत्व। अभिप्राय यह कि जीवात्मा में चेतनता नित्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥३२॥

नित्योपलब्धि+अनुपलब्धि +प्रसंगः+ अन्यतरनियमः+वा+अन्यथा।

उपलब्धि से अभिप्राय है विषयों की अनुभूति; और अनुपलब्धि से अभिप्राय है विषयों का अनुभव न करना। ये गुण जीवात्मा के साथ नित्य अर्थात् सदा रहते हैं। प्रसंग का अभिप्राय है सन्दर्भ में। अन्यतरनियम से अभिप्राय है कि परमात्मा और जीवात्मा, दोनों में से एक। अर्थात् जीवात्मा के द्वारा नियमन। अर्थात् दूसरे से नियन्त्रण (मानना पड़ेगा)। वा—अथवा। अन्यथा—दूसरी प्रकार से नहीं तो।

पूर्ण सूत्र का अर्थ बनता है कि जीवात्मा में विषयों की उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि नित्य है। इसको अनुभव करने अथवा न करने का सामर्थ्य सदा रहता है, क्योंकि यह शरीर का अधिष्ठाता है।

अभिप्राय यह है कि जीवात्मा की विषयों को अनुभव करने की सामर्थ्य अथवा न अनुभव करने की सामर्थ्य नित्य है। एक सीमा तक तो यह अनुभव कर सकता है और उस सीमा से ऊपर अनुभव नहीं करता। यह सामर्थ्य और असमर्थता नित्य अर्थात् सदा रहने वाली है। नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि वह अपने कर्मों में स्वतन्त्र नहीं है।

सूत्र में अन्य से मन अथवा बुद्धि भी हो सकते हैं और वह परमात्मा भी हो सकता है, परन्तु ऐसा है नहीं। यदि ऐसा मानेंगे तो जीवात्मा अपने भले-बुरे कार्य के फल का भोक्ता नहीं रह जाएगा और धर्म-अधर्म का, पुण्य-पाप का, जीवात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य को अधिकार हो जाएगा।

यह सिद्ध हो चुका है कि परमात्मा तो शक्ति देता है और उस शक्ति का प्रयोग अथवा दुरुपयोग जीवात्मा अपनी जिम्मेदारी पर करता है।

अतः इस सूत्र को ऊपर के सूत्रों की श्रृंखला में ही समझना चाहिए। स्वामी शंकराचार्य प्रभृति भाष्यकार इन सूत्रों से यह सिद्ध कर रहे हैं कि जीवात्मा स्वयं अनुभव नहीं करता। बुद्धि और मन ही इसमें साधन हैं। वह इस सूत्र का अर्थ बदल कर करते हैं।

उनका कहना है कि जीवात्मा की नित्य उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि का विषय दूसरे के नियमन के कारण है। नहीं तो कुछ अन्य बात मानी जाएगी। वह बात क्या मानी जाएगी? उन्होंने बताया नहीं।

हमारे अर्थ में और इस अर्थ में अन्तर यह है कि हम उपलब्धि और अनुपलब्धि को सामर्थ्य से जोड़ते हैं। जीवात्मा अल्प-सामर्थ्य है, इस कारण इसे असीम कुछ भी उपलब्ध नहीं। इसकी उपलब्धि की सीमा है। अतः उपलब्धियाँ और अनुपलब्धियाँ दोनों ही चलती हैं। इनका सम्बन्ध मन, बुद्धि से नहीं, वरन् आत्मा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामर्थ्य से है। यदि यह नहीं मानते तो इस पर किसी दूसरे का नियन्त्रण माना जाएगा और प्राणी के कर्मों का फल जीवात्मा के स्थान उस नियन्त्रण करने वाले तत्त्व को होगा।

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥३३॥

कर्ता+शास्त्र+अर्थवत्त्वात्।

(जीवात्मा) कर्ता है। शास्त्र के अर्थ के अनुकूल होने से।

अर्थात्—शास्त्र भी यही कहता है कि जीवात्मा कार्य करने का उत्तरदायित्व रखता है। यह किसी के आदेश से कार्य नहीं करता। शास्त्र (वेद) में इसको अनेक स्थान पर ऐसा करने वाला माना है ? कैसे ! वेद कहता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(यजु० ४०-२)

अर्थात्—मनुष्य को कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार तुम्हारे (मनुष्य के) लिए दूसरा कोई मार्ग ही नहीं। ऐसा करते हुए कर्म में लिप्त न हों।

विहारोपदेशात् ॥३४॥

विहार+उपदेशात्।

विहार (इच्छानुसार कर्म) करने का उपदेश होने से।

इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा को कर्म करने की स्वतन्त्रता है।

विहार का अर्थ है स्वेच्छा से आचरण करना। शास्त्र प्राणी में आत्मा को स्वतन्त्रता से कार्य करने की व्यवस्था करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है—

...एवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते।

(बृ० २-१-१८)

अर्थात्—ऐसे ही यह (आत्मा) इन इन्द्रियों से अपने शरीर में यथेच्छा से विचरता है।

इसी प्रकार अन्य उद्धरण भी दिए जा सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपादानात् ॥३५॥

उपादान से भी (यही सिद्ध होता है)।

उपादान का अर्थ है वे पदार्थ जो आत्मा अपने कार्य करने में प्रयोग लाता है। शरीर में आत्मा निम्न करणों का प्रयोग करता है। करण हैं दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि। ये जड़ पदार्थ हैं। इसी कारण इनको उपादान कहा है।

मनुष्य अपनी इन्द्रियों का स्वेच्छा से प्रयोग करता है। वह अपने हाथ से अपने पुत्र को प्यार भी दे सकता है और पीट भी सकता है। इसी प्रकार सब करणों के विषय में कहा जा सकता है।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥३६॥

व्यपदेशात्+च+क्रियायां+न+चेत्+निर्देश+विपर्ययः।

और कहने से क्रिया में (आत्मा स्वतन्त्र है), यदि नहीं तो इसके निर्देशन के विपरीत (कार्य) हो जायेगा।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई कहता है कि मैं बम्बई जाऊँगा और जाता है तो इस पर यदि यह कहो कि वह अपनी इच्छा और कहने से नहीं जाता तो यह अयुक्त होगा। अर्थात् वह अपनी इच्छा से ही जाता है। यदि यह नहीं मानते तो मनुष्य इच्छा करे बम्बई जाने की और जा पहुँचे कलकत्ता।

अर्थात् क्रियाएँ उसकी इच्छानुसार ही होती हैं और जैसा वह निर्देश करता है वैसा ही कर्म हो जाता है।

अनेक बार यह देखा जाता है कि बुद्धि तो एक बात कहती है, परन्तु आत्मा की इच्छा बुद्धि की सम्मति के विपरीत होती है। इस पर भी क्रिया तो आत्मा के आदेशानुसार ही होती है। यदि बुद्धि कर्मों पर शासन करती तो आत्मा के आदेश से अन्य हो जाता।

उदाहरण के रूप में कभी रोगी मिष्ठान्न खाने की इच्छा करता है। बुद्धि उसे यह बताती है कि मिष्ठान खाने से रोग में वृद्धि होगी, परन्तु आत्मा हाथों को आदेश देता है कि लाओ और मुख में डाल दो। कार्य होता है। जैसी बुद्धि की सम्मति थी, उसके विपरीत भी हो जाता है।

अतः सूत्रकार कहता है कि क्रिया वैसी ही होती है जैसी आत्मा कहता है। यदि आत्मा के अतिरिक्त कोई अन्य कराने वाला होता तो आत्मा के निर्देश के विपरीत कार्य हो जाता।

इच्छा, मन अथवा बुद्धि का लक्षण नहीं बताया। यह जीवात्मा का लक्षण (लिङ्ग) है। मन का कार्य है संस्कार संचय करना। बुद्धि सम्मतिदाता है। कार्य जीवात्मा कर्मेन्द्रियों द्वारा करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्धिवदनियमः ॥३७॥

उपलब्धिवत् + अनियमः ।

उपलब्धि का अर्थ है कर्म के फल की अनुभूति। यह अनुभूति प्रिय और अप्रिय दोनों की होती है । यह नियम नहीं कि यह सदा प्रिय ही हो । यद्यपि मनुष्य प्रिय की इच्छा करता है, परन्तु यह होती नहीं । क्यों ऐसा नहीं होता ? जब आत्मा स्वतन्त्र है तो यह अप्रिय को क्यों प्राप्त होता है ?

सूत्रकार कहता है कि अप्रिय और प्रिय की प्राप्ति सर्वथा निश्चित नहीं और इसका कारण यह है कि आत्मा के काम भी अनिश्चित हैं । जैसे इसके कर्म अनियमित हैं. वैसे ही उपलब्धियाँ नियम से नही होतीं । यह जैसा करता है, वैसी ही उपलब्धि इसकी होती है ।

इसका क्रियाओं के विषय में आदेश अनियमित है; इसी कारण इसकी उपलब्धियाँ (कर्म फल) भी अनियमित हैं ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि यह चेतन है, फिर इसकी क्रियाएँ अनियमित क्यों हैं ?

इसका समाधान सूत्रकार इस प्रकार करता है—

शक्तिविपर्ययात् ॥३८॥

शक्ति + विपर्ययात् ।

शक्ति के उलट हो जाने से ।

शक्ति से अभिप्राय है करणों की कार्य-सामर्थ्य । दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि कितने सबल, श्रेष्ठ और कुशल हैं, उस पर आत्मा के कार्य की श्रेष्ठता, पूर्णता एवं दिशा निर्भर है और फिर वही उपलब्धियों का आधार है । करणों की कार्य-सामर्थ्य न केवल न्यूनाधिक होती रहती है, वरन् यह कभी ठीक दिशा में भी कार्य नहीं करती । इस कारण क्रियाएँ अनियमित होती हैं और उपलब्धियाँ भी अनियमित होती हैं ।

अन्य भी कारण बताया है ।

समाध्यभावाच्च ॥३९॥

च + समाधि + अभावात् ।

और समाधि के अभाव से भी कर्मों का निर्देश अनियमित है और उपलब्धियाँ भी अनियमित होती हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा द्वारा बुद्धि का किसी कार्य-विशेष पर केन्द्रित कर सकना ही समाधि है। जितना बुद्धि का केन्द्रीयकरण कम होगा, उतना ही आत्मा के निर्देश शिथिल और मिथ्या दिशा में होंगे और उपलब्धियाँ भी अनियमित होंगी।

इसमें एक उदाहरण भी दिया है।

यथा च तक्षोभयथा ॥४०॥

च+यथा+तक्षः+उभयथा।

और जैसे बढ़ई दोनों बातें कर सकता है। अर्थात् काम करे अथवा न करे। करण ठीक होते हुए भी जीवात्मा उन द्वारा कार्य नहीं करता अथवा समय पर कार्य नहीं करता। इससे भी उपलब्धियों में अनियमितता हो जाती है।

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥४१॥

परात्+तु+तत्+श्रुतेः।

श्रुते=यह श्रुति में वर्णित है। परात्=दूसरे से (यह होता है)। क्या होता है? करणों में शक्ति परमात्मा की मानी गई है। इस कारण आत्मा स्वतन्त्र होता हुआ भी उन करणों से ही काम करता है जो करण परमात्मा के दिए हुए हैं। परमात्मा इन करणों में शक्ति देता है आत्मा के पूर्व जन्म के कर्मफल के अनुसार। दुर्व्यसनों से यह करणों की शक्ति छिन भी जाती है।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।

(ऋ० १०-१२१-३)

जो (प्राणतः) इन्द्रियों में प्राण अर्थात् शक्ति देता है; (निमिषतो) आँखों में झपकने की शक्ति देता है; (इन्द्राजा) सब जगत् पर शासन करता है; जैसे राजा शासन करता है।

भगवद्गीता में और भी अधिक स्पष्ट रूप से लिखा है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(भ० गी० १८-६१)

ईश्वर अपनी (मायया) शक्ति से सब भूतों के यन्त्रों पर आरूढ़ हो उनको चलाता हुआ सब भूतों के हृद्देश में ठहरा रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।।४२।।

कृतप्रयत्न+अपेक्षः+विहितप्रतिषिद्ध+अवैयर्थ्यादिभ्यः+तु ।

किये गए प्रयत्न पर अपेक्षा रखने से विहित और प्रतिषिद्ध (कर्म) की व्यर्थता नहीं होती । अर्थात् उनका उचित फल मिलता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा की अपेक्षा जीवात्मा के कर्मों पर रहती है । इस कारण जीवात्मा के सब प्रकार के विहित अथवा प्रतिषिद्ध कर्मों का फल मिलता है । जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु उन कर्मों का फल परमात्मा देता है ।

उदाहरण के रूप में यजु० (४०-१) में लिखा है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।

अर्थात्—त्याग से भोग करो और किसी के भी धन की इच्छा मत करो ।

और भी लिखा है—

सत्यं वद धर्मं चर । (तैत्ति० १-११-१)

सत्य बोलो और धर्म पर आचरण करो ।

ऊपर सूत्र (२-३-४०) में यह कहा था कि परमात्मा की शक्ति से प्राणी के करण कार्य करते हैं । अगले सूत्र (२-३-४१) में यह बताया है कि परमात्मा के इस शक्ति के दाता होने पर भी जीवात्मा के कर्मों का वह निर्देशन नहीं करता; अर्थात् परमात्मा जीवात्मा के कार्यों पर नियन्त्रण नहीं रखता । जीवात्मा कर्म करने अथवा न करने में सर्वथा स्वतन्त्र है । अब इस सूत्र (२-३-४२) में लिखा है कि वह जीवात्मा के कर्मों पर अपेक्षा रखता है और प्रत्येक कर्म का फल देता है । विहित कर्म अर्थात् शास्त्र में कहे गए करने योग्य कर्म का और प्रतिषिद्ध (करने से मना किए गए) कर्म का भी, सबका उचित फल देता है ।

अपेक्षा का अर्थ निगरानी रखना है ।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयते एके ।।४३।।

अंशः+नानाव्यपदेशात्+अन्यथा+च+अपि+दाशकितवादित्वम्+अधीयते+एके ।

एके=कई एक आचार्य (जीवात्मा को) । अंश=परमात्मा का अंश मानते हैं । नानाव्यपदेशात्=अनेक प्रकार के उपदेशों से । अन्यथा=दूसरे ढंग से । च=और । अपि=भी । दाशकितवादित्वम्=दाशकितव की भाँति । अधीयते=शास्त्रों में पढ़ते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि कई एक आचार्य नाना प्रकार के उपदेशों (कथनों) से एक-दूसरे ढंग से (जीवात्मा को परमात्मा का) अंश मानते हैं। (वे कहते हैं कि) जैसे दाशकितव में अंश होता है वैसे ही जीवात्मा परमात्मा का अंश है।

इस सूत्र में पद—दाशकितवादि के अर्थ भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किए हैं।

हम पहले आचार्य श्री उदयवीर शास्त्रीजी द्वारा किए अर्थों को लिख देते हैं। शास्त्रीजी लिखते हैं—

सूत्र में 'दाश' पद सामान्य स्त्री-परक है। दानार्थक 'दाश' धातु निष्पन्न होता है। दान-गुण के कारण यह स्त्री मात्र 'मादा वर्ग' का बोध कराता है। सन्तानादि का प्रदान और अपने-आपको समर्पण की भावना इसमें निहित है। इसी प्रकार सूत्र का 'कितव' पद पुरुष सामान्य का कथन करता है। यह प्राणी-मात्र के नर-वर्ग का बोध कराता है।

इन अर्थों से श्री शास्त्रीजी इस सूत्र में अंश की तुलना पुत्र के माता-पिता का अंश होने से करते हैं।

स्वामी ब्रह्म मुनिजी इस सूत्र में इसी पद (दाशकितवादित्वम्—अपि—एके—अधीयते) का अर्थ इस प्रकार करते हैं। परमात्मा में दाशत्त्व-भाण्ड धर्म और कितवत्व-जुआरीपन का दोष भी आ जाये; क्योंकि कुछ शाखा वाले पढ़ते हैं कि ब्रह्म दाशा (दासद्) ब्रह्म दासा—(दासद्) ब्रह्म में कितवा उत। 'स्त्री पुंसौ ब्रह्मणौ जातौ' (पैप्पलाद संहिता, ८-१-१०)। संसार में ब्रह्म से दाश—दास—भाण्ड—भड़वे इत्यादि और ब्रह्म से कितव—जुआरी तथा ब्रह्म से स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए। ये सब ब्रह्म हो जावें; यदि ब्रह्म से भिन्न कर्मकर्ता जीवात्मा न हों तो।

अब देखें स्वामी शंकराचार्यजी इसका क्या अर्थ करते हैं।

स्वामी शंकराचार्य के भाष्य के टीकाकार स्वामी सत्यानन्द इस प्रकार लिखते हैं—

सूत्रार्थ—(अंशः) जीव ईश्वर का कल्पित अंश है। (नाना व्यपदेशात्) क्योंकि (य आत्मनि तिष्ठन्) इत्यादि श्रुति में दोनों का भेद व्यपदेश है (अन्यथा चापि) और उसी प्रकार अन्यथा-अभेद का भी व्यपदेश है। कारण कि (एके) एक शाखा वाले (दाशकितवादित्वम्) 'ब्रह्म दाशा' इस प्रकार ब्रह्म में दाशकितवत्व आदि का (अधीयते) पाठ करते हैं।

ब्रह्म में दाशकितवत्व का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ। जीवात्मा में ब्रह्म के दाशकितवत्व का भाव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री स्वामीजी भाष्य में इस प्रकार लिखते हैं—

तथा हि—एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' इत्यादिना।

अर्थात्—जैसे एक आथर्वण शाखा वाले ब्रह्म दाशा (ब्रह्म ही दास धीवर है। ब्रह्म ही ये कितव-जुआरी हैं)।

इन सब अर्थों में श्री उदयवीर शास्त्रीजी के ही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

एक बात स्पष्ट है कि कुछ एक आचार्य जीवात्मा को परमात्मा का ही अंश मानते हैं। कैसे अंश हैं ? यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। एक सर्वव्यापक विभु का अंश कैसे हो सकता है ? स्वामी शंकराचार्यजी तो लिखते हैं कि जैसे अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं। (अग्नि विस्फुलिङ्गयोः); परन्तु सूत्रकार का यह आशय प्रतीत नहीं होता। यहाँ सूत्र में लिखा है (नानाव्यपदेशात्) अंश कई तरह का हो सकता है। सूत्रकार उन कई प्रकारों का वर्णन नहीं करता। उनको उसने पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया है। चिनगारी अग्नि का अंश होती है। यदि जीवात्मा परमात्मा का वैसा ही अंश होता जैसेकि चिनगारी अग्नि का होती है तो दाश और जुआरी की बात करने के स्थान पर तुरन्त इसको कह दिया जाता, परन्तु सूत्रकार ने इसको नहीं लिखा। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमात्मा का वैसा अंश नहीं जैसे चिनगारी अग्नि का होती है। अन्यथा यह तुलना सहज और प्रसिद्ध थी, परन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होती। जीवात्मा परमात्मा का वैसा अंश नहीं, जैसेकि चिनगारी अग्नि का है।

सूत्रकार के मन में क्या है, स्पष्ट नहीं। सूत्रकार ने उदाहरण दिया है। (चापि) और भी। (दाशकितवादित्व) दाशकितव के सम्बन्ध की तरह।

दास का अर्थ सेवक भी है और वह भी है जो दिया जाये। कन्यादान किया जाता है, अतः पत्नी दास कही जा सकती है। कितव पुरुष के लिए भी आता है और जुआरी के लिए भी आता है। अतः यहाँ पुरुष लेना ही ठीक प्रतीत होता है।

अतएव सूत्रकार का उदाहरण यही प्रतीत होता है कि जैसे माता-पिता और पुत्र का सम्बन्ध है वैसे ही परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध है।

माता-पिता और पुत्र का सम्बन्ध केवल शरीर का है। माता-पिता की आत्मा और पुत्र की आत्मा का नहीं।

यहाँ स्नेह के सम्बन्ध से ही अभिप्राय है। माता-पिता का पुत्र से स्नेह का सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध परमात्मा और जीवात्मा का कहा जाता है।

अतः सूत्र के अर्थ इस प्रकार हो जाते हैं—

जीवात्मा (परमात्मा का) अंश है। इसको नाना प्रकार से समझाया गया है। कई एक आचार्य यह बताते हैं कि परमात्मा जीवात्मा का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि माता-पिता का पुत्र के साथ होता है। पुत्र, माता और पिता का अंश है। ऐसा माना जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्रवर्णाच्च ॥४४॥

मन्त्रवर्णात्+च।

च=और। मन्त्रवर्णात्=मन्त्र तथा वर्णों से।

ऊपर (२-३-४३) में लिखा है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है। साथ ही कहा है कि अनेक प्रकार से इस सम्बन्ध का वर्णन किया गया है। एक सम्बन्ध उसी सूत्र में वर्णित है। जैसा माता-पिता और पुत्र का है। हमने इस सम्बन्ध का रूप स्नेह बताया है।

अब इस सूत्र में यह लिखा है कि वेदमन्त्रों में वर्णन किये जाने से। अर्थात् परमात्मा जीवात्मा का सम्बन्ध वेदों में वर्णन किया है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल का १६४वाँ सूक्त और अथर्ववेद के नवम् काण्ड का १०वाँ सूक्त परमात्मा और जीवात्मा के परस्पर सम्बन्धों को भली-भाँति वर्णन करते हैं। परमात्मा और जीवात्मा के कई प्रकार के सम्बन्ध हैं। यहाँ दोनों स्थलों से एक मन्त्र उदाहरण के रूप में देते हैं। एक उदाहरण है ऋग्वेद १६४-२० का, जो इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

(ऋ० १-१६४-२०)

अर्थ है—जीव और परमात्मा प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हैं। ये सयुजा हैं, सखा हैं, परस्पर आलिंगन कर रहे हैं। एक वृक्ष के स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा साक्षी के रूप में देखता है।

दूसरा उद्धरण है—

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान॥

(ऋ० १०-५५-६)

अर्थ है—सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय पर कार्य करने वाले युवक प्राणी-गणों को पालन करने वाला परमात्मा अपने में ले लेता है। वहाँ वह जीव उस (परमात्मा) के ज्ञानमय कौशल को देखता है कि जो कल जीवित था, आज मर जाता है।

इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यह है कि जीवात्मा पर परमात्मा की अपेक्षा रहती है; यद्यपि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपि च स्मर्यते ।।४५।।

और स्मृतियों में भी वर्णन किया गया है? क्या वर्णन किया गया है? परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध। यहाँ स्मृतियों से अभिप्राय उपनिषद् ग्रन्थों से है।

भाष्यकारों ने जीवात्मा को परमात्मा का अंश बताने के लिए स्मृतियों के केवल दो प्रमाण दिये हैं। एक है भगवद्गीता १५-७ और दूसरा है छान्दो० ३-१२-६।

हमारा विचार है कि इन दोनों उदाहरणों में बहुत ही अस्पष्ट रूप में वर्णन किया गया है और इनसे वह अर्थ नहीं निकलते जो अद्वैतवादी सिद्ध करना चाहते हैं। उनका कहना है कि जीवात्मा परमात्मा का एक ऐसा अंश है जैसेकि गुड़ की भेली का गुड़ की एक डली से होता है।

इसमें सुरेश्वराचार्य के एक पद का उद्धरण दिया जाता है—

ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः। सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः।।

ईश और ईशितव्य का सम्बन्ध प्रत्यगात्मा के अज्ञान से उत्पन्न होता है। समयग्ज्ञान होने पर अज्ञान तम के ध्वस्त होने से वह ईश्वरों का भी ईश्वर है।

यह है प्रतिज्ञा अद्वैतवादियों की और इन सूत्रों (२-३-४३, ४४-४५) में ही स्थान था इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने का। युक्ति तो इस सम्बन्ध में है नहीं। प्रमाण भी ठीक नहीं है।

हमने बताया है कि स्वामी शंकराचार्य और अन्य भाष्यकार भी केवल दो प्रमाण दे सके हैं। हम इन दोनों प्रमाणों का विश्लेषण यहाँ करेंगे। पहले छान्दो० उपनिषद् (३-१२-६) को लिख देना चाहते हैं।

यह उपनिषद् इस प्रकार है—

तावानस्य महिमा, ततो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवीति ।।

(छान्दो० ३-१२-६)

इसके ऊपर गायत्री का वर्णन है। उसके विषय में इस मन्त्र में भी लिखा है—

तावानस्य=ऊपर मन्त्र में वर्णित (भगवान् की) की गयी महिमा उतनी है जितनी कि उस गायत्री मन्त्र बोलने से वर्णन की गयी है।

ततो=उस वर्णन से। पुरुषः=परमात्मा। ज्यायांश्च=बहुत बड़ा है।

इसका अभिप्राय है कि गायत्री मन्त्र में परमात्मा की महिमा बहुत बड़ी है, परन्तु वास्तव में महिमा तो उससे भी बड़ी है। सर्वाभूतानि—सब भूत उस परमात्मा का एक पाद हैं और उसके तीन अमृतमय पाद दिव्यमय लोक में हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह व्याख्या है ब्रह्माण्ड की। परमात्मा पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। सर्व भूतानां का अर्थ जीवात्मा नहीं है। इसमें पंच-भौतिक जगत् के पदार्थों की ओर संकेत है जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारागण और चराचर सृष्टि सब आते हैं और जड़ कार्य-जगत् भी।

यह पूर्ण चराचर जगत् 'सर्वभूतानि' से अभिप्रेत है। ब्रह्माण्ड के तीन अमृतमय पदों का अभिप्राय है—(१) जीवात्मा—जब ब्रह्मलीन होता है। (२) प्रकृति—जब मूल (अव्यक्त) रूप में होती है और परमात्मा स्वयं। ये तीनों अमृतमय अर्थात् अजा हैं और ये दिव्यलोक में रहते हैं। इसमें जीवात्मा परमात्मा का अंश नहीं लिखा, वरन् जगत्-रचना में अमृत-तत्त्वों से कार्य-जगत् बनने में भिन्न-भिन्न पग बताये हैं। जैसे एक जन्तु चार पाँवों पर खड़ा रहता है वैसे ही पूर्ण ब्रह्माण्ड इन चार पादों पर स्थिर है। एक पाद है सर्व भूतानां। दूसरा जीवात्मा, तीसरा मूल प्रकृति और चौथा परमात्मा स्वयं। यह ही पूर्ण ब्रह्माण्ड है।

अब भगवद्गीता का प्रमाण देते हैं।

उद्धरण है भगवद्गीता १५-७। परन्तु इसका अर्थ समझने के लिए पूर्व के और इसके बाद के श्लोकों का अध्ययन आवश्यक है।

भ० गी० १५-५ का अर्थ इस प्रकार है—

जिनका मोह नष्ट हो गया है, आसक्ति दोष जीता गया है, जो नित्य अध्यात्म में लीन रहते हैं, जिनकी कामनायें नष्ट हो चुकी हैं, ये लोग सुख, दुःख नाम के द्वन्द्वों से विमुक्त होकर (अव्यय) अविनाशी पद को प्राप्त कर लेते हैं।

अब अगला श्लोक इस प्रकार है—(तत्) उस अव्यय पद को न तो सूर्य न ही चन्द्र प्रकाशित करते हैं। अग्नि भी उसे प्रकाशित नहीं करती। उस परम धाम से वे मुक्त जीव वापिस नहीं आते।

इसके उपरान्त है भ० गी० १५-७, जो प्रमाण रूप में अद्वैतवादी देते हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥
(भ० गी० १५-७)

जीव लोके=प्राणी जगत् में। जीवभूतः=प्राणी। मुझ (परमात्मा) सनातन के अंश में। प्रकृति में स्थित मन (अहंकार और पंच-महाभूत) तथा इन्द्रियों से आकर्षित होकर—क्या ?

वह अगले श्लोक (१५-८) में लिखा है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ (भ० गी० १५-८)

जीवात्मा पूर्व शरीर को छोड़ता है तो वह (पूर्व श्लोक के अनुसार प्रकृति आदि से आकर्षित होकर) वायु में गन्ध के समान नये घर में रहने आ जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब इन चारों श्लोकों के अर्थों का समन्वय करें तो पता चलेगा कि जीवात्मा परमात्मा के एक अंश प्राणी-लोक में प्राणियों में एक से दूसरे शरीर में ऐसे जाता है जैसेकि हवा के साथ गन्ध उड़ती हुई एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है। ऐसा तब होता है जबकि जीवात्मा, प्रकृति अर्थात् मन, अहंकार, पंच-महाभूत तथा इन्द्रियों से आकर्षित हो परमात्मा के इस जीव-लोक अंश में आकार फँस जाता है।

और जब मोह, काम, आसक्ति इत्यादि से रहित हो जाता है तो सुख-दुःख के द्वन्द्वों से छूटकर अव्यय धाम में पहुँच जाता है। यह धाम अविनाशी है। वहाँ पहुँचकर जीवात्मायें लौटती नहीं।

जो बात समझने की है वह यह कि १५-७ में मेरा अंश जीवात्मा को नहीं कहा, वरन् जीव-लोक को कहा है। अर्थात् जीव-लोक एक अंश है। बात वही है जो छान्दो० ३-१२-६ में वर्णित है।

अभिप्राय यह कि स्मृतियों में भी जीवात्मा को परमात्मा का अंश इस भाव में नहीं माना, जैसेकि गुड़ की डली गुड़ की भेली का अंश होती है।

कुछ गुणों में समानता है। उन गुणों में भी एक बहुत बड़ा है और दूसरा छोटा, परन्तु कुछ गुण ऐसे भी हैं जो परस्पर नहीं मिलते। इस कारण जीवात्मा परमात्मा से पृथक् है। यहाँ गुड़ की भेली और डली का सम्बन्ध नहीं।

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥४६॥

प्रकाशादिवत्+न+एवं+परः।

प्रकाशादि की भाँति नहीं है, ऐसा परमात्मा।

ऐसा परमात्मा नहीं है। कैसा नहीं है? प्रकाशादि की भाँति। प्रकाशदि का अभिप्राय अग्नि आदि पंच महाभूत हैं।

दूसरे अध्याय के तृतीय पाद के आरम्भ से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का वर्णन आया है। इसके उपरान्त जीवात्मा का वर्णन है। प्रकाशादि से सब पंच भूतों का अभिप्राय है। इनकी भाँति नहीं। कौन? (परः)—परमात्मा।

यहाँ भी अद्वैतवादियों ने भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास किया है। अभी तक जीवात्मा के वर्णन में परमात्मा और जीवात्मा में सम्बन्ध का उल्लेख (२-३-१८ से चलकर इस पाद के पूर्व सूत्र तक) आया है।

अतः प्रकाशादि का अभिप्राय उन सब पदार्थों से है जिनका उल्लेख इस सूत्र में है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवात्मा को परमात्मा का अंश कहा है (२-३-४३)। परन्तु अंश के अर्थ समझा दिये हैं। लिखा है कि दाशकितवा की भाँति ही हैं ये सब सम्बन्ध। यह हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं।

अद्वैतवादी परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध ऐसा मानते हैं जैसाकि श्री विश्वेश्वराचार्य ने बताया है कि अज्ञान में लिप्त परमात्मा ही जीवात्मा है। इस प्रकार का सम्बन्ध मानकर ही अद्वैतवादियों के मन में अपने आप संशय उत्पन्न होता है कि यदि जीवात्मा परमात्मा ही है तो जीवों के दुःख-सुख से परमात्मा भी दुखी और सुखी क्यों नहीं होता ?

इस स्वनिर्मित संशय का उत्तर ही वे लोग इस सूत्र में से ढूँढ़ने का यत्न कर रहे हैं। वे इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं।

स्वामी शंकराचार्यजी इस सूत्र का भाष्य इस प्रकार करते हैं—

यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति, नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रतिजानीमहे। जीवो ह्यविद्यावेशवशाद्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते। नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वाऽस्ति।

जैसे जीव संसार का दुःख अनुभव करता है, वैसे परमात्मा नहीं करता। ऐसी हम प्रतिज्ञा करते हैं। जीव अविद्या के आवेश के बल से देहादि में आत्मभाव-सा प्राप्त कर तत्कृत दुःख से 'मैं दुखी हूँ' इस प्रकार अविद्याकृत दुःख के उपभोग का अभिमान करता है। वैसे परमात्मा को देहादि में आत्म-भाव अथवा दुःखाभिमान नहीं है।

यह प्रतिज्ञा तो ठीक है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है। अज्ञान दूर होने पर जीवात्मा भी दुःख से निवृत्त हो जायेगा, परन्तु वह परमात्मा की भाँति सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वान्तिर्यामी हो जायेगा, सिद्ध नहीं हुआ।

जीवात्मा और परमात्मा में केवल ज्ञान का ही अन्तर नहीं, सामर्थ्य और व्यापकता का भी अन्तर है।

कुछ लोग इस सूत्र (२-३-४६) का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि जैसे प्रकाश में मनुष्य भूल नहीं करता, ऐसे ही परमात्मा पूर्ण ज्ञानस्वरूप होने के कारण भूल नहीं करता और दुःख नहीं पाता।

परन्तु उक्त सूत्र के अर्थ यह बनते नहीं।

सूत्र है—प्रकाशादिन्नैवं परः।

अर्थात्—परमात्मा प्रकाशादि की भाँति ऐसा नहीं। कैसा नहीं ? एक प्रश्न है। इसका उत्तर ये लोग देते हैं जैसे आत्मा है।

'प्रकाशादि की तरह' का अर्थ यह नहीं लगता। जीवात्मा प्रकाशादि की भाँति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है क्या ? जो परमात्मा नहीं। इसके खींचा-तानी से अर्थ ही निकलते हैं 'प्रकाशादि में होने की भाँति ऐसा नहीं परमात्मा'। फिर प्रकाश के साथ आदि का क्या अर्थ है ? यह दूसरा प्रश्न है। अतः यह सर्वथा अयुक्त अर्थ हैं। सूत्र के सीधे और स्पष्ट अर्थ तो यह ही हैं कि प्रकाशादि की भाँति परमात्मा नहीं।

परमात्मा ऐसे नहीं जैसेकि प्रकाशादि।

अन्तर भी स्पष्ट है। प्रकाशादि कृत्रिम हैं। प्रकृति से बने हैं। जीवात्मा भी अणुमात्र है, अल्पज्ञ है और हीन सामर्थ्य वाला है। इस कारण लिखा है कि नहीं, परमात्मा नहीं जैसे प्रकाशादि है। जैसे जीवात्मा और पंचभूत हैं।

इन अर्थों में एक ही बात खटकती है कि प्रकाश कहाँ से आ गया ? पाद के पूर्व भाग में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का वर्णन है। साथ ही जीवात्मा का उल्लेख है, परन्तु प्रकाश एक नया शब्द रख दिया गया है; इस पर भी प्रकाश और अग्नि समभाव प्रकट करते हैं। इस कारण हमने इसका अभिप्राय पंचभूत तथा जीवात्मा लिया है।

स्मरन्ति च ॥४७॥

अर्थ है—स्मरण करते हैं।

अर्थात्—यह स्मृति में भी बताया गया है। स्मृतियों में क्या है ? यही कि परमात्मा प्रकृति के परिणामों, आकाशादि पंचभूतों और जीवात्मा से पृथक् है।

(श्वेता० उप० ४-६)

स्वामी शंकराचार्य भी यह और कठो० ५-११ का उदाहरण देते हैं। सब उदाहरण यह सिद्ध नहीं करते कि जीवात्मा और परमात्मा एक ही प्रकाश की भाँति हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो प्रकाश का कहीं नाम भी नहीं है। हाँ, कठोपनिषद् में प्रकाश का संकेत मिलता है, परन्तु वहाँ भी वह बात सिद्ध नहीं होती, जो स्वामीजी करना चाहते हैं।

यह मन्त्र इस प्रकार है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

(कठो० ५-११)

इसका अर्थ है—जगत् का नेत्र सूर्य लिप्त नहीं होता, जैसे दूसरे नेत्र दोषयुक्त हो जाते हैं। वैसे ही सब प्राणियों में बसा हुआ परमात्मा बाहर के लोक में उपस्थित दुःखों से लिप्त नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु इससे यह सिद्ध कैसे हो गया कि बाहरी नेत्र भी सूर्य हैं और सब भूतात्मा भी परमात्मा हैं।

द्रष्टा के अन्धा हो जाने पर अन्धे को दिखायी नहीं देता और वह दुखी होता है, परन्तु क्या इससे यह सिद्ध हो गया कि द्रष्टा का चक्षु सूर्य ही था।

इसी प्रकार परमात्मा सर्वव्यापक होने से सब प्राणियों में है, परन्तु प्राणी (जीवात्मा) का अपना अस्तित्व है और वह दुःख-सुख में लिप्त होता है अथवा अलिप्त होता है तो अपने प्रयत्न से है। इसका परमात्मा से सम्बन्ध नहीं।

अतः परमात्मा प्रकाशादि की भाँति नहीं है। यही स्मृतियों में लिखा है। प्रकाश आदि से अभिप्राय आकाशादि पंच महाभूत और जीवात्मा हैं।

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८॥

अनुज्ञापरिहारौ+देहसम्बन्धात्+ज्योतिः+आदिवत्।

यहाँ इस सूत्र में आत्मा और परमात्मा में एक अन्य अन्तर बताया है। वह यह कि जैसे जीवात्मा देह में रहता है, वैसे ही परमात्मा भी देह में रहता है। यदि यह कहा जाये कि परमात्मा का देह से संयोग जीवात्मा से अधिक है तो ठीक ही होगा, परन्तु शास्त्र में अनुज्ञा और परिहार जीवात्मा के लिए ही होता है।

यह इस कारण है कि दोनों का देह से सम्बन्धों में अन्तर है वह अन्तर है ज्योतिः आदिवत्। जैसे ज्योति आदि का अन्तर है।

ज्योति आदि से अभिप्राय प्रकाश, अग्नि इत्यादि जिन गुणों का शरीर से अनुभव होना है, उनकी भाँति शास्त्र में विधिनिषेध है।

प्रकाश इत्यादि, देह में अनुभव होने के कारण, ज्ञान की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार देह के साथ होने से जीवात्मा को विधि और निषेध पालन करने की बात है।

देह के सम्बन्ध से ही विधि और निषेध के अर्थ हैं। अर्थात् देह के द्वारा ही उनका प्रयोग हो सकता है।

जीवात्मा देह के द्वारा ही कर्म करता है, अतः देह में ही उसे फल मिलते हैं। स्थूल अथवा सूक्ष्म देह जीवात्मा के साथ सदा लगा रहता है। यह छूटता है दो अवस्थाओं में। एक तो प्रलय के समय। तब जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में हो जाते हैं। दूसरे जब जीवात्मा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

दोनों अवस्थाओं में अन्तर भी है। प्रलय की अवस्था में यह अज्ञान में लिप्त रहता है और यदि वह अपने अज्ञान के कारण भोग नहीं कर सकता तो इस कारण कि उसके पास भोग करने के लिए और कर्म करने के लिए शरीर नहीं रहता। प्रलय काल में शरीर अव्यक्त प्रकृति में लय हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रलय काल के समाप्त होने पर पुनः जगत्-रचना होती है। शरीर बनते ही जीवात्मा तृष्णाभिभूत उन शरीरों में आ जाते हैं।

अतः सूत्रकार का कहना है कि देह के द्वारा ही कर्म होते हैं और फल मिलते हैं। इस देह में होते हुए ही शास्त्र की अनुज्ञा और परिहार (विधि, विधान और निषेध) हैं।

अब सूत्रकार ने एक अन्य समस्या उपस्थित की है।

असंततेश्चाव्यतिकरः ।।४९।।

असन्ततेः + च + अव्यतिकरः ।

और (जीवात्मा की) सन्तान (द्वारा वृद्धि) न होने से कर्म-फल में सांकर्य नहीं होता।

असन्ततेः—सन्तान न होने से। एक के अनेक न होने से। जैसे देह से सन्तान होती है, तो माता-पिता के गुण-दोष सन्तान में आते हैं। इससे एक-दूसरे के फलों में अदला-बदली हो सकती है। पिता के उत्तराधिकार में पुत्रों में धन-सम्पद इत्यादि में अदला-बदली सम्भव है। इस अदला-बदली के लिए शब्द है व्यतिकरः। अव्यतिकरः का अर्थ है अदला-बदली नहीं होती।

यदि तो जीवात्मा के सन्तान होती, एक के अनेक हो जाते तो कर्म-फलों में भी सांकर्य (अदला-बदली) अथवा परस्पर मिलावट हो जाती।

ऐसा नहीं है। जो करता है, वही फल भोगता है।

पुत्र पिता का ऋण उतारता देखा जाता है, परन्तु जीवात्मा ऐसा नहीं कर सकते। कारण यह कि जीवात्माओं में पिता-पुत्र का सम्बन्ध है ही नहीं। अतः कर्म-फलों की अदला-बदली (सांकर्य) नहीं होती।

आभास एव च ।।५०।।

आभासः + एव + च।

और यदि जीवात्मा को आभास (प्रतिबिम्ब) मानें तो यह है। अर्थात् सांकर्य हो सकेगा।

आभास से अभिप्राय एक के अनेक पात्रों में प्रतिबिम्ब है। एक सूर्य अथवा एक चन्द्र के कई प्रतिबिम्ब जल-कुण्डों में दिखायी देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन्द्र को ग्रहण लगने से सब जल-कुण्डों में ग्रहण लगा दिखाई देने लगता है। दोष तो एक में आया और दोष का फल सब प्रतिबिम्बों में दिखाई देता है।

यहाँ फल का सांकर्य होता है। एक का दोष अनेक में दिखायी देने लगता है।

अतः जीवात्मा को किसी दूसरे का आभास मानें तो कर्म-फल का सांकर्य होना सम्भव है।

यह कहा जाता है कि जीवात्मा परमात्मा का प्रतिबिम्ब-मात्र है, तो यह शंका उपस्थित होती है कि जीवात्माओं में सुख-दुःख किसका आभास है ? यह परमात्मा का तो हो नहीं सकता। कारण यह कि वह तो आनन्दस्वरूप है। यदि जीवात्मा, परमात्मा का आभास होता तो वह भी आनन्दस्वरूप होता।

यह कहा जाता है कि मन और बुद्धि के संयोग से इसमें दोष आता है तो शंका यह बन जाती है कि मन और बुद्धि क्या हैं ? वे कहाँ से आ गए ? और फिर उन्होंने दोष किसमें उत्पन्न किया; परमात्मा में अथवा उसके प्रतिबिम्ब में ?

सूत्रकार ने तो यह कहा है कि 'आभास' का सिद्धान्त मानें, तो जीवात्मा में दोषों का और कर्म-फलों का सांकर्य (अदला-बदली तथा मिलावट) हो जायेगी। अतः जीवात्मा आभास नहीं है।

स्वामी शंकराचार्य कहते हैं कि इसके अर्थ इस प्रकार हैं—'आभासः एव च' और आभास ही है। अतः सांकर्य नहीं है। जीवात्मा आभास है अथवा नहीं यहाँ विचारणीय नहीं। यहाँ विषय है सांकर्य का। वह दोनों अर्थों से नहीं है। जब सांकर्य नहीं तो आभास भी नहीं।

अदृष्टानियमात् ॥५१॥

अदृष्ट+अनियमात्।

अदृष्ट अनियमित होने से।

अभिप्राय यह कि अदृष्ट (का सांकर्य) मानना नियम-विपरीत है। अर्थात् इनमें अदला-बदली नहीं होती।

अदृष्ट का अर्थ है कर्म-फल। कर्म नियम से नहीं होते। एक समान नहीं होते, अतः कर्म भी अनियमित हैं। एक समान नहीं हैं। अतः एक के कर्मों का फल दूसरे को नहीं मिल सकता।

इसी कारण सूत्रकार कहता है कि अदृष्टों का सांकर्य होना भी नियम नहीं। यह अनियम है।

सूत्र (२-३-४३) से सूत्रकार उन सिद्धान्तों का वर्णन कर रहा है, जिनको अद्वैतवादी वैसा नहीं मानते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले तो यह कहा है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश माना जाता है, परन्तु यह अंश ऐसा नहीं जैसेकि गुड़ की भेली का अंश गुड़ का एक टुकड़ा है। सूत्रकार ने कहा है कि अंश का वर्णन कई लोग कई प्रकार से करते हैं। सूत्रकार ने भी वर्णन करने का यत्न किया है। वह वर्णन अद्वैतवादियों का समर्थन नहीं करता।

आगे चलकर जीवात्मा की परमात्मा से भिन्नता प्रकट की है (२-३-४६, ४७, ४८ सूत्रों में)।

आगे कह दिया कि जीवात्मा न तो परमात्मा की सन्तान है और न ही यह आभास है।

अब कर्म-फल के सांकर्य को नियम विपरीत बता दिया। कारण यह कि जीव भिन्न-भिन्न हैं। इनके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। कर्म-फल भी अपने-अपने हैं।

अद्वैतवादियों द्वारा इन सूत्रों से अपना मत सिद्ध करने के लिए सूत्रों को बहुत तोड़-मोड़कर उपस्थित करने का यत्न किया गया है और फिर जो कुछ भी इनके भाष्य में कहा गया है, वह सर्वथा अयुक्ति-संगत है।

उदाहरण के रूप में इसी सूत्र (२-३-५१) में स्वामी शंकराचार्य का भाष्य देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह किंचित्-मात्र भी अपने मत को स्पष्ट नहीं कर सके।

वह लिखते हैं—

बहुष्वात्मस्वाकाशवत्सर्वगतेषु प्रतिशरीरं बाह्याभ्यन्तराविशेषेण संनिहितेषु मनोवाक्कायैर्धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपार्ज्यते।

अर्थात्—आकाश के समान सर्वगत प्रत्येक शरीर में अन्दर-बाहर समान रूप से सन्निहित अनेक आत्माओं में मन, वाणी और शरीर द्वारा धर्माधर्म रूप अदृष्ट उपार्जन किया जाता है।

इन दो पंक्तियों में अनेक अयुक्त बातें कह दी हैं। देखिये—

(१) परमात्मा को आकाशवत् सर्वगत माना। अर्थात् परमात्मा और सर्व पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। परमात्मा किनके भीतर और बाहर है? वह जिसके भीतर और बाहर है, वह परमात्मा से भिन्न होगा।

(२) शरीर है और आत्मा है। ये मन, वाणी से सन्निहित हो धर्म-अधर्म करते हैं।

(३) वह आतमा क्या है जो मन और वाणी (इन्द्रियों) से संयुक्त हो धर्माधर्म करता है? क्या वह परमात्मा का अंश है?

(४) इस धर्माधर्म रूप में अदृष्ट (कर्म-फल) उपार्जन करता है। अर्थात् परमात्मा का अंश धर्माधर्म से कर्म-फल उपार्जन करता है, तो यह परमात्मा का अंश करता है, अथवा मन और बुद्धि करते हैं?

ये सब बातें अनर्गल हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फिर सूत्रकार कहता है कि अदृष्टों में नियम नहीं है। अर्थात् अदृष्ट एक समान नहीं होते। कर्म-फल समान होते तो सांकर्य (मिलावट) हो सकती थी।

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ।।५२।।

अभिसन्धि+आदिषु+अपि+च+एवम्।

और अभिसन्ध्यादि में भी ऐसा ही है।

वे भी अदृष्टों की भाँति समान नहीं हैं।

अभिसन्ध्यादि का अभिप्राय है राग, द्वेषादिमूलक संकल्प। यह माना जाता है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश होने से निर्मल है। ये राग, द्वेष इत्यादि संकल्प ही कर्म कराते हैं और कर्मफल उपार्जन करते हैं।

सूत्रकार कहता है कि यह बात भी अनियमित अर्थात् समान न होने से अनेक जीवात्माओं के कारण है। एक परमात्मा के द्वारा नहीं होते। राग, द्वेषादि यदि संकल्पमात्र हैं तो ये किसको होते हैं ? कहा जाता है कि चित्त को। चित्त तो जड़ होने से संकल्प कर नहीं सकता, अतः इनका अस्तित्व बिना जीवात्मा के स्वीकार्य नहीं हो सकता। सब संकल्प समान नहीं; इस कारण ये एक द्वारा नहीं होते। परमात्मा एक है और जीवात्मा अनेक।

अतः सूत्रकार ने अद्वैतवादियों की एक अन्य भित्ति को गिरा दिया है।

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ।।५३।।

प्रदेशात्+इति+चेत्+न+अन्तर्भावात्।

प्रदेशात्=देश अर्थात् शरीर से जिसमें यह रहता है। इति=यह है। चेत्=यदि। न=नहीं। अन्तर्भावात्=भीतर होने से।

यह भी अद्वैतवादियों के मत का खण्डन है। यह कहा जाता है कि परमात्मा का अंश जीवात्मा देह में फँस जाने से राग, द्वेष, कामादि संकल्पों और कर्मों को करता है। सूत्रकार कहता है कि यदि इनको प्रदेशात् (देह के कारण) मानो तो नहीं। कारण यह कि जीवात्मा भीतर विराजमान है। वह देह से प्रबल है। वह चेतन है और देह जड़ है। अतः जिम्मेदारी जीवात्मा की है देह की नहीं। यदि इसे परमात्मा मानो तो और भी अधिक आवश्यक है कि शरीर परमात्मा के विपरीत कार्य न करे।

इस सूत्र से दूसरे अध्याय का तीसरा पाद समाप्त होता है। इस पाद में जीवात्मा के विषय में लिखा गया है।

ब्रह्मसूत्र का दूसरा अध्याय और उसके तीनों पाद अद्वैतवादियों के खण्डन में लिखे गये हैं।

इनकी जितनी भी युक्तियुक्त व्याख्या की जाये, उतना ही त्रैतवाद सिद्धान्त का समर्थन मिलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ पाद

इससे पूर्व (तृतीय पाद में) आकाश से चलकर सृष्टि-क्रम और उसमें जीवात्मा के स्वरूप और कार्य का तथा उसके परमात्मा से सम्बन्ध का वर्णन किया गया है।

अब इस पाद में शरीर के कार्य का वर्णन किया जा रहा है। आत्मा चेतन है। वह ईक्षण करता है। शरीर में और शरीर द्वारा कार्यों का आरम्भ करना, उसका चालू रखना और उन कार्यों का अन्त करना आत्मा का काम है। परन्तु तृतीय पाद में (२-३-४८ सूत्र में) यह बताया है कि देह में कर्मों के विषय में ही शास्त्र की अनुज्ञा और परिहार वर्णन किये गए हैं। देह में जीवात्मा के रहते ही जीवात्मा के कार्य हैं। इसी कारण उसके लिए विधि-निषेध बताये गए हैं।

इसी प्रकार तृतीय पाद के अन्तिम सूत्र में लिखा है कि यदि कर्म को देह से मानो तो ठीक नहीं; क्योंकि देह के भीतर जीवात्मा उपस्थित है। अतः कर्म का उत्तरदायित्व देह पर नहीं, जीवात्मा पर है।

इस श्रृंखला में अब चतुर्थ पाद आरम्भ होता है। इसमें शरीर के कार्य की व्याख्या की गई है।

सूत्रकार कहता है—

तथा प्राणाः ॥१॥

वैसे प्राण हैं।

जैसे आकाशादि पंचभूतों का वर्णन कर आये हैं, वैसे ही यहाँ प्राण का वर्णन कर रहे हैं।

प्राणः का अर्थ है—शक्ति। कार्य करने की शक्ति।

शरीर चलता-फिरता, आँख भींचता-खोलता, सुनता-बोलता, सूंघता-देखता, अनुभव करता इत्यादि सब कार्य प्राण से करता है।

शरीर में कार्य करने वाली इन्द्रियाँ हैं और उनके अतिरिक्त भी शरीर के अंग हैं जो कार्य करते हैं। उदाहरण के रूप में पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त हृदय, फेफड़े, मस्तिष्क, आँतें इत्यादि अंग हैं जो कार्य करते हैं। इन सबके कार्य प्राण से होते हैं।

अतः प्राण कार्य करने की शक्ति का नाम है। यह शक्ति परमात्मा की है। परमात्मा जगत् की रचना करता है, अतः वह प्राण द्वारा ही करता है। जीवात्मा शरीर में कार्य करता है। सूत्रकार कहता है कि यह भी प्राण द्वारा ही होता है।

प्राण परमात्मा का लिंग है। यह सूत्रकार ने (१-१-२३ में) पहले ही बताया है। वह शक्ति जिससे जगत् कार्य करता है, वह ही प्राण है और उससे ही परमात्मा के विषय में ज्ञान होता है।

अथर्ववेद में एक प्राणसूक्त के नाम से प्रकरण है। उसमें पहला ही मन्त्र इस प्रकार है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।

(अथर्व० ११-४-१)

उस प्राण के लिए हमारा नमस्कार हो जिसके वश में यह सब (जगत्) कुछ है। जो सबका ईश्वर है और जिस पर पूर्ण संसार प्रतिष्ठित है।

प्राण परमात्मा की उस शक्ति का नाम है, जिससे पूर्ण संसार चलता है और स्थित है।

इसी सूक्त में एक मन्त्र इस प्रकार है—

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ।।

(अथर्व० ११-४-८)

(प्राण प्राणते नमः) प्राण से श्वासों का त्यागना होता है। उसे नमस्कार हो। (अस्तु अपानते) उससे प्राण भीतर लिया जाता है। इस कारण उसे नमस्कार हो। (पराचीनाय प्रतीचीनाय नमः) प्राण शक्ति देह में आती है और उसमें से जाती है; उसे नमस्कार हो। (सर्वस्मै त इदं) इस जगत् के सबमें वह है। इस कारण उसे नमस्कार हो।

इस प्रकार प्राण ईश्वर की उस शक्ति को कहा गया है जिससे पूर्ण जगत् कार्य करता है। साथ ही प्राणी का शरीर कार्य करता है।

सूत्रकार कहता है कि—

वैसा ही प्राण है जो शरीर में कार्य करता है। कैसा? जैसा जगत् में कार्य करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गौण्यसम्भावात् ।।२।।

गौणी + असम्भावात् ।

प्राण का गौण होना असम्भव है ।

गौण का अभिप्राय है मुख्य के अतिरिक्त । जब दो हों और एक-दूसरे के अधीन हों तो अधीन को गौण कहा जाता है । यदि प्राण के अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति हो और उसका प्राण के रूप में प्रकटीकरण हो तो वहाँ प्राण गौण माना जायेगा ।

सूत्रकार कहता है कि प्राण से ऊपर कोई अन्य शक्ति नहीं । वही शक्ति है जो सूर्य, चन्द्र और तारागण इत्यादि का संचालन करती है, वही शक्ति है जिसमें चराचर जगत् प्रतिष्ठित है, वही शक्ति है जो शरीर में कार्य करती है । सूत्रकार का अभिप्राय है कि वह ईश्वरीय शक्ति ही है जो शरीर में कार्य करती है । अतः प्राणों को गौण मानना असम्भव है ।

यह गौण नहीं ।

स्वामी शंकराचार्य गौणी के अर्थ लेते हैं—जिसकी उत्पत्ति हुई हो ।

वह लिखते हैं—

इह तु सिद्धान्तसूत्रत्वाद्गौण्या जन्मश्रुतेरसंभवादिति व्याख्यातम् । तदनुरोधेन त्विहापि गौणी जन्मश्रुतिरसंभवादिति व्याचक्षाणैः प्रतिज्ञाहानिरुपेक्षिता स्यात् ।

यहाँ सिद्धान्त सूत्र होने से गौणी जन्म श्रुति का असम्भव होने से ऐसा व्याख्यान किया है । परन्तु उसके अनुसार यहाँ भी जन्म श्रुति गौणी है असम्भव होने से । ऐसा व्याख्यान करने वालों से प्रतिज्ञा हानि की उपेक्षा की जायेगी ।

इसका अभिप्राय यह है कि प्राण का जन्म नहीं हुआ । जन्म होने से यह गौणी माना जायेगा । यदि ऐसा मानेंगे तो प्रतिज्ञा की हानि हो जायेगी ।

बात ठीक है । प्रकृति के अन्य कर्मों की भाँति प्राण का जन्म नहीं हुआ । जैसे महत्, अहंकार, परिमण्डल, पंच महाभूत इत्यादि प्रकृति के परिणामी हैं, वैसे प्राण नहीं ।

परन्तु इसी कारण यह गौणी नहीं । गौणी का जन्म से सम्बन्धित होना आवश्यक नहीं । प्राण ईश्वरीय शक्ति है । ईश्वरीय शक्ति का ईश्वर के अतिरिक्त यदि किसी अन्य से निर्माण अथवा प्रादुर्भाव होता तो यह गौणी हो जाती ।

यह असम्भव है । अर्थात् ईश्वर की प्राण-शक्ति ज्यों-की-त्यों ही शरीर में कार्य करती है जैसे कहीं अन्यत्र कार्य करती है ।

इसका जन्म न सही, परन्तु प्रादुर्भाव तो होता है । यह ईश्वर की ओर से ही शरीर को मिलता है ।

वर्तमान वैज्ञानिक इस प्राण की उत्पत्ति 'टैस्ट ट्यूब' (परीक्षण नली) में करने का यत्न कर रहे हैं । यह ईश्वरीय शक्ति ही होगी जो वैज्ञानिक किसी स्थान पर प्रकट करने का यत्न कर रहे हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि कभी प्रकट करने में सफल हो गये तो यह कहा जायेगा कि जैसे माता-पिता वीर्य-सिंचन के समय प्राण को प्रकट करते हैं, वैसे ही वैज्ञानिक किसी 'टैस्ट-ट्यूब' में इसे सम्पन्न कर सके हैं।

सूत्रकार का कहना है कि वहाँ भी वही शक्ति होगी जो परमात्मा सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि में देता है। वह ही यहाँ भी दी गई होगी।

प्राण प्राण ही है। वह गौण नहीं हो सकता।

प्राण का किसी भी वस्तु में गति के रूप में प्रकटीकरण किया जा सकता है। इसपर भी वह ईश्वरीय शक्ति का परिचायक ही होगा। यह गौणी नहीं हो सकता।

तत्प्राक्श्रुतेश्च ।।३।।

तत्प्राक्+श्रुतेः+च।

इससे पहले है। ऐसा श्रुति में वर्णन किया है।

यहाँ लिखा है—इससे। प्रश्न है किससे? जगत् से। अर्थात् जगत्-रचना से पहले ही यह उपस्थित था, ऐसा वेद में लिखा है।

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ।।

(अथर्व० ११-४-२४)

जो इन सब उत्पन्न होने वालों का निर्माण करने वाला है और सबमें चेष्टा (गति) देने वाला है; (अतन्द्रा) कभी सोता अथवा असावधान नहीं होता; (धीरः) धैर्य का उत्पन्न करने वाला; (ब्राह्मण) महान् होने से मुझमें भी तिष्ठित हो।

एक अन्य मन्त्र में प्राण को कहा है—

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री··· (अथर्व० ११-४-१२)

इसमें प्राण को विराट् कहा है। इसे सर्व-द्रष्टा भी कहा है। अतः यह परमात्मा की शक्ति का सूचक है। इसी कारण सूत्रकार इसे परमात्मा का लिंग कह चुका है।

परमात्मा अनादि है, अजा है। अतः उसकी शक्ति भी उसके साथ ही है। वह सबसे पूर्व है। ऐसा होने से ही पूर्व के सूत्र में इसे गौण होना असम्भव माना है।

उपनिषदों में भी प्राण परमात्मा से सृजन किया गया कहा है। यह प्राण ही प्रकृति से जगत्-रचना करता है और जगत् के कार्य सम्पन्न करता है।

मुण्डकोपनिषद (२-१-३) में लिखा है—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।।

अर्थात्—उस (परमात्मा) से प्राण उत्पन्न हुआ; तत्पश्चात् मन तथा सब इन्द्रियाँ इत्यादि उत्पन्न हुई। आकाश, वायु, अग्नि, आपः और पृथिवी भी उसी से उत्पन्न हुए जो संसार को धारण करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥४॥

तत्+पूर्वकत्वात्+वाचः।

उस (प्राण) के पूर्वकत्व होने से वाणी (का प्रादुर्भाव होता है)।

वाचः शब्द से अभिप्राय है सब इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि। पूर्वकत्वात्=पूर्व में ही होने से प्राण इन्द्रियों की शक्ति का स्रोत है।

जगत्-रचना में सबसे पहले प्राण उपस्थित होता है। वास्तव में यह तो परमात्मा में शाश्वत रूप में विद्यमान है। सृष्टि-रचना के समय इसका प्राकट्य ही होता है। प्राण का शरीर में विशेष कार्य मन और इन्द्रियों में है। इस कारण वाचः (इन्द्रियों और मन) को उसके अनुसार होने की बात लिखी है।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥५॥

सप्त+गतेः+विशेषितत्वात्+च।

और इस (प्राण) की सात (प्रकार की) गतियाँ होती हैं। विशेष रूप से।

प्राणी में प्राण की गतियाँ सात प्रकार की हैं। प्राण तो ईश्वरीय शक्ति होने से एक ही है, परन्तु विशेषितत्वात्—विशेष कार्य करने से यह सात प्रकार की गतियों में प्रकट होता है।

अभिप्राय यह है कि प्राण की गति तो अनेक प्रकार की है, परन्तु शरीर में विशेष रूप से सात प्रकार की है।

ये सात गतियाँ कौन-कौनसी हैं? यह सूत्रकार ने गिनायी हैं।

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥६॥

हस्त+आदयः+तु+स्थिते+अतः+न+एवम्।

हाथ इत्यादि तो स्थित होने पर, इसलिए ऐसे नहीं।

कैसे नहीं? अर्थात् उन सात प्राणों में से किसी की गति नहीं। स्थित होने पर का अर्थ समझ लेना चाहिए। हाथ इत्यादि में गति भी होती है। जब हम हाथ इत्यादि से कार्य करते हैं तो इनमें गति होती है। अतः सूत्रकार उस स्थिति का वर्णन नहीं कर रहा। इस सूत्र में कहा है, स्थित होने पर, अर्थात् जब ये कार्य नहीं कर रहे होते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न उपस्थित होता है कि हाथ इत्यादि जब स्थित होते हैं; अर्थात् वे कार्य नहीं कर रहे होते, क्या उस समय भी उनमें प्राण होते हैं ? सूत्रकार का कहना है कि हाँ। परन्तु वे प्राण उक्त सात जैसे नहीं। उन सात का तो विशेष गतियों से सम्बन्ध है।

जब हाथ अथवा शरीर का कोई भी भाग स्थिर होता है तो वहाँ प्राण क्या करता है ? वहाँ उस समय दो प्रकार की क्रियायें हो रही होती हैं। उपचय और उपापचय (anabolism and metabolism) की। शरीर-निर्माण और शरीर में टूट-फूट तो सदैव होती रहती है। ये क्रियायें भी प्राण से ही होती हैं, परन्तु ये प्राण उक्त सात जैसे नहीं। इनमें गति-विशेषता नहीं।

सूत्र (२-४-५) में शब्द है 'गतेः विशेषितत्वाच्च'। गतियों की विशेषता से (प्राण सात प्रकार के हैं)। परन्तु शरीर में होने वाले उपचय, उपापचय में गति दृष्टिगोचर नहीं होती। इस कारण इनमें कार्य करने वाला प्राण वैसा नहीं है।

सात प्राणों की गणना सूत्रकार ने गतियों के विचार से करायी है। सब कर्मेन्द्रियों के कार्य जीवात्मा के आदेश से होते हैं। इस कारण सब (पाँचों) कर्मेन्द्रियों के प्राण को एक समान गति में माना है। यद्यपि यह सूत्रों में स्पष्ट रूप से कथन नहीं किया गया, परन्तु आगे के सूत्रों को पढ़ने से यही प्रतीत होता है कि पाँचों कर्मेन्द्रियों में कार्य करने वाले प्राण की एक गति है।

यहाँ यह लिख दिया जाये तो उचित ही है कि बृ० उ० (३-९-४) में प्राण ग्यारह लिखे हैं।

उपनिषद् इस प्रकार है—

...दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति। (बृ० उ० ३-९-४)

अर्थात्—पुरुष में दस प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा, शरीर छूटने पर साथ जाते हैं। ये रोदन कराते हैं। इस कारण रुद्र कहलाते हैं।

यहाँ दस इन्द्रियों के प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा की बात कही है। अर्थात् दस प्राण माने हैं, परन्तु सूत्रकार सात की गणना कराता है। इससे यह प्रतीत होता है कि सूत्रकार की गणना का ढंग दूसरा है।

प्राणों की एक प्रकार की गति है जिससे जीवात्मा के आदेश पर पाँच कर्मेन्द्रियाँ कार्य करती हैं।

शेष छः प्रकार के प्राण आगे चलकर गिनायेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अणवश्च ।।७।।

अणवः+च ।

और वे अणु मात्र हैं ।

अणु से अभिप्राय अति सूक्ष्म ही लेना चाहिये ।

हस्त-पादादि और वाक्, चक्षु आदि तो स्थूल अंग हैं, परन्तु इनमें प्राण अणु मात्र अर्थात् अति सूक्ष्म है ।

श्रेष्ठश्च ।।८।।

श्रेष्ठः+च ।

और श्रेष्ठ (मुख्य प्राण) है ।

और (प्राणों की एक विशेष गति) श्रेष्ठ अर्थात् मुख्य है। प्राणी के शरीर में कुछ क्रियायें होती हैं। वे अनैच्छिक होती हैं। उन्हें (involuntary) कहते हैं। जैसे हृदय की गति, फेफड़े की गति, यकृत और वृक्क की गति। इनमें कार्य करने वाले प्राण को श्रेष्ठ अथवा मुख्य कहते हैं। इसमें श्रेष्ठता यह है कि यह निरन्तर कार्य करता रहता है। दिन-रात, जाग्रत अथवा सुषुप्ति अवस्था में कार्य करता है। इसका कार्य प्राणी के जीवनपर्यन्त चलता है। इसी कारण इसको मुख्य प्राण कहते हैं। यहाँ इसकी संज्ञा 'श्रेष्ठ' कही है।

इसी विषय में छान्दोग्य उपनिषद् (५-१-६ से १२ तक) में एक कथा है। एक समय शरीर में रहने वाले सब प्राणों में झगड़ा हो गया। सब अपने-अपने को श्रेष्ठ मानने लगे। प्रजापति ने बताया कि श्रेष्ठ वह है जिसके निकल जाने से शरीर का अन्त हो जाये और उसमें किसी भी प्राण के रहने का स्थान न रहे।

इसपर अन्य प्राण एक-एक कर शरीर से बाहर रहने लगे, परन्तु उनके जाने पर भी शरीर जीवित रहा। परन्तु जब प्राण (साँस लेने वाला) शरीर को छोड़ने लगा तो अन्य प्राण भी अपना शरीर में रहना असम्भव पाने लगे। तब सब प्राण मान गये कि वह ही सबसे श्रेष्ठ है।

यही प्राण है जिससे फेफड़े कार्य करते हैं और प्राण अपान वायुएँ चलती हैं। यही बात हृद्रय-गति की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥९॥

न+वायुक्रिये+पृथक्+उपदेशात् ।

वायु और उसकी क्रिया इन सात प्राणों में नहीं। उसका वर्णन पृथक् है।

वायु का कार्य दूसरा है। वह क्या है? उसका वर्णन बृ० उ० (३-७-२) में मिलता है। उपनिषद् में याज्ञवल्क्य कहते हैं—

···वेद वा अहं गौतम। तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति···। (बृ० उ० ३-७-१)

अर्थात् हे गौतम! मैं उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को जानता हूँ।

इसपर उद्दालक ने कहा, "यदि आप जानते हैं तो बताइये?"

इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने बताया—

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥ (बृ० उ० ३-७-२)

वह (याज्ञवल्क्य) बोला कि हे गौतम, वह वायु है। वायु ही वह सूत्र है जिससे यह लोक, दूसरे लोक सब भूत गुथे हुए हैं। इससे मृत पुरुष को कहते हैं कि उसके अंग ढीले हो गये। हे गौतम, वायु से ही वे अंग गठित होते हैं।

उद्दालक ने कहा, "यह ठीक है। अब आप अन्तर्यामी का वर्णन करें।"

इसका अभिप्राय यह है कि वायु वह शक्ति है जो सब पदार्थों को गठित करती है, परन्तु प्राण तो कार्य कराने वाला है। अतः प्राण वायु से भिन्न है। साथ ही वायु उस अन्तर्यामी (जो सबके भीतर बैठकर नियमन करता है) से भिन्न है।

इसका सम्बन्ध भी आत्मा से है और शरीर में वे सब कार्य होते हैं जो निरन्तर इच्छा से और बिना इच्छा (अनिच्छा) के होते रहते हैं।

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥१०॥

तु+चक्षुः+आदिवत्+तत्+सह+शिष्ट्यादिभ्यः।

किन्तु चक्षुः आदि (प्राण) की भाँति। उनके साथ शिष्ट (मुख्य प्राण) भी है।

इसका अभिप्राय है कि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों में भी प्राण हैं। वे सब पृथक्-पृथक् हैं और अपने गोलक से मन तक ही जाते हैं। इनकी सहायता तो मुख्य प्राण ही करते हैं।

ऊपर शिष्ट प्राणों के विषय में बताया है। छान्दोग्य उपनिषद् के उद्धरण से यह पता चलता है कि फेफड़े से साँस लेना इसी प्राण द्वारा होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ लिखा है कि चक्षु आदि (ज्ञानेन्द्रियों) की भाँति ही यह शिष्ट प्राण है। शिष्ट प्राण उनके साथ सहयोग करते हैं।

अतः यह लिखा है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी प्राणों से कार्य करती हैं। इनके प्राण पृथक्-पृथक् हैं। ये तबतक कार्य करते हैं जबतक श्रेष्ठ प्राण सहायता के लिए रहता है।

ज्ञानेन्द्रियों के प्राणों की गति में भी विशेषता है। इसीसे इनकी गणना पृथक् की है। प्रश्न यह है कि इन पाँचों की एक में गणना की जाये; जैसे पाँच कर्मेन्द्रियों की एक में की गयी है? यद्यपि सूत्र में स्पष्ट नहीं; इसपर भी शरीरक्रिया विज्ञान से स्पष्ट है कि ज्ञानेन्द्रियों की गतियाँ पृथक्-पृथक् हैं। जैसे हाथ-पाँव एक-दूसरे के स्थानापन्न हो सकते हैं वैसे ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हो सकतीं। सबका पृथक्-पृथक् सम्बन्ध मन से है और मन का जीवात्मा से।

अतः अभी तो इन प्राणों का वर्णन आया है—(१) कर्मेन्द्रियों में कार्य करने वाला प्राण, (२) श्रेष्ठ प्राण, (३) आँख में देखने वाला, (४) कान में सुनने वाला, (५) जिह्वा में रस लेने वाला, (६) नाक में सूँघने वाला, और (७) स्पर्श करने वाला। इस प्रकार सात की गणना करा दी है।

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति॥११॥

अकरणत्वात्+च+न+दोषः+तथा+हि+दर्शयति।

और करणरहित होने पर दोष नहीं आता। (शास्त्र) यह दिखलाता है।

चक्षु, श्रोत्र, नाक, त्वचा, जिह्वा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हें करण माना है; इनमें प्राण हैं दृष्टि, श्रोत्र, घ्राण, स्पर्श और रसना। करण तो इनके अधिष्ठान हैं। यदि ये करण न रहें तो भी प्राण रहते हैं, यद्यपि कार्य नहीं कर सकते। अधिष्ठान के बिना कार्य नहीं हो सकता, परन्तु इससे दोष उत्पन्न नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि प्राणवान् पदार्थ आत्मा और मन में विनष्ट नहीं होते। जैसे मुख्य प्राण के चले जाने से शरीर ही समाप्त हो जाता है, वैसे इनके जाने से नहीं होता।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि करणों के अभाव में प्राण कार्य नहीं करते। इसपर भी वे रहते हैं और शरीर बना रहता है।

अन्य भाष्यकारों ने करणरहित होने की बात मुख्य प्राण के विषय में लिखी है। श्री उदयवीर शास्त्री मुख्य प्राण बुद्धि को मानते हैं। हमने मुख्य प्राण हृदय, फेफड़े में गति उत्पन्न करने वाले को माना है। सूत्र में तो स्पष्ट नहीं लिखा। कुछेक उपनिषद् वाक्यों में बुद्धि को भी एक प्राण माना गया है। परन्तु उन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषद्-वाक्यों की शैली पर सूत्रकार नहीं चल रहा। वह प्राण सात मानता है। अतः सूत्रकार के मत का अनुकरण करते हुए हम बुद्धि को पृथक् गणना में नहीं ले रहे। अर्थात् यह सात प्राणों के अन्तर्गत ही है। शिष्ट प्राण बुद्धि नहीं।

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥१२॥

पंचवृत्तिः+मनः+वत्+व्यपदिश्यते।

पाँच व्यापार मन की भाँति बताये गये हैं।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों में कार्य करने वाले प्राणों का वर्णन आया है। ये पाँच प्राण पाँच प्रकार के कार्य करते हैं। वृत्ति का अर्थ व्यवसाय है। ये पाँचों कार्य मन के कार्यों की तरह के हैं। ऐसा कहा गया है।

हमने ऊपर के सूत्रों के अनुसार सात प्राण बताये हैं।

(१) जिससे ऐच्छित कार्य होते हैं। इनसे कर्मेन्द्रियाँ काम करती हैं।

(२) जिनमें अनैच्छित कार्य होते हैं; जैसे हृदय, फेफड़े इत्यादि। इनको श्रेष्ठ प्राण भी कहा है। अन्य पाँच प्राण हैं जो चक्षुः, श्रोत, नासिका, त्वक् और जिह्वा में देखने, सुनने, सूँघने, स्पर्श करने और रस लेने के कार्य करते हैं। ये पृथक्-पृथक् हैं। ये पाँच प्राण ज्ञानेन्द्रियों में कार्य करते हैं।

इन पाँच प्राणों के पाँच व्यापार हैं जो मन के पाँच व्यापारों से सम्बन्ध रखते हैं।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अन्य भाष्यकारों ने प्राणों के विषय में भ्रम फैला रखा है। ये प्रायः ऐसे भाष्यकार हैं जो वेदान्त दर्शन के सूत्रों को उपनिषदों के स्पष्टीकरण में कहे गये मानते हैं। जब उनको कोई बात सूत्र के अनुसार उपनिषदों में नहीं मिलती तो वे सूत्रों के अर्थ तोड़-मरोड़कर उपनिषदों के समान करना चाहते हैं। इसी प्रकार यह प्राणों के प्रकरण में भी किया गया है।

उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्य 'श्रेष्ठश्च' (वे० द० २-४-८) के भाष्य में इस प्रकार लिखते हैं—

मुख्यश्च प्राण इतरप्राणवद्ब्रह्मविकार इत्यतिदिशति।

अर्थात्—मुख्य प्राण भी अन्य प्राणों की भाँति ब्रह्म का विकार है। यह बात विचारणीय नहीं। इसको तो इस पाद के प्रथम सूत्र में ही बता आये हैं कि प्राण परमात्मा की शक्ति का रूप है।

इस सूत्र में तो यह लिखना चाहिए था कि 'श्रेष्ठ' क्या है? और जब श्रेष्ठ प्राण के विषय में बताने लगे तो कह दिया—

श्रेष्ठ इति च मुख्यं प्राणमभिदधाति, 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छान्दो० ५-१-१) इति श्रुतिनिर्देशात्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—'श्रेष्ठ ही मुख्य प्राण का अभिधान करता है। परन्तु उदाहरण दे दिया है (छा० ५-१-१)। यह उदाहरण अशुद्ध है।

(छान्दो० ५-१-१) में इस प्रकार कहा है—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।

यहाँ ज्येष्ठ और अन्य प्राणों में भेद नहीं बताया, वरन् सब प्राणों को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहा है।

इसका अर्थ है—

निश्चय से जो मनुष्य किसी बड़े और अपने से श्रेष्ठ को जानता है, वह बड़ा हो जाता है। प्राण ही बड़ा और श्रेष्ठ है।

इस कारण प्राण को जानो।

इसी कारण हम कहते हैं कि सूत्रार्थों को उपनिषद् वाक्यों से बाँधने पर सूत्रार्थ भी विकृत हो जाते हैं। सूत्र में शब्द 'श्रेष्ठ' है और स्वामीजी ढूँढ़ने लगे हैं कि किस उपनिषद् में श्रेष्ठ अथवा ज्येष्ठ शब्द आये हैं। बस मिलते ही उदाहरण लिख दिया।

सब प्राण श्रेष्ठ नहीं, परन्तु प्राण सामूहिक रूप में प्राणी के शरीर के लिए मुख्य होने से सब प्राण ज्येष्ठ कहलाते हैं।

यह बात दूसरी है कि प्राणों में श्रेष्ठ कौन है?

इसी प्रकार इसी (२-४-८) सूत्र के भाष्य में एक वेदमन्त्र का उदाहरण दे दिया है। यह भी विषय के साथ सम्बन्ध नहीं रखता।

वेदमन्त्र जो शंकर भाष्य में उद्धृत है, वह यह है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास॥

टीकाकार स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र का संकेत ऋ० सं० ८-७-१७—इस प्रकार लिखा है। यह उनकी भूल है। वास्तव में यह मन्त्र १०-१२९-२ है।

इसका अभिप्राय यह है कि उस (महा प्रलय) के समय मृत्यु नहीं थी और न ही अमृतत्व था। न रात थी और न दिन का ज्ञान था। (उस समय) आनीत—प्राण ही शक्ति का रूप था, परन्तु वह गतिशील नहीं थी। उस समय एक ही (स्वधया) प्रकृति अपने को धारण करने वाली थी और दूसरा कोई नहीं था।

केवल 'आनीत' शब्द जो प्राण का सूचक है, आया और स्वामीजी ने उसका उद्धरण दे दिया।

प्रकरण था 'श्रेष्ठ प्राण' का शरीर में और आप बताने लगे प्रलय काल में प्राण की बात।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार एक अन्य भाष्यकार की बात लिख देना ठीक रहेगा।

श्री उदयवीर शास्त्रीजी सूत्र (वे० द० २-४-१०) की व्याख्या में लिखते हैं—

'उपनिषदों के प्राण संवाद आदि स्थलों में सर्वत्र मुख्य प्राण को चक्षु: आदि इन्द्रियों के साथ वर्णन किया है। इसलिए चक्षु आदि के समान मुख्य प्राण (बुद्धि तत्त्व) आत्मा के भोग आदि में उपकरण होता है।

'छान्दोग्य उपनिषद् (५-१-६) में समस्त प्राणों का एकसाथ वर्णन है। वहाँ चक्षु वागादि के समान मुख्य प्राण का उल्लेख है।'

हमारा मत है कि श्री शास्त्रीजी भी सूत्र के भाव को नहीं समझे और इस न समझने में भी वही कारण है जो स्वामी शंकराचार्य की अनेक भूलों में है। इसका कारण यह मानना है कि वेदान्त सूत्र उपनिषदों की व्याख्या है। यदि उपनिषदों को छोड़कर विचार किया जाता तो यह सब विभ्रम न बनता।

इस सूत्र में चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों में प्राण और मुख्य प्राण में अन्तर दिखायी देता है। इस सूत्र में स्पष्ट लिखा है—

चक्षु आदि के प्राण मनवत् हैं और उसके सहायक मुख्य प्राण हैं।

मुख्य प्राण बुद्धि तत्त्व नहीं। हमारा मत यह है कि मुख्य प्राण हृदय, फेफड़े आदि में कार्य करने वाला प्राण है।

श्री शास्त्रीजी उदाहरण देते हैं छान्दोग्य (५-१-६) का। वहाँ तो केवल यह लिखा है—

अथ ह प्राणा अहँ श्रेयसि व्यूदिरेऽहँ श्रेयानस्म्यहँ श्रेयानस्मीति ।।

(छान्दो० ५-१-६)

एक बार सब प्राण कहने लगे कि मैं श्रेष्ठों में श्रेष्ठ हूँ।

बताइये, इस उदाहरण से क्या पता चल गया कि प्राणों में बुद्धि भी है और वह श्रेष्ठ है ?

श्री आचार्यजी उपनिषद् का अगला मन्त्र पढ़ते तो पता चलता कि प्राणों का यह कहना कि 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ।' स्वीकार नहीं किया गया और कौन श्रेष्ठ है, इसका निर्णय छान्दो० ५-१-१२ में किया गया है कि साँस लेने वाला प्राण ही सबसे श्रेष्ठ है। बुद्धि का तो उल्लेख ही नहीं है।

इस उपनिषद् के मन्त्र ६ से लेकर १२ तक पढ़ें तो पता चलता है कि आँख, नाक, कान, त्वचा, जिह्वा इत्यादि में जो प्राण हैं, वे फेफड़े में कार्य करने वाले प्राण से छोटे हैं और बिना उस (फेफड़े वाले) प्राण के कार्य नहीं कर सकते।

अन्य भाष्यकार भी सूत्रों के शब्द उपनिषदों में ढूँढ़ते हैं और फिर अर्थ लगाते हैं। इसी कारण भूल करने लगते हैं।

मुख्य, ज्येष्ठ अर्थात् महाप्राण वह है जिसके बिना शरीर नहीं रहता। यह प्राण वही है जो अनैच्छिक क्रियाओं को चलाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक बात यहाँ और समझ लेनी चाहिए कि इस पाद में प्राणी में कार्य करने वाले प्राणों का वर्णन हो रहा है, जगत्-रचना में कार्य करने वाली ईश्वर-शक्ति का नहीं।

मन की वृत्तियों के समान ही इन प्राणों का व्यवहार है। इन पाँचों प्राणों के कार्यों को चक्षुः इत्यादि से संकेत किया है। यहाँ ज्ञानेन्द्रियों से ही अभिप्राय है।

ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर के संसार का अनुभव मन तक पहुँचाती हैं और मन उनको ग्रहण कर आत्मा तक पहुँचाता है। तदनन्तर आत्मा उन प्राणों से कार्य करता है जो ऐच्छिक क्रियाओं को करते हैं। ये कर्मेन्द्रियाँ हैं।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जब सूत्रकार ने कहा कि ये पाँच प्राण के व्यवहार वैसे ही हैं जैसे मन के पाँच व्यवहार हैं तो ये योगदर्शन-शास्त्र वाले व्यवहार नहीं।

मन ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव ग्रहण करता है। इस कारण इनको मनोवत् कहा है।

अणुश्च ॥१३॥

अणुः+च।

और अणु है।

इसका अभिप्राय यह है कि ये पाँच प्राण मनोवत् हैं और मन की भाँति अणु (सूक्ष्म) भी हैं।

प्राण कोई पदार्थ नहीं। यह शक्ति है। यह उस शक्ति का अंग है जिससे परमात्मा जगत् में गति उत्पन्न करता है।

यही बात सूत्र २-४-७ में भी लिखी है। वहाँ उस प्राण के विषय में लिखा है जो कर्मेन्द्रियों में कार्य करते हैं। यहाँ शेष प्राणों के लिए लिखा है।

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥१४॥

ज्योतिः+आदि+अधिष्ठानं+तु+तत्+आमननात्।

ज्योतिःआदिचक्षु (ज्ञानेन्द्रियाँ)। तु=तो। अधिष्ठानं=प्राणों के टिकने के स्थान हैं। तत्=इसका। आमननात्=शास्त्र में समर्थन है।

चक्षु, कान, नाक, त्वचा एवं जिह्वा इन पाँच प्राणों के निवास स्थान हैं। ये इन्द्रियाँ प्राण नहीं। प्राणों से बाह्य पदार्थों का ज्ञान मन तक पहुँचता है। वहाँ ये मन में अपने अनुभवों का चित्र चित्रित करते हैं और मन जीवात्मा के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धित होने से वे अनुभव जीवात्मा तक पहुँचा देता है और जीवात्मा बुद्धि से परामर्श कर कर्मेन्द्रियों को प्राणों द्वारा कार्य करने की आज्ञा देता है और कार्य होता है।

इस बात का कि चक्षु आदि देखते नहीं, ये तो केवल माध्यम मात्र हैं, शास्त्र से समर्थन प्राप्त है।

प्रश्न उपनिषद् में यह लिखा है—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ (प्रश्न० ४-९)

अर्थात्—विज्ञानात्मा पुरुष ही देखता है, स्पर्श करता है, सुनता है, सूँघता है, रस लेता है, मनन करता है, बुद्धि का प्रयोग करता है। वह दूसरा अक्षर परमात्मा में स्थित है।

यह जानना रुचिकर होगा कि इस सूत्र के भाष्य में उदयवीर शास्त्री क्या कहते हैं। आप लिखते हैं—

"सूत्र में ज्योति पद अग्नि का पर्याय है और व्याख्याकारों के अनुसार ऐतरेय उपनिषद् के एक सन्दर्भ (१-२-४) की ओर संकेत करता है। ज्योति अथवा अग्नि, वायु आदि पद परमात्मा और भूत तत्त्व दोनों के वाचक होते हैं।"

यहाँ प्राणों का, प्राणी के शरीर में कार्य करने वाली शक्तियों का वर्णन हो रहा है। अग्नि का क्या सम्बन्ध है इस प्राण से ? यह विचारणीय बात है।

आइये, तनिक उस उपनिषद् वाक्य को भी देखें जिधर शास्त्रीजी, इस सूत्र के भाष्य में संकेत करते हैं।

ऐतरेय उपनिषद् (१-२-४) इस प्रकार है—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥

यहाँ अग्नि मुख में प्रवेश कर वाक् होकर मुख में प्रविष्ट हुआ। वायु नासिका में प्रवेश कर प्राण हो जाते हैं। आदित्य चक्षु में प्रवेश कर दृष्टि हो जाता है। दिशः कानों में घुसकर श्रवण हो जाता है। ओषधि, वनस्पतियाँ, त्वचा में घुसकर लोम हो जाती हैं। चन्द्रमा हृदय में घुसकर मन हो जाता है। मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हुई है। जल रेतस् होकर लिङ्ग स्थान में चला गया।

इस उद्धरण का क्या सम्बन्ध है सूत्र के साथ, यह तो श्री शास्त्रीजी ने बताया नहीं। न ही पूरे दूसरे मन्त्र के अर्थ का उन सात प्राणों के साथ सम्बन्ध का वर्णन किया है, जिनका उल्लेख सूत्रकार इस पाद में कर रहा है।

कुछ भी हो, यह उपनिषद् वाक्य है। इसकी व्याख्या भी स्पष्ट नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन्द्रमा और आपः का सम्बन्ध बताया है हृदय से और रेतस् का शिश्न के साथ। मृत्यु नाभि में कैसे प्रवेश करती है, यह स्पष्ट नहीं।

वास्तविक बात यह है कि क्योंकि स्वामी शंकराचार्य ने यह उद्धरण दिया है, अतः अन्य भाष्यकारों ने मक्खी पर मक्खी मार दी है।

हमारा मत है कि ज्योति आदि अग्नि, वायु आदि के वाचक नहीं हैं। इस मन्त्र में भी ज्योति और अग्नि का समन्वय नहीं मिलता। सूत्र का इस मन्त्र (ऐतरेय० १-२-४) से किसी प्रकार का न सम्बन्ध है, न इस ओर सूत्र में संकेत है। यदि सूत्र के भाव को कोई उपनिषद् वाक्य स्पष्ट करता है तो वह प्रश्न० ४-६ है। इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

प्राण अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति इन्द्रियों में स्थित अवश्य है, परन्तु वे ये इन्द्रियाँ नहीं हैं। वह शक्ति जीवात्मा द्वारा संचालित होती है और जीवात्मा परमात्मा से सम्बद्ध है।

यही है इस सूत्र का अर्थ। चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ इन प्राणों का अधिष्ठान हैं। यह बात शास्त्र से समर्थित है।

प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

प्राणवता + शब्दात्।

प्राण वाले के साथ। ऐसा शास्त्र में कहे जाने से।

इस सूत्र में शब्द प्राणवता मुख्य है। प्राण वाला कौन है? यह निश्चय है कि प्राण का शरीर में अध्यक्ष जीवात्मा है। परन्तु अध्यक्ष का अर्थ यह नहीं कि प्राण वाला वह है। इस विषय में हम इसी पाद के प्रथम सूत्र के भाष्य में बता चुके हैं कि प्राण परमात्मा की शक्ति है। अथर्ववेद ग्यारहवाँ काण्ड का चौथा पूर्ण सूक्त ही प्राणों की व्याख्या करता है। लिखा है कि प्राण परमात्मा की वह शक्ति है जिससे यह चराचर जगत् कार्य कर रहा है। (पाठक इस पाद के प्रथम सूत्र के भाष्य को देख सकते हैं।)

परमात्मा की एक अन्य शक्ति वायु है। वह भीतर से सबका नियमन करती है। प्राण गति उत्पन्न करते हैं। प्राणी में भी गति करने वाली शक्ति परमात्मा की ही है। वैसे वेद के इसी सूक्त में प्राण और वायु पर्याय माने हैं।

इस सन्दर्भ में अथर्ववेद ११-४-१५ पाठनीय है। वेदमन्त्र इस प्रकार है—

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्व० ११-४-१५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(प्राणम् मातरिश्वानम् आहुः) प्राण को मातरिश्वा कहते हैं। (वातः ह प्राणः उच्यते) प्राण को वायु भी कहते हैं। (प्राणे ह भूतं भव्यं च) भूत और भविष्यत् प्राण में प्रतिष्ठित हैं। (प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्) सबकुछ प्राण में प्रतिष्ठित है।

एक अन्य मन्त्र में लिखा है—

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।। (अथर्व० ११-४-१४)

गर्भ के अन्दर भी, श्वास लेता व छोड़ता प्राण से ही है। अभिप्राय यह कि प्राण ईश्वरीय शक्ति है। प्राणी में वह जीवात्मा के अधीन कार्य करती है।

तस्य च नित्यत्वात् ।।१६।।

तस्य+च+नित्यत्वात् ।

और उसके नित्य होने से (प्राण नित्य है)।

प्राण ईश्वरीय शक्ति है। शक्तिमान् के नित्य होने से उसकी शक्ति भी नित्य है।

ऊपर के सूत्र में लिखा है कि प्राणवता ईश्वर है और फिर लिखा है कि उसके (परमात्मा के) नित्य होने से प्राण भी नित्य है।

यह ठीक है कि प्राणी के शरीर में यह आता है और समय पाकर इसको छोड़ जाता है, परन्तु जिसका यह लक्षण है, वह नित्य है। अतः प्राण शक्ति भी नित्य है।

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।।१७।।

ते+इन्द्रियाणि+तद्व्यपदेशात्+अन्यत्र+श्रेष्ठात् ।

वे (प्राण) इन्द्रियाँ हैं। ऐसा कहे जाने से। श्रेष्ठ (मुख्य) प्राणों से पृथक्।

ऊपर जो पाँच प्राणों का वर्णन आया है वह (ज्ञानेन्द्रियों) में कार्य करने वाले प्राणों का कथन है। ये श्रेष्ठ (मुख्य) प्राणों से दूसरे हैं।

भेदश्रुतेः ।।१८।।

इन्द्रियों वाले प्राण और श्रेष्ठ (मुख्य) प्राणों में भेद है। ऐसा श्रुति में वर्णित है।

श्रुति में कहाँ वर्णित है, यह सूत्रों का अर्थ उपनिषदों से लगाने वाले बता नहीं सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी शंकराचार्य प्रमाण देते हैं बृ० उ० १-३-२ का।

वह लिखते हैं—"**भेदेन वागादिभ्यः प्राणः सर्वत्र श्रूयते:—'ते ह वाचमूचुः** (बृ० उ० १-३-२)।

प्राण का वागादि से सर्वत्र भेद से श्रवण होता है। यह उद्धरण है बृ० १-३-२ का। इस उपनिषद् वाक्य में वागादि इन्द्रियों और प्राण में भेद यह बताया है कि सब इन्द्रियों के विषय हैं। जब इन्द्रियों का प्रयोग होता है तो विषयों की तृप्ति भी होती है। विषय इन्द्रियाँ को ग्रस लेते हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ पाप से बद्ध हो जाती हैं। प्राण का कोई विषय नहीं। इस कारण पाप इसको बाँध नहीं सकता।

यहाँ प्राण की श्रेष्ठता अन्य इन्द्रियों पर दिखायी है, परन्तु यह केवल एक पक्ष है। वास्तव में प्राण (फेफड़े के कार्य) में मुख्य विशेषता यह है कि यह मनुष्य की जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्था में निरन्तर चलते रहते हैं। यही उनकी श्रेष्ठता है।

हम मानते हैं कि प्राणी के शरीर में होने वाली अनैच्छिक क्रियाओं में श्रेष्ठ प्राण कार्य करते हैं और इन्द्रियों में सामान्य प्राण हैं। यहीं इन दोनों में भेद है।

वैलक्षण्याच्च ॥१९॥

वैलक्षण्यात्+च

और विलक्षण होने से (वह श्रेष्ठ है)।

मुख्य प्राणों की दूसरे छः प्रकार के प्राणों से विलक्षणता यह है कि जहाँ सामान्य प्राण जीवात्मा और मन के अधीन हैं वहाँ मुख्य प्राण जीवात्मा के अधीन नहीं हैं। वे स्वतः कार्य करते रहते हैं। यद्यपि कार्य तो प्राणी के लिए ही करते हैं परन्तु वे प्राणी के अधीन नहीं है।

(श्रेष्ठ) मुख्य प्राणों में यही विलक्षणता रहती है कि इनका सम्बन्ध सीधा जीवात्मा से रहता है। जब शरीर सुषुप्ति अवस्था में होता है तब भी वे प्राण चलते रहते हैं। कारण यह कि आत्मा सोता नहीं। प्राणी सशरीर जीवात्मा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२०॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः+तु+त्रिवृत्कुर्वतः+उपदेशात् ।

संज्ञा का अर्थ नाम है। मूर्ति से अभिप्राय रूप अथवा शरीर से है। क्लृप्ति से अभिप्राय रचना का है। त्रिवृत्कुर्वतः=तीन वृत्तों में करने वाले से ऐसा कहा गया है।

इसका अर्थ यह है कि सृष्टि-रचना के समय परमात्मा ने तीन-तीन प्रकार की सृष्टि की और उस सृष्टि में रूप बना और फिर नाम भी रखा गया। तीसरे इसमें चेतना आयी अर्थात् गति आयी।

रूप और नाम से वस्तु का अर्थ लिया जाता है।

वैसे तो प्रकरण जन्तुओं में प्राणी का चल रहा है। और इसके तीन वृत्त छन्द शरीर निर्माण, शरीर के अवयवों का नाम भी मन में प्राण जोगति का सूचक है। वैसे जगत् की अन्य वस्तुओं में भी यही तीन वृत्त की प्रक्रिया है।

प्राणों के प्रकरण में इस सूत्र को देने का आशय केवल यह है कि यह भ्रम न हो जाय कि शरीर में प्राण ही कार्य कराने वाला है। प्राण परमात्मा की शक्ति है। जैसे जगत्-रचना में प्रत्येक नाम रूप वाले पदार्थ की रचना परमात्मा करता है। वैसे ही प्राण और शरीर भी ईश्वर के निर्माण किये हुए हैं।

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥२१॥

मांसादि+भौमम्+यथा शब्दम् +इतरयोः+च।

मांसादि से अभिप्राय शरीर में पेशियां (muscles) हैं। भौमम् (पृथिवी) भूत से बनते हैं।

पंचभूतों में मांस के बनाने में विशेष कार्य पृथिवी भूत का है। इसमें पृथिवी के अतिरिक्त भी भूत हैं। उनमें से (इतरयोः) दो से शरीर का वह भाग बनता है (यथा शब्दं) जैसा शास्त्र में वर्णन किया है। ये दोनों भूत कौन से हैं? जल और अग्नि हैं। अग्नि से प्राणों का निर्माण होता है जो शरीर को जीवित रखने में योगदान करते हैं।

खाये अन्न के एक भाग से शरीर का निर्माण होता है। दूसरा तेज (energy) होता है।

भौमम् का अर्थ, भूमि से उत्पन्न होने के कारण अन्न भी है।

अतः सूत्रार्थ इस प्रकार है कि भूमि से उत्पन्न अन्न से मांसादि बनते हैं। मांसादि से अभिप्राय शरीर है। इस अन्न के एक अंश से मांस बना, दूसरे अंशों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से वही समझो जैसा कि शास्त्र में वर्णन किया है। अर्थात् प्राण। अन्न में प्राण-शक्ति परमात्मा से ही आती है।

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२॥

वैशेष्यात्+तु+तद्वादः+तद्वादः ॥

विशेषों के विषय में ही यह बात कही गयी है। यह मत कहा गया है।

विशेषों का अर्थ हम इस प्रकरण के आरम्भ में बता चुके हैं। सृष्टि-क्रम में अहंकारों के उपरान्त जो क्रम है, वे विशेष कहलाते हैं। यह प्राण और प्राणी का शरीर विशेषों से ही सम्बन्ध रखता है। अतः सूत्रकार का यह मत है कि अन्न में शक्ति परमात्मा की है। यह सृष्टि-रचना के समय तेज के रूप में आती है। यही अन्न जब खाया जाता है तो तेज प्राण में बदल जाता है। यह कथन विशेषों के विषयों में ही है।

विशेषों से अभिप्राय है पंच महाभूत।

□□

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्राणामनुक्रमणिका

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
अ		
अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ।।	(२-२-८)	३०२
अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयते एके ।।	(२-३-४३)	३५९
अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ।।	(२-४-११)	३८१
अणवश्च ।।	(२-४-७)	३७९
अणुश्च ।।	(२-४-१३)	३८५
अत एव च नित्यत्वम् ।।	(१-३-२९)	२००
अत एव न देवता भूतंच ।।	(१-२-२७)	१५९
अत एव प्राणः ।।	(१-१-२३)	११०
अत्ता चराचरग्रहणात् ।।	(१-२-९)	१३८
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।।	(१-१-१)	२९
अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।।	(१-२-२१)	१५१
अदृष्टानियमात् ।।	(२-३-५१)	३७०
अधिकं तु भेदनिर्देशात् ।।	(२-१-२२)	२८५
अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।।	(२-२-३९)	३२८
अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।।	(१-२-१७)	४३, १४४
अनुकृतेस्तस्य च ।।	(१-३-२२)	१८७
अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ।।	(२-३-४८)	३६८
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।।	(१-२-३)	१२९
अनुस्मृतेर्बादरिः ।।	(१-२-३०)	१६०
अनुस्मृतेश्च ।।	(२-२-२५)	३२१
अन्तर उपपतेः ।।	(१-२-१३)	१४२
अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ।।	(२-३-१५)	३४३
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।।	(१-२-१८)	१४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।।	(२-२-४१)	३२९
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।।	(१-१-२०)	१०७
अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ।।	(२-२-३६)	३२७
अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ।।	(२-२-९)	३०३
अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।।	(१-३-१२)	१७७
अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।।	(२-२-५)	३०१
अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ।।	(१-४-१८)	२३०
अन्यार्थश्च परामर्शः ।।	(१-३-२०)	१८६
अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ।।	(२-२-१७)	३१४
अपि च स्मर्यते ।।	(१-३-२३)	१८८
अपि च स्मर्यते ।।	(२-३-४५)	३६३
अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ।।	(२-१-८)	२६५
अभिध्योपदेशाच्च ।।	(१-४-२४)	२३९
अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।।	(२-१-५)	४३, २६३
अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।।	(१-२-२९)	१६०
अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ।।	(२-३-५२)	३७२
अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ।।	(२-२-६)	३०१
अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ।।	(१-२-७)	१३५
अल्पश्रुतेरिति चेतदुक्तम् ।।	(१-३-२१)	१८७
अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ।।	(२-३-२४)	३४८
अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।।	(१-४-२२)	२३४
अविरोधश्चन्दनवत् ।।	(२-३-२३)	३४८
अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ।।	(२-१-२३)	२८७
असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ।।	(२-२-२१)	३१५
असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।।	(२-१-७)	२६४
असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ।।	(२-१-१७)	२७९
असन्ततेश्चाव्यतिकरः ।।	(२-३-४९)	३६९
असम्भवस्तु सन्तोऽनुपपतेः ।।	(२-३-९)	३३९
अस्ति तु ।।	(२-३-२)	३३१
अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्त्रि ।।	(१-१-१९)	१०४
अक्षरमम्बरान्तधृतेः ।।	(१-३-१०)	१७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
आ		
आकाशस्तल्लिङ्गात् ।।	(१-१-२२)	१०७
आकाशे चाविशेषात् ।।	(२-२-२४)	३२०
आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।।	(१-३-४१)	२१०
आत्मकृतेः परिणामात् ।।	(१-४-२६)	२४०
आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ।।	(२-१-२८)	२९१
आनन्दमयोऽभ्यासात् ।।	(१-१-१२)	८५
आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूप-कविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।।	(१-४-१)	२१२
आपः ।।	(२-३-११)	३४०
आभास एव च ।।	(२-३-५०)	३६९
आमनन्ति चैनमस्मिन् ।।	(१-२-३२)	१६१
इ		
इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ।।	(१-३-१८)	१८४
इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।।	(२-१-२१)	२८४
इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रत्वात् ।।	(२-२-१९)	३१५
इतरेषां चानुपलब्धेः ।।	(२-१-२)	२५६
ई		
ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ।।	(१-३-१३)	१७७
ईक्षतेर्नाशब्दम् ।।	(१-१-५)	६१
उ		
उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ।।	(१-४-२१)	२३३
उत्क्रांतिगत्यागतीनाम् ।।	(२-३-१९)	३४६
उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।।	(१-३-१९)	१८५
उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ।।	(२-२-२०)	३१५
उत्पत्त्यसम्भवात् ।।	(२-२-४२)	३२९
उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ।।	(२-२-२७)	३२२
उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।।	(१-१-२७)	११५
उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।।	(२-१-३६)	२९४
उपलब्धिवदनियमः ।।	(२-३-३७)	३५७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
उपादानात् ॥	(२-३-३५)	३५६
उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥	(२-१-२४)	२८७
उभयथा च दोषात् ॥	(२-२-१६)	३१२
उभयथा च दोषात् ॥	(२-२-२३)	३१९
उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥	(२-२-१२)	३०५

ए

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥	(२-३-८)	३३८
एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥	(२-१-३)	२५९
एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥	(२-१-१२)	२७२
एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥	(१-४-२८)	२४१
एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् ॥	(२-२-३४)	३२६

क

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥	(२-२-४०)	३२८
कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥	(२-३-३३)	३५५
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥	(१-२-४)	१३०
कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥	(१-४-१०)	२२२
कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥	(१-१-१८)	१०२
कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥	(१-४-१४)	२२६
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥	(२-३-४२)	३५९
कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपोवा ॥	(२-१-२६)	२८८

ग

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिंग च ॥	(१-३-१५)	१८२
गतिसामान्यात् ॥	(१-१-१०)	८२
गुणाद्वा लोकवत् ॥	(२-३-२५)	३४८
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥	(१-२-११)	४२, १३९
गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥	(१-१-६)	७३
गौण्यसम्भवात् ॥	(२-३-३)	३३३
गौण्यसम्भावात् ॥	(२-४-२)	३७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
च		
चमसवदविशेषात् ॥	(१-४-८)	२२०
चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥	(२-३-१६)	३४३
चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥	(२-४-१०)	३८०
छ		
छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥	(१-१-२५)	११२
ज		
जगद्वाचित्वात् ॥	(१-४-१६)	२२८
जन्माद्यस्य यतः ॥	(१-२-२)	३४
जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥	(१-४-१७)	२२९
जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात ॥	(१-१-३१)	१२०
ज्योतिराद्य धिष्ठानं तु तदामननात् ॥	(२-४-१४)	३८५
ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥	(१-४-९)	२२१
ज्योतिर्दर्शनात् ॥	(१-३-४०)	२१०
ज्योतिश्चरणाभिनात् ॥	(१-१-२४)	१११
ज्योतिषि भावाच्च ॥	(१-३-३२)	२०३
ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥	(१-४-१३)	२२५
त		
त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥	(२-४-१७)	३८८
तत्तु समन्वयात् ॥	(१-१-४)	५१
तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥	(२-४-४)	३७७
तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥	(२-४-३)	३७६
तथा च दर्शयति ॥	(२-३-२७)	३५०
तथा प्राणाः ॥	(२-४-१)	३७३
तदधीनत्वादर्थवत् ॥	(१-४-३)	२१५
तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥	(२-१-१४)	२७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ।।	(१-३-३७)	२०९
तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ।।	(२-३-१३)	३४१
तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ।।	(१-३-२६)	१९४
तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।।	(२-३-२९)	३५१
तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।।	(१-१-१४)	९६
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।।	(१-१-७)	७५
तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः ।।	(२-१-११)	२६८
तस्य च नित्यत्वात् ।।	(२-४-१६)	३८८
तेजोऽतस्तथः ह्याह ।।	(२-३-१०)	३३९

द

दहर उत्तरेभ्यः ।।	(१-३-१४)	१८०
देवादिवदपि लोके ।।	(२-१-२५)	२८८
दृश्यते तु ।।	(२-१-६)	२६१
द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।।	(१-३-१)	१६४

ध

धर्मोपपत्तेश्च ।।	(१-३-९)	१७५
धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।।	(१-३-१६)	१८२

न

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ।।	(२-१-३५)	२९४
न च कर्त्तुः करणम् ।।	(२-२-४३)	३२९
न च पर्यायादप्यविरोधी विकारादिभ्यः ।।	(२-२-३५)	३२७
न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापाद् ।।	(१-२-१९)	१४५
न तु दृष्टान्तभावात् ।।	(२-१-९)	२६५
न प्रयोजनवत्त्वात् ।।	(२-१-३२)	२९३
न भावोऽनुपलब्धेः ।।	(२-२-३०)	३२४
न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ।।	(१-१-२९)	११८
न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।।	(२-४-९)	३८०
न वियदश्रुते ।।	(२-३-१)	३३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।।	(२-१-४)	४२, २६१
न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।।	(१-४-११)	२२२
नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।।	(२-३-२१)	३४६
नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।।	(२-३-१७)	३४४
नानुमानमतच्छब्दात् ।।	(१-१-३)	१६७
नाभाव उपलब्धे ।।	(२-२-२८)	३२२
नासतोऽदृष्टत्वात ।।	(२-२-२६)	३२२
नित्यमेव च भावात् ।।	(२-२-१४)	३०६
नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ।।	(२-२-३२)	३५४
नेतरोऽनुपपत्तेः ।।	(१-१-१६)	९९
नैकस्मिनसंभवात् ।।	(२-२-३३)	३२६

प

पटवच्च ।।	(२-१-१९)	२८०
पञ्चवृतिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ।।	(२-४-१२)	३८२
पत्यादिशब्देभ्यः ।।	(१-३-४३)	२११
पत्युरसामञ्जस्यात् ।।	(२-२-३७)	३२८
पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ।।	(२-२-३)	२९९
परात्तु तुच्छ्रुतेः ।।	(२-३-४१)	३५८
पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ।।	(२-३-३१)	३५३
पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ।।	(२-२-७)	३०३
पृथगुपदेशात् ।।	(२-३-२८)	३५१
पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ।।	(२-३-१२)	३४०
प्रकरणाच्च ।।	(१-२-१०)	१३९
प्रकरणात् ।।	(१-३-६)	१७२
प्रकाशादिवन्नैवं परः ।।	(२-३-४६)	३६५
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।।	(१-४-२३)	२३५
प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ।।	(२-२-२२)	३१७
प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्य ।।	(२-३-६)	३३४
प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ।।	(२-३-५३)	३७३
प्रवृत्तेश्च ।।	(२-२-२)	२९७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
प्रसिद्धेश्च ॥	(१-३-१७)	१८३
प्राणवता शब्दात् ॥	(२-३-१५)	३८७
प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥	(१-१-२८)	११७
प्राणः कम्पनात् ॥	(१-३-३९)	२१०
प्राणदयो वाक्यशेषात् ॥	(१-४-१२)	२२४
प्राणाभृच्च ॥	(१-३-४)	१७०
प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥	(१-४-२०)	२३१

भ

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥	(१-३-३३)	२०४
भावे चोपलब्धेः ॥	(२-१-१५)	२७७
भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥	(१-१-२६)	११४
भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥	(१-३-८)	१७५
भेदव्यपदेशाच्च ॥	(१-१-१७)	१०२
भेदव्यपदेशाच्चान्य ॥	(१-१-२१)	१०७
भेदव्यपदेशात् ॥	(१-३-५)	१७१
भेदश्रुतेः ॥	(२-४-१८)	३८८
भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥	(२-१-१३)	२७४

म

मन्त्रादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥	(१-३-३१)	२०१
मन्त्रवर्णाच्च ॥	(२-३-४४)	३६२
महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥	(२-२-११)	३०४
महद्वच्च ॥	(१-४-७)	२१९
मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥	(१-१-१५)	९६
मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥	(२-४-२१)	३९०
मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥	(१-३-२)	१६६

य

यथा च तक्षोभयथा ॥	(२-३-४०)	३५८
यथा च प्राणादि ॥	(२-१-२०)	२८२
यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥	(२-३-३०)	३५२
यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥	(२-३-७)	३३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥	(२-१-१८)	२८०
योनिश्च हि गीयते ॥	(१-४-२७)	२४०
र		
रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥	(२-२-१)	२९६
रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥	(२-२-१५)	३०७
रूपोपन्यासाच्च ॥	(१-२-२३)	१५३
ल		
लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥	(२-१-३३)	२९३
व		
वदतीत चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥	(१-४-५)	२१७
वाक्यान्वयात् ॥	(१-४-१९)	२३०
विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥	(२-१-३१)	२९२
विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥	(१-१-१३)	९४
विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥	(२-३-१४)	३४२
विप्रतिषेधाच्च ॥	(२-२-४५)	३३०
विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥	(२-२-१०)	३०४
विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥	(१-३-२७)	१९६
विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥	(१-२-२)	१२६
विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥	(१-२-२२)	१५२
विशेषणाच्च ॥	(१-२-१२)	४२, १४१
विहारोपदेशात् ॥	(२-३-३४)	३५५
विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥	(२-२-४४)	३२९
वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥	(२-२-२९)	३२३
वैलक्षण्याच्च ॥	(२-४-१९)	३८९
वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥	(२-४-२२)	३९१
वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥	(१-२-२४)	१५४
वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥	(२-१-३४)	२९३
व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥	(२-२-४)	३००
व्यतिरेको गन्धवत् ॥	(२-३-२६)	३४९
व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥	(२-३-३६)	३५६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
श		
शक्तिविपर्ययात् ॥	(२-३-३८)	३५७
शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥	(१-३-२८)	१९८
शब्दविशेषात् ॥	(१-२-५)	१३१
शब्दाच्च ॥	(२-३-४)	३३४
शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ॥	(१-२-२६)	१५७
शब्दादेवप्रमितः ॥	(१-३-२४)	१९०
शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥	(१-२-२०)	१४६
शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥	(१-१-३०)	१२०
शास्त्रयोनित्वात् ॥	(१-१-३)	४४
शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥	(१-३-३४)	२०५
श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥	(१-३-३८)	२०९
श्रुतत्वाच्च ॥	(१-१-११)	८५
श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥	(२-१-२७)	२८९
श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥	(१-२-१६)	१४३
श्रेष्ठश्च ॥	(२-४-८)	३७९
स		
संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥	(१-२-३१)	१६१
संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥	(१-२-८)	१३६
संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥	(१-३-३६)	२०९
संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥	(२-४-२०)	३९०
सत्त्वाच्चावरस्य ॥	(२-१-१६)	२७८
सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥	(२-४-५)	३७७
समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥	(२-२-१३)	३०५
समाकर्षात् ॥	(१-४-१५)	२२७
समाध्यभावाच्च ॥	(२-३-३९)	३५७
समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥	(१-३-३०)	२००
समुदाये उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥	(२-२-१८)	३१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥	(२-२-३८)	३२८
सर्वथानुपपत्तेश्च ॥	(२-२-३२)	३२५
सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥	(२-१-३७)	२९५
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥	(१-२-१)	१२४
सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥	(२-१-३०)	२९२
सा च प्रशासनात् ॥	(१-३-११)	१७६
साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥	(१-४-२५)	२३९
साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥	(१-२-२८)	१५९
सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥	(१-२-१५)	१४३
सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥	(१-३-४२)	२११
सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥	(१-४-२)	२१४
स्थानादिव्यदेशाच्च ॥	(१-२-१४)	१४२
स्थित्यदनाभ्यां च ॥	(१-३-७)	१७३
स्मरन्ति च ॥	(२-३-४७)	३६७
स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥	(१-२-२५)	१५५
स्मृतेश्च ॥	(१-२-६)	१३२
स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनव-काशदोप्रसङ्गात् ॥	(२-१-१)	४२, २५३
स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥	(२-३-५)	३३४
स्वपक्षदोषाच्च ॥	(२-१-१०)	२६६
स्वपक्षदोषाच्च ॥	(२-१-२९)	२९१
स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥	(२-३-२२)	३४७
स्वात्मना चोत्तरयोः ॥	(२-३-२०)	३४६
स्वाप्ययात् ॥	(१-१-९)	७९

ह

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥	(२-४-६)	३७७
हेयत्वावचनाच्च ॥	(१-१-८)	७७
हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥	(१-३-२५)	१९२,२०५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
क्ष		
क्षणिकत्वाच्च ॥	(२-२-३१)	३२५
क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥	(१-३-३५)	२०८
त्र		
त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥	(१-४-६)	२१७
ज्ञ		
ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥	(१-४-४)	२१६
ज्ञोऽत एव ॥	(२-३-१८)	३४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाणामनुक्रमणिका

अ

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
अकार्थत्वेऽपि तद्योगः	(सांख्य० ३-५५)	६४
अग्निर्वाभूत्वा मुखं	(ऐत० १-२-४)	३८६
अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं	(मनु० १-२३)	६८
अचेतनत्वेपि क्षीरवच्चेष्टितं	(सांख्य० ३-५६)	६४
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां	(श्वे० ४-५) ७१,२२३,	२७८
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते	(श्वे० ४-५)	२७८
अथ यदतः परो दिवो	(छा० ३-१३-७)	११२
अथ ह प्राणा	(छा० ५-१-६)	३८४
अनित्यइतिविशेषतः	(वै० द० ४-१-४)	३०६
अनेकद्रव्यसमवायात्	(वै० द० ४-१-८)	३१०
अन्धन्तमः प्रविशन्ति	(यजु० ४०-१२)	५६
अन्यदेवाहुर्विद्याया	(यजु० ४०-१३)	५६
अपाङ् प्राङेति स्वधया	(ऋ० १-१६४-३८)	१३१
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं	(भ० गी० ७-५)	७६
अयं होता प्रथमः	(ऋ० ६-६-४)	११२
अरूपिष्वचाक्षुषाणि ।।	(वै० द० ४-१-१२)	३११
अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः	(बृ० उ० २-२-३)	२२१
अविद्या ।।	(वै० द० ४-१-५)	३०६
अविद्यामाहुरव्यक्ते	(महा भा० शा० ३०७-२)	५६
अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां	(महा भा० शा० ३०६-२७)	२५७
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो	(कठो० २-४-८)	३५१
असंशयं समग्रं मां यथा	(भ० गी० ७-१)	७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
असद्वा इदमग्र आसीत् ।	(तैत्ति० २-७-१)	९१, १०१
असौ वा आदित्यो देवमधु ।	(छा० ३-१-१)	२०२
अस्मिन् महामोहमये	(महा भा० वन० २१३-११८)	१२६
अस्य वामस्य पलिनस्य···	(ऋ० १-१६४-१)	१४३
अहङ्कारस्तु महत—	(महा भा० शा० ३०६-२८)	२५७

आ

आकाशाद्वायु: । वायोरग्नि: ।	(तैति० २-१)	३३७
आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता	(छा० ८-१४-१)	१२८
आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि	(ऋ० ६-२२-८)	५४
आतिष्ठन्तं परि विश्वे	(ऋ० ३-३८-४)	२३१
आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे	(वै० द० ३-२-१)	३४५
आ धावता सुहस्त्य:	(ऋ० ९-४६-४)	२१४
आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्	(मनु० १-५)	१०९,२८५

इ

इदं ते नातपस्काय	(भ० गी० १८-६७)	२०९
इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं	(न्याय० १-१-४)	३५
इन्द्रियेभ्य: परं मनो	(कठो० २-३-७)	३५१

ई

ईदृशेश्वरसिद्धि: सिद्धा ।।	(सां० ३-५७)	६४, १८९, २५६
ईशावास्यमिदँ सर्वम्···	(ईशा० १०-१)	१९१
ईशेशितव्यम्बन्ध: (सुरेश्वराचार्य उद्धृत सत्यानन्दी दीपिका पृष्ठ ५२७)		३६३
ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।।	(योग० १-२३)	२६०
ईश्वर: सर्वभूतानां	(भ० गी० १८-६१)	१३२,३५८

उ

उत स्वया तन्वा संवदे	(ऋ० ७-८६-२)	१०६
उत्तम: पुरुषस्त्वन्य:	(भ० गी० १५-१७)	४३
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म	(श्वे० १-७)	४२, ६९, १६९, १९०
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता	(भ० गी० १३-२२)	४२
उपरागात् कर्तृत्वंचित्···	(सां० १-१६४)	६५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
ऋ		
ऋचो अक्षरे परमे···	(ऋ० १-१६४-३९)	१०९,३३३
ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके	(कठो० १-३-१)	४४, ८५, १३९
ए		
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं	(मनु० ८-९१)	१३२
एको हि रुद्रो न	(श्वे० ३-२)	८३
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं	(श्वे० १-१२)	७०
एतद्योनीनि भूतानि	(भ० गी० ७-६)	५१, ७६
एतस्माज्जायते प्राणो मनः	(मुण्डको० २-१-३)	१९८,३७६
एताः प्रकृतयश्चाष्टौ	(महा भा० शा० ३०६-२९)	२५७
एतेन गुणत्वे भावे च	(वै० द० ४-१-१३)	३११
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा	(भ० गी० ३-४३)	१४५
एवमेवैष एतत्प्राणान्	(बृ० २-१-१८)	३५५
एष आदेशः । एष उपदेशः ।	(तैत्ति० १-११-४)	८७
एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा···	(प्रश्न० ५-९)	२३४,३८६
एषोणुरात्मा चेतसा	(मुण्डको० ३-१-९)	३४७
ओ		
ओं ब्रह्मविदाप्नोति परम्	(तैत्ति० २-१)	८७
ओ३म् । आत्मा वा इदमेक	(ऐत० १-१-१)	७४
ओमित्येतकाक्षरं ब्रह्म	(भ० गी० ८-१३)	१८८,२५४
ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं	(माण्डूक्य० १)	९५, ११५
औदासीन्यं चेति ।।	(सां० १-१६३)	६५
क		
कस्त्वा सत्यो मदानां	(ऋ० ४-३१-२)	९७
कारणाभावात् कार्याभावः ।।	(वै० द० ४-१-३)	३०९
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः	(भ० गी० १३-२०)	४२
कुतस्तु खलु सोम्यैव	(छान्दो० ६-२-२)	६६
कुर्वन्नेवेह कर्माणि	(यजु० ४०-२)	३५५
ग		
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता	(श्वे० ५-७)	३५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
ज		
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः	(भ० गी० १३-१७)	११२
त		
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो	(मनु० १-६)	१०६
तद्य इहात्मानमननुविद्य	(छा० ८-१-६)	१८१
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति	(छान्दो० ६-२-३)	६६, २३८
तद्धेदं तर्ह्यं व्याकृतमासी	(बृ० उ० १-४-७)	२१५
तपः स्वाध्यायेश्वर	(योग० २-१)	२६०
तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं	(मनु० १-५५)	१३३
तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमया—	(तैत्ति० ३-१)	८६
तस्माद्वा एतस्मादात्मन	(तैत्ति० २-१)	८७, ३३६, ३३६
तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमया—	(तैत्ति० २-२)	८६
तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमया—	(तैत्ति० ५-१)	८६
तस्मै स होवाच।	(प्रश्न० ५-२)	१७६
तस्य कार्यलिङ्गम् ॥	(वै० द० ४-१-२)	३०८
तस्याभावादव्यभिचारः ॥	(वै० द० ४-१-१०)	३११
ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः	(छा० ६-४-२)	२३८
तावानस्य महिमा ततो	(छा० ३-१२-६)	३६३
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा	(यजु० ४०-१)	३५६
तेन रसगन्धस्पर्शेषु	(वै० द० ४-१-६)	३१०
त्वष्टा दुहित्रेवहतुं	(ऋ० १०-१७-१)	२५८
द		
…दशेमे पुरुषे प्राणा	(बृ० ३-६-४)	३७८
द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्नि—	(सांख्य १-८७)	३४
द्वाविमौ पुरुषौ लोके	(भ० गी० १५-१६)	४३
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया	(ऋ० १-१६४-२०) (मुण्डको० ३-१-१) (श्वे० ४-५-६)	४१, ७१, २२३, ३६२
ध		
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः	(मनु० १२-१०६)	२७२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
न		
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं	(भ० गी० ३-४)	६०
न कारणलयात्	(सांख्य ३-५४)	६४
च जायते म्रियते वा	(भ० गी० २-२०)	३३४
न तस्य कार्यं करणं च	(श्वे० ६-८)	२३१
नमस्कृत्वा च गुरवे	(महा भा० शा० ३५०-४)	११
नमस्ते प्राण प्राणते	(अथर्व० ११-४-८)	३७४
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि	(ऋ० १०-१२९-२)	८४, ३८३
न वि जानामि यदि	(ऋ० १-१६४-३७)	१३१
न हि कश्चित्क्षणमपि	(भ० गी० ३-५)	६०
नित्य मुक्तत्वम् ॥	(सां० १-१६२)	६५
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म	(भ० गी० ३-८)	६०
प		
परि विश्वा भुवनान्या—	(अथर्व० २-१-५)	९७
परीत्य भूतानि परीत्य	(यजु० ३२-११)	८०, १०६, १९१
पुण्डरीकं नवद्वारं	(अथर्व० १०-८-४३)	४१
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि	(भ० गी० १३-२१)	४२, २३५
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा	(श्वे० १-६)	८६
प्रकृतिं पुरुषं चैव	(भ० गी० १३-१९)	४२
प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञान	(सांख्य १-१००)	३५
प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः	(न्याय १-१-३)	३४
प्रधानसृष्टिः परार्थं	(सांख्य ३-५८)	६४
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं	(भ० गी० १८-३०)	३२
प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्	(न्याय १-१-७)	३५
प्राणामाहुर्मातरिश्वानं	(अथर्व० ११-४-१५)	३८७
प्राणापाननिमेषोन्मेष—	(वै० द० ३-२-४)	३४५
प्राणाय नमो यस्य	(अथर्व० ११-४-१)	११०, ११९, ३७४
प्राणो विराट् प्राणो	(अ० ११-४-१२)	३७६
ब		
बहवः पुरुषा लोके	(महा भा० शा० ३५०-२)	११
बहूनां पुरुषाणां च	(महा भा० शा० ३५०-३)	११
बालाग्रशतभागस्य शतधा	(श्वे० ५-९)	३५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
भ		
भूमिरापोऽनलो वायुः	(भ० गी० ७-४)	७६
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं	(श्वेता० १-१२)	११६
म		
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति	(भ० गी० ७-७)	५१
ममैववांशो जीवलोके जीवभूतः	(भ० गी० १५-७)	३६४
मम योनिर्महद्ब्रह्म	(भ० गी० १४-३)	२५७
महत्यनेकद्रव्यवत्त्वा—	(वै० द० ४-१-६)	३०९
य		
य आत्मापहतपाप्मा विजरो	(छा० ८-७-१)	१२८
य एवं वेत्ति पुरुषं	(भ० गी० १३-२३)	२३५
य एको जालवानीशत	(श्वे० ३-१)	८३
यच्छद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्त —	(कठो० १-३-१३)	३५१
यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं	(यजु० ३४-१)	१११
यतो वाचो निवर्तन्ते।	(तैत्ति० ४-१)	८९
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य	(तैत्ति० २-९)	९३
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः	(भर्तृहरि)	२७०
यथा नद्यः स्यन्दमानाः	(मुण्डको० ३-२-८)	१९०
यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं	(छा० ६-१-६)	२३७
यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन	(छा० ६-१-४)	२३७
यथा सोम्यैकेन लोहमणिना	(छा० ६-१-५)	२३७
यथा ह्येवैष एतस्मिन्न—	(तैत्ति० ७-१)	१०४
यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि	(यजु० २६-२)	२०२
यदाणुमात्रिको भूत्वा	(मनु० १-५६)	१३३
यदिदं किंच जगत्सर्वं	(कठो० २-३-२)	११०
यस्मादृचो अपातक्षन्य—	(अथर्व० १०-७-२०)	५६, ९८
यस्मिन् द्यौः पृथिवी	(मुण्डको० २-२-५)	१७२
यस्मिन्पञ्च पञ्चजना	(बृ० उ० ४-४-१७)	२२४
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र	(भ० गी० ३-९)	६०
युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा	(मनु० १-५४)	१३२
येऽन्नं ब्रह्मोपासते।	(तैत्ति० २-२)	८८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं	(छा० ६-१-३)	२३७
ये प्राणं ब्रह्मोपासते।	(तैत्ति० ३-१)	८९
यो अस्य सर्वजन्मन	(अथर्व० ११-४-२४)	३७६
यो ब्रह्माणं विदधाति	(श्वे० ६-१८)	९८
यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञाना—	(बृ० ३-७-२२)	१४८
यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं	(छा० ५-१-१)	३८३
यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्ये—	(प्रश्नो० ५-५)	१७९
यः प्राणतो निमिषतो	(ऋ०.१०-१२१-३)	३५८
यत्र सुप्तो न कंचन कामं	(माण्डू० ५)	९५
व		
वायुरनिलममृतमथेदं	(यजु० ४०-१५)	१८९
विद्यां चाविद्यां च	(यजु० ४०-१४)	५९
विधुं दद्राणं समने बहूनां	(ऋ० १०-५५-६)	३६२
विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र	(ऋ० १-१५४-१)	१९०
विश्वस्मा अग्निं भुवनाय	(ऋ० १०-८८-१२)	१५८
···वेदवा अहं गौतम	(बृ० उ० ३-७-१)	३८०
वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा	(यजु० २३-८)	४१, ९७
वैश्वानरं कवयो	(ऋ० १०-८८-१३)	१५८
वैश्वानरः कस्यात् ?	(निरुक्त ७-२०-२१)	१५९
श		
शरीरं यदवाप्नोति	(भ० गी० १५-८)	३६४
स		
स एको मानुष आनन्दः	(तैत्ति० ८-१)	९२
सत्यं वद धर्मं चर	(तैत्ति० १-११-१)	३५९
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म	(तैत्ति० २-१)	८७
सत्यपिद्रव्यत्वे महत्त्वे	(वै० द० ४-१-७)	३१०
सत्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि	(कठो० १-१-१३)	२१८
सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था	(सांख्य १-६१)	५१, ६३, २२७
सदकारणवन्नित्यम् ॥	(वै० द० ४-१-१)	३०८
सदेव सोम्येदमग्र	(छान्दो० ६-२-१)	६६
स पर्यगाच्छुक्र···	(यजु० ४०-८)	३०, ५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
समाने वृक्षे पुरुषो	(श्वे० उ० ४-७)	२२३
सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते	(श्वे० १-६)	४१, ६९
स वा एष पुरुषोऽन्न—	(तैत्ति० २-१)	८८
स ह द्वादशवर्ष उपेत्य	(छा० ६-१-२)	२३७
स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥	(सां० ३-५६)	६४, १८९, २५६
स होवाच वायुर्वै गौतम—	(बृ० उ० ३-७-२)	३८०
सा विश्वायुः सा	(यजु० १-४)	१९१
साक्षात् सम्वन्वान् साक्षित्वम् ।	(सां० १-११)	६५
सिँ ह्यसि स्वाहा	(यजु० ५-१२)	५४
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य	(कठो० २-२-११)	३६७
सैषानन्दस्य मीमांसा	(तैत्ति० ८-१)	१०३
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सि—	(मनु० १-८)	६५, २८६, २५८
संख्याः परिमाणानिपृथक्त्वं	(वै० द० ४-१-११)	३११
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च	(श्वे० १-८)	६९
सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं	(महा भा० शा० ३०७-१)	५९
स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्	(यजु० ४०-८)	५६

ह

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे	(यजु० १३-४)	८४
ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता	(श्वे० १-९)	३१४

क्ष

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः	(श्वेता० १-१०)	७०, ११६

ज्ञ

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं	(भ० गी० ७-२)	७५
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा	(श्वेता० १-९)	७०, ११६

□□

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास एवं ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित प्रकाशन

तेजपाल सिंह धामा की रचनाएं

गुरु गोबिन्द सिंह
महारानी दुर्गावती
रानी अवन्तीबाई एवं **1857** की क्रान्ति
शेरे पंजाब महाराजा रणजीत सिंह
हमारी विरासत — अर्थात दिव्य **भारत का गौरवशाली इतिहास**
मनुर्भव — अर्थात् विजयी विश्व हिन्दुत्व हमारा
अजेय अग्नि — अर्थात महारानी कर्मदेवी की शौर्यगाथा
अग्नि की लपटें — अर्थात महारानी पदमिनी की बलीदान गाथा
पृथ्वीराज चौहान एक पराजित विजेता
अखण्ड आर्यवर्त — अर्थात **चन्द्रगुप्त चाणक्य** कथा
पंक से पंकज — अर्थात **महर्षि वाल्मिकी** कथामृत
नल नील अभियान "श्री राम सेतु निर्माण"
गौ का गोरव — गॉय का विश्वकोष

वीर सावरकर साहित्य

हिन्दुत्व के पंच प्राण
हिन्दुत्व
क्रान्ति के नक्षत्र
मोपला — मोपला विद्रोह कथा
गोमांतक — पुर्तगालीयों द्वारा गोमांतक (गोवा) भूमि पर जघन्य अत्याचार की कथा
प्रतिशोध — मरहटों द्वारा पानीपत पराजय के प्रतिशोध पर आधारित
अमर सेनानी सावरकर — शिवकुमार गोयल
महामना सावरकर — हरि बाबू देसाई

बलराज मधोक की रचनाएं

पाकिस्तान का आदि और अंत
कश्मीर जीत में हार
कश्मीर जीत या हार
जिन्दगी का सफर लद्दाख से दिल्ली
जिन्दगी का सफर स्वतन्त्र भारत की राजनीति का संक्रमण काल
जिन्दगी का सफर दीनदयाल उपाध्याय की हत्या से इन्दिरा की हत्या तक
पंजाब समस्या और समाधान
भारत और संसार

www.hindisahityasadan.com
2 वी डी चैम्बर्स, 10/54 डी वी गुप्ता रोड, करोल बाग पुलीस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-05
E-mail : hindisahityasadan@gmail.com Tel : 23553624, 23551344, 9213527666

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गुरुदत्त की इतिहास पर रचनाएं

भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास
इतिहास में भारतीय परम्पराएं

श्री पी एन ओक की खोजपूर्ण रचनाएं

भारत का द्वितीय संग्राम "आज़ाद हिन्द फौज की कहानी"
भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें
क्या भारत का इतिहास भारत के शत्रुओं द्वारा लिखा गया है ?
विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय
ताजमहल मन्दिर भवन है
ताजमहल तेजोमहालय शिव मन्दिर है
भारत में मुस्लिम सुल्तान भाग (2 भाग)
आगरा का लाल किला हिन्दू भवन है
फतहपुर सीकरी हिन्दु नगर है
लखनऊ के इमामबाड़े हिन्दू भवन हैं
दिल्ली का लाल किला लाल कोट है
वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास (4 भाग)
कौन कहता है अकबर महान था ?
हास्यास्पद अंग्रेज़ी भाषा
क्रिश्चियनिटी कृष्ण नीति है
आरोग्य सौन्दर्य तथा दीर्घायु (व्यायाम व सूर्य नमस्कार)
ज्योतिष स्वयं शिक्षक - फल ज्योतिष
Lucknow's Imambaras are Hindu Building
Christianity is Chrisn-Nity
The Taj Mahal Is A Temple Palace
The Taj Mahal is Tejo-Mahalaya : A Shiva Temple
World Vedic Heritage in 2 volumes
Some Missing Chapters Of World History
Some Blunders of Indian Historical Research
Who Says Akbar Was Great ?
Agra Red Fort is a Hindu Building

www.hindisahityasadan.com
2 बी डी चैम्बर्स, 10/54 डी बी गुप्ता रोड, करोल बाग पुलीस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-05
E-mail : hindisahityasadan@gmail.com Tel : 23553624, 23551344, 9213527666

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गुरुदत्त के सर्वाधिक चर्चित रचनाएं

स्वाधीनता के पथ पर (स्वाधीनता आन्दोलन 1930 से 35 का काल)
पथिक (स्वाधीनता आन्दोलन 1935 से 40 का काल)
स्वराज्यदान (स्वाधीनता आन्दोलन 1940 से 46 का काल)
विश्वासघात (स्वाधीनता आन्दोलन 1946 से 47 का काल)
देश की हत्या (स्वाधीनता आन्दोलन 1947 से 48 का काल)
दासता के नए रुप (1948 से 49 का काल)
सदावत्सले मातृभूमे (1949-.... का काल)

श्री गुरुदत्त की समाजिक रचनाएं

अमानत
अनदेखे वन्धन
आवरण
अन्तरिक्ष में
आकाश पाताल
इवलीस
एक मुँह दो हाथ
कला
घर की वात
आशा निराशा
अपने पराए
कामना
गुंठन
चंचरीक
छलना
ज़िन्दगी
जीवन ज्वार
धरती और धन
न्यायाधिकरण
नए विचार नई बातें
नगर परिमोहन
नास्तिक
पंकज
परिमल
परिवर्तन
पड़ोसी
प्रवंचना
प्रतिशोध
प्रारब्ध और पुरुषार्थ
प्रेयसी
प्रेरणा
वन्धन शादी का
भगवान भरोसे
भग्नाश
भाग्य का सम्बल
भावुकता का मूल्य
भूल
भूत और भविष्य
ममता
मायाजाल
मृगतृष्णा
मै न मानूँ
यह संसार
यात्रा का अंत
युद्ध और शान्ति
लालसा
लोक परलोक
विकार
विलोम गति
विकृत छाया
स्वार्थ
सब एक रंग
सभ्यता की ओर
स्नेह का मूल्य
संस्कार
सफलता के चरण
सर्वमंगला
साहित्यकार
सुमति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गुरुदत्त की ऐतिहासिक पुस्तकें

अस्ताचल की ओर (3 भाग)
अवतरण
कुमकुम
खण्डहर बोल रहे हैं (3 भाग)
गंगा की धारा
अमृत मन्थन (राम कथा-1)
परम्परा (राम कथा-2)
अग्नि परीक्षा (राम कथा-3)
जमाना बदल गया (4 भाग)
दो लहरों की टक्कर (2 भाग)
दिग्विजय
पत्रलता
परित्राणाय साधूनाम (महाभारत पर आधारित सम्पूर्ण उपन्यास)
भैरवी चक्र
मेघवाहन
महाकाल
युद्ध और शान्ति
लुढ़कते पत्थर
वाम मार्ग
विक्रमादित्य साहसांक
वैशाली विलय (वहती रेता)
शकराज जयदमन
सागर तरंग

081 167948

श्री गुरुदत्त की राजनीतिक रचनाएं

वर्तमान दुर्व्यवस्था का समाधान..... हिन्दू राष्ट्र
राष्ट्र राज्य और संविधान
हिन्दुत्व की यात्रा
धर्म संस्कृति और राज्य
मनुष्य और समाज
भारत में राष्ट्र
भगनाश
प्रजातंत्र अथवा वर्णाश्रम व्यवस्था
भारत गांधी नेहरु की छाया में
धर्म तथा समाजवाद
बुद्धि वनाम वहुमत
स्व अस्तित्व की रक्षा (2 भाग)
मैं हिन्दू हूँ (राजनैतिक संस्मरण)
भाव और भावना (संस्मरण)
भाग्यचक्र (संस्मरण)

Central Library 167948 Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

www.hindisahityasadan.com
E-mail: indiabooks@rediffmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Access No.		
Class No.		
Cat No.		
Tag etc.		
E.A.R.		
Recomm. by.		
Data Ent. by		
Checked		

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पुस्तकालय
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
वर्ग संख्या R 089.9143 GUR-B आगत संख्या 167948

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

भाग्यचक्र (संस्मरण)
www.hindisahityasadan.com
E-mail: indiabooks@rediffmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Access No.		
Class No.		
Cat No.		
Tag etc.		
E.A.R.		
Recomm. by.		
Data Ent. by		
Checked		

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुदत्त

शिक्षा: एम. एस. सी.

8-12-1894 से 8-4-1989

लेखक की वेद, उपनिषद, दर्शन एवं वैदिक विज्ञान पर प्रमुख रचनाएं

हिन्दी साहित्य सदन
www.hindisahityasadan.com
2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 देश बंधु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110 005. फोन : 9213527666
ई-मेल : indiabooks@rediffmail.com, hindisahityasadan@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar